

जैनतत्त्व सार

(जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा,
बन्ध एवं मोक्ष तत्त्वों का सार संग्रह)

कन्हैयालाल लोढ़ा

प्राकृत भारती पुष्प - 336

जैन तत्त्व सार

(जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष तत्त्वों का सार संग्रह)

कन्हैयालाल लोढ़ा

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्रकाशकः

प्राकृत भारती अकादमी
13-ए, गुरु नानक पथ, मेन मालवीय नगर,
जयपुर-302017
दूरभाष : 0141- 2524827, 2520230

लेखकः

कन्हैयालाल लोढ़ा
82/127, मानसरोवर, जयपुर
दूरभाष - 0141-2785356
मो. 094137-64911

ISBN No. 978-93-81571-38-5

संस्करण : 2015

मूल्य : ₹ 250 /-

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रकः
राज प्रिन्टर्स, जयपुर
मो. 09982066620

जैनतत्त्व सार

लेखक : कन्हैयालाल लोढ़ा / 2014
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

This book is printed on Eco-friendly paper.

प्रकाशकीय

जैन दर्शन में प्रकृति के मूलभूत तत्त्वों के विषय में गहन चिन्तन किया गया है। पारम्परिक साहित्य में तत्त्वों के आध्यात्मिक पहलुओं की चर्चा पर ही अधिक जोर दिया गया है। जैन दर्शन में मानव जीवन की सार्थकता मुक्ति प्राप्ति को बताया है। मुक्ति का अर्थ बन्धनरहित होना अथवा स्वाधीन होना है। जैन धर्म में मुक्ति प्राप्ति या मोक्ष साधना की दृष्टि से नवतत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। आगमानुसार तत्त्वों का विवेचन संक्षिप्त, सरल व सुलभ भाषा में प्रस्तुत किया गया है।

श्री कन्हैयालाल लोढ़ा सा. द्वारा पूर्व में नवतत्त्वों पर जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष सभी पर आगमिक, वैज्ञानिक व्याख्या सहित विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में जैन दर्शन में भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त सभी तत्त्वों को सार रूप में एकत्रित करने का प्रयास किया है, ताकि जो पाठक संक्षिप्त और कम समय में किसी तत्त्व को जानना चाहे तो इस पुस्तक के माध्यम से जान सकते हैं।

प्राकृत भारती अकादमी द्वारा पूर्व में आपकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। लेखक श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा जैन धर्म के मूर्धन्य विद्वान हैं। आप कर्म सिद्धान्त के श्रेष्ठतम विद्वान हैं तथा एक उच्च कोटि के साधक हैं।

हमें आशा है कि लेखक की यह 'जैनतत्त्व सार' पुस्तक भी सुधी पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। प्रकाशन से जुड़े सभी सदस्यों को धन्यवाद!

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

अनुक्रमणिका

	प्राक्कथन	VII
1.	जीव–अजीव तत्त्व	1 – 22
2.	पाप–पुण्य तत्त्व	23 – 63
3.	आस्रव–संवर तत्त्व	64 – 106
4.	निर्जरा तत्त्व	107 – 149
5.	बन्ध तत्त्व	150 – 230
6.	मोक्ष तत्त्व	231 – 271

प्राक्कथन

जैन दर्शन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति में तत्त्वज्ञान का विशेष महत्त्व है। तत्त्वज्ञान में नवतत्त्व कहे हैं:- १. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. निर्जरा, ८. बंध और ९. मोक्ष। यथा:-

जीवाजीवा पुण्णं पावासवसंवरो य निज्जरणा।

बंधो मुक्खो य तहा नवतत्ता हुंति णायव्वा।।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने चेतन-अचेतन का वर्णन 'जीव-अजीव तत्त्व' पुस्तक में, शुभयोग और अशुभयोग के स्वरूप का विवेचन 'पुण्य और पाप तत्त्व' पुस्तक में, अशुभयोग की प्रवृत्ति का विवेचन आस्रव-तत्त्व के रूप में, अशुभ योग के निरोध का विवेचन संवर तत्त्व के रूप में 'आस्रव-संवर तत्त्व' पुस्तक में, अशुभयोग और कषाय से उत्पन्न आस्रव से कर्मबंध होने का विवेचन 'बंध तत्त्व' पुस्तक में, पर पदार्थ के संयोगजनित ममता का संबंध-विच्छेद कर कर्म-क्षय करने का विवेचन 'निर्जरा तत्त्व' पुस्तक में तथा पूर्ण निर्दोष, निष्कलंक, निश्चिन्त, निर्भय, स्वाधीन व परमसुख पाने का विवेचन एवं मार्गदर्शन 'मोक्ष-तत्त्व' पुस्तक में किया गया है। जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. के सान्निध्य में लिखित 'जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी' पुस्तक में भी नवतत्त्व का वर्णन है।

मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति के लिए योग-साधना के रूप में लेखक ने जैन धर्म में ध्यान, कायोत्सर्ग, वीतरागयोग, ध्यान शतक का अनुवाद, वीतराग ध्यान की प्रक्रिया, विपश्यना एवं पातंजल योगसूत्र अभिनव निरूपण पुस्तकें भी लिखी हैं तथा दुःख रहित सुख, सकारात्मक अहिंसा, जैन धर्म, जीवन धर्म पुस्तकों का लक्ष्य भी मोक्ष-प्राप्ति करना रहा है। इन सबमें श्रुतज्ञान (तत्त्वज्ञान) का ही विवेचन है।

पूर्वोक्त सब पुस्तकें मैंने श्री देवेन्द्रराजजी मेहता की महती कृपा एवं प्रेरणा से लिखी हैं। आपने इन पर प्रमोद व्यक्त करते हुए नवतत्त्व के सार रूप में 'नवतत्त्व

सार' एवं योग के सार रूप में 'अमनस्क योग' लिखने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। अतः आपकी ही प्रेरणा से यह 'जैनतत्त्व सार' पुस्तक लिख रहा हूँ।

उपर्युक्त पुस्तकों में जीव-अजीव तत्त्व से लेकर मोक्ष तत्त्व तक सम्पूर्ण नव ही तत्त्वों का विवेचन आगम एवं कर्म सिद्धान्त के आलोक में, सर्व साधारण के जीवन के अनुभव एवं ज्ञान के अनुरूप सरल भाषा में किया गया है। जिससे साधक पाठक प्रेरणा प्राप्त कर, सही आचरण अपनाकर कल्याण साध सके। प्रस्तुत तत्त्वज्ञान सार पुस्तक में विस्तृत वर्णन न कर संक्षेप में निरूपण किया गया है। साथ में नवतत्त्वों पर प्रकाशित पुस्तकों की भूमिका, प्राक्कथन एवं आमुख (सम्पादकीय) का भी समावेश किया गया है, जिनसे मूल पुस्तकों में प्रतिपादित तत्त्वों की साररूप जानकारी प्राप्त हो सकेगी। जैन तत्त्व सार पुस्तक में तत्त्वों का विवेचन संकेत मात्र है, उसका वास्तविक व पूर्ण रूप मूल पुस्तकें पढ़ने से ही समझा जा सकता है।

मुक्ति और तत्त्वबोध

जैन धर्म में मुक्ति प्राप्ति की साधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन है अर्थात् सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य ही वास्तविक तत्त्व व तथ्य है। सत्य का साक्षात्कार व प्रत्यक्ष अनुभव करना ही तत्त्व बोध है। 'सत्य' शब्द सत् से बना है अर्थात् जिसकी सत्ता सदा रहे, जिसमें कभी भी, कहीं भी, परिवर्तन नहीं हो, दूसरे शब्दों में कहें तो जो स्वयं सिद्ध हो, जो सबके लिए समान हो अर्थात् सार्वजनीन हो, अपौरुषेय हो, जो सब काल में एक-सा रहे अर्थात् सार्वकालिक व सनातन हो, काल से अप्रभावित हो, कालातीत हो, अकालिक हो, जो सब स्थानों में समान रहे, सार्वभौमिक हो, जो सब स्थितियों में समान रहे, परिस्थितियों से प्रभावित नहीं हो, वह सत्य है। शान्ति, पूर्णता, स्वाधीनता, अमरत्व आदि सभी को सदा, सर्वदा, सर्वत्र इष्ट हैं। इनकी इष्टता का ज्ञान मानव मात्र को स्वतः प्राप्त है, किसी को इनकी इष्टता को जानने के लिए इन्द्रिय, मन व बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है अर्थात् यह स्वयं सिद्ध निज ज्ञान है, इसी को विवेक भी कहा है। इनको प्राप्त हुए बिना किसी को भी सन्तुष्टि नहीं होती है। जो स्वतः सदा, सर्वदा, सर्वत्र प्राप्त हो, जिसका अभाव कभी नहीं हो, वह ही सत्य है, स्वभाव है। जिसका नाश हो जाय, जो कभी इष्ट हो, कभी इष्ट नहीं हो, वह विभाव है, वह अनिष्ट है। इसके विपरीत अशान्ति, अभाव, पराधीनता आदि किसी को भी इष्ट नहीं है, परन्तु भ्रान्ति से इष्ट

भासती है जैसे मकान मिलने में व कार मिलने से अपने निवास व जाने-आने में व्यक्ति अपने को स्वाधीन होना मानता है, परन्तु वास्तव में तो वह अपने निवास में मकान के आधीन है, जाने-आने में कार के पराधीन है। इसी प्रकार देखने, सुनने, खाने-पीने, आदि की जो वस्तुएं कभी इष्ट लगती हैं वे ही कालान्तर में अनिष्ट लगती हैं, अतः यह स्वभाव नहीं है, विकार है, विभाव है।

स्वभाव में स्थित होना ही मोक्ष है। स्वभाव में स्थित होने में सत्य का अनुभव करने में मानव मात्र सब काल में, सर्व देशों में, सब परिस्थितियों में स्वाधीन व समर्थ है, इसमें लेशमात्र भी पराधीनता नहीं है। इस दृष्टि से शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व, चिन्मयता प्राप्त करने में मानव मात्र, सब काल, सब क्षेत्र, सब परिस्थिति में समर्थ एवं स्वाधीन है, क्योंकि ये सबको सदैव, सर्वथा प्राप्त ही हैं, केवल व्यक्ति अपने स्वयंसिद्ध निज ज्ञान का अनादर कर इनसे विमुख हुआ है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर, इन्द्रियों के विषय भोगों की अनुकूलता को सुखद, सुन्दर व स्थायी मानकर उनकी सुखासक्ति में, सुख लोलुपता की दासता में अर्थात् इनके राग में आबद्ध हो गया है। जबकि वास्तविकता यह है कि इन्द्रियों के विषय और इनके साधन शरीर, इन्द्रिय आदि व इनका सुख नश्वर है, क्षणभंगुर है, अस्थायी है। सड़न-गलन युक्त होने से इनकी सुन्दरता भी कुरूपता में परिवर्तित होने वाली है। परन्तु इन्द्रिय ज्ञान के प्रभाव से मानव विषय-भोगों के सुख की दासता में आबद्ध हो जाता है, जिससे कामना, ममता, देहाभिमान, राग, द्वेष, मोह आदि दोष उत्पन्न होते हैं और इनके फल के रूप में प्राणी अशान्ति, अभाव, चिन्ता, भय, पराधीनता आदि अनिष्ट वैभाविक दशा के दुःख भोगता रहता है। दुःख को सहन करता रहता है, परन्तु विषय सुखों, सुविधाओं, सामग्री की दासता का त्याग नहीं करता, इनके राग में आबद्ध रहता है, यह निज ज्ञान का अनादर है, जो भयंकर भूल है।

भूल से ही अर्थात् स्वयं-सिद्ध निज ज्ञान के अनादर से ही दोषों की और दोषों से दुःखों की उत्पत्ति होती रहती है। दोष स्वाभाविक नहीं हैं, ये स्वतः पैदा नहीं होते हैं। दोष मानव स्वयं पैदा करता है, अतः दोष को पैदा करने या न करने में मानव मात्र सदैव समर्थ व स्वाधीन है। विषय-सुख की लोलुपता के राग से ही समस्त दोष पैदा होते हैं। राग का त्याग करने के लिए किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल, अभ्यास व अनुष्ठान की अपेक्षा व आवश्यकता नहीं है, अतः मानव मात्र विषय सुखों में अनित्यता, पराधीनता, चिन्ता, जड़ता आदि की

वास्तविकता के ज्ञान का आदर कर राग का त्याग कर सकता है। त्याग करने में सब समर्थ व स्वाधीन हैं। राग का त्याग करते ही वीतरागता की अनुभूति होती है जिसके होते ही शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व आदि दिव्य गुणों की स्वतः अभिव्यक्ति हो जाती है। राग के विद्यमान रहते कोई भी प्राणी दोष व दुःखों से कभी मुक्त नहीं हो सकता है, न आज तक कोई हुआ है और न आगे ही कोई होगा।

तात्पर्य यह है कि जिससे राग मिटे, वीतरागता की अभिव्यक्ति हो, वह ही वास्तव में साधना है। विश्व में जितनी साधनाएँ हैं, उन सबका समावेश वीतरागता में हो जाता है। वीतरागता की अनुभूति में ही लक्ष्य की प्राप्ति, दोषों व दुःखों की निवृत्ति है।

जैन तत्त्व ज्ञान का सार है- सर्व दोषों एवं दुःखों से मुक्त होना। इसे ही सर्व कर्मों का क्षय होना या मोक्ष कहा है।

'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।' - तत्त्वार्थसूत्र १०.३

अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। कर्म आठ हैं और वे दो प्रकार के हैं:- घातिकर्म और अघातिकर्म।

१. घातिकर्म चार हैं:- १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. मोहनीय और ४. अंतराय कर्म। ये चारों घातिकर्म जीव के गुणों के घातक हैं। अतः इनके क्षय से आत्मा का शुद्ध स्वभाव रूप कैवल्य स्वरूप साध्य प्रकट होता है, वह ही मोक्ष है।

२. अघातिकर्म चार हैं:- १. वेदनीय, २. आयु, ३. नाम और ४. गोत्र कर्म। इन चारों अघाति कर्मों से जीव के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं होता है। जीव को कैवल्य स्वरूप प्रकट होने के पश्चात् ये जली (राख) हुई रस्सी के समान रहते हैं। अतः इनसे जीव को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती है और इनका संबंध देह से है। अतः केवली का देहान्त होने के साथ इन कर्मों का भी स्वतः अन्त हो जाता है।

प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है- घाति कर्मों का क्षय होना जीवन्मुक्ति है और समस्त कर्मों का क्षय होना देह (जन्म-मरण) मुक्ति है। मोक्ष साधना का लक्ष्य या साध्य घाति कर्मों का क्षय करना है। घाति कर्मों का क्षय होने के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक कुछ भी साधना करना शेष नहीं रहता है। स्वतः साध्य प्रकट हो जाता है अर्थात् सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सिद्धत्व (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है।

चारों घाति कर्मों का क्षय करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप चार साधनाएँ हैं।

मोक्षमार्ग के चार प्रकार हैं:- इनमें से सम्यग्दर्शन से दर्शनमोहनीय एवं दर्शनावरण कर्म का क्षय होकर क्षायिक सम्यक्त्व एवं अनंतदर्शन गुण प्रकट होता है। सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होकर अनंत ज्ञान प्रकट होता है। सम्यक्चारित्र से चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होकर क्षायिक चारित्र प्रकट होता है तथा इन सबके फलस्वरूप अंतराय कर्म का क्षय होकर अनंतदान, अनंतलाभ, अनंत भोग, अनन्त उपभोग एवं अनंतवीर्यरूप स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घाती कर्मों का क्षय होने के पश्चात् वेदनीय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और आयु कर्म ये चारों अघाती कर्म शेष रह जाते हैं। ये कर्म अघाती होने से जीव के किसी भी गुण का घात करने में समर्थ नहीं हैं। अत: इनका क्षय करने के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इन कर्मों की शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त, प्रकृतियाँ है जिन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियाँ कहा जाता है। इनमें से पुण्य-प्रकृतियों का क्षय किसी भी साधना से सम्भव नहीं है अपितु साधना से इन पुण्य-प्रकृतियों का अर्जन होता है, एवं इनके अनुभाग में वृद्धि होती है। अत: इनके क्षय की आवश्यकता भी नहीं है। शेष रही इनकी अशुभ-अप्रशस्त पाप प्रकृतियाँ। पाप प्रवृत्तियों के बंध का अवरोध कषाय की क्षीणता या क्षय से होता है।

क्रोध कषाय (क्रूरता निर्दयता) के निवारण एवं क्षयोपशम से सातावेदनीय पुण्य प्रकृति का; मान कषाय के क्षयोपशम से, मद न करने से, मृदुता से उच्चगोत्र पुण्य-प्रकृति का; माया कषाय के क्षयोपशम से, ऋजुता से शुभ नामकर्म की पुण्य प्रकृतियों का; एवं लोभ कषाय के क्षयोपशम से देव, मनुष्य, आयु, पुण्य-प्रकृति का बंध होता है। साधना से कषाय क्षय होता है जिससे अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के बंध का अवरोध होता है एवं पुण्य-प्रकृतियों का उपार्जन व उदय होता है। जिन साधकों ने साधना से चारों कषायों का पूर्ण क्षय कर दिया है उनके उपर्युक्त समस्त पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। ये शुभ (पुण्य) कर्म-प्रकृतियाँ आत्मा की शुद्धता की सूचक है। अत: इन्हें क्षय करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

तात्पर्य यह है कि साधक (जीव) के द्वारा सिद्धि रूप साध्य (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए पाप, आस्रव, बन्ध (सम्बन्ध) रूप असाधनों का त्यागकर संवर-तप (निर्जरा) तथा पुण्य रूप साधनों को अपनाना ही तत्त्वज्ञान है, साधना है।

साध्य - यह विदित है कि साध्य वह है जो सबको सर्वदा, सर्वत्र, सर्व अवस्थाओं में इष्ट हो, जैसे स्वाधीनता (मुक्ति), शान्ति, सम्पन्नता, सुख, स्वस्थता आदि। ये विभूतियाँ या लब्धियाँ सभी को, सभी काल, सभी क्षेत्र, सभी अवस्थाओं में अभीष्ट हैं। अतः इनकी उपलब्धि में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है। जैन दर्शन के शब्दों में कहें तो जो सिद्ध के गुण हैं, वे ही साध्य हैं, सिद्ध अवस्था ही साध्य है। इसे ही मोक्ष कहा है। इसी का मोक्ष तत्त्व में विवेचन है। इसके विपरीत जो किसी को इष्ट हो, किसी को इष्ट न हो, कभी इष्ट हो, कभी इष्ट न हो, कहीं इष्ट हो, कहीं इष्ट न हो, किसी अवस्था में इष्ट हो, किसी अवस्था में इष्ट न हो वह साध्य नहीं हो सकता। जैसे किसी दृश्य को देखना, किसी संगीत को सुनना, किसी पदार्थ को खाना आदि भोग, धन कमाना, खेल खेलना, बातें करना आदि क्रियाएँ। इन्हें साध्य नहीं कहा जा सकता। कारण कि ये कभी इष्ट होती हैं, कभी नहीं; किसी को इष्ट होती हैं अन्य किसी को नहीं, किसी अवस्था में इष्ट होती हैं, अन्य किसी अवस्था में नहीं इत्यादि।

साधन– जो साध्य की उपलब्धि में सहायक हो, वह साधन है। साध्य सबका समान होता है, उसमें भेद व भिन्नता नहीं होती है, परन्तु साधन में यह बात नहीं है। साधन सबका भिन्न-भिन्न होता है। जिस प्रकार 'स्वस्थता' सबका साध्य है। सभी को सदा, सर्वदा, सर्वत्र स्वस्थता अभीष्ट है। कोई भी अस्वस्थ होना पसन्द नहीं करता, परन्तु स्वस्थता की उपलब्धि के लिए प्रत्येक साधक को अलग-अलग प्रयत्न करना होता है। जो जिस रोग या विकार से पीड़ित है उसे उसी रोग या विकार को दूर करने का प्रयत्न करना होता है। शारीरिक स्वस्थता के लिए शरीर के विकारों को, मानसिक स्वस्थता के लिए मानसिक विकारों को एवं आध्यात्मिक स्वस्थता के लिए आन्तरिक विकारों को दूर करने का प्रयास या साधन करना होता है। यही नहीं, शरीर के विविध विकारों के लिए विविध प्रकार के प्रयास या उपचार करना होता है। शरीर से सम्बन्धित रोग कैंसर, क्षय आदि विकारों के लिए विविध उपचार एवं विविध दवाओं का उपयोग करना होता है; इसी प्रकार मन से सम्बन्धित मानसिक विकार, तनाव, हीन भाव, निराशा, भय, चिन्ता, शोक, द्वन्द्व आदि के लिए विभिन्न प्रकार के उपचार करने होते हैं। आध्यात्मिक

विकार राग, द्वेष, मोह विषय, कषाय, हिंसा, झूठ, चोरी आदि के लिए भी विविध उपचार करने होते हैं। अतः सभी साधकों का साधन समान हो, यह आवश्यक नहीं है, परन्तु उनका साधन भिन्न-भिन्न होने पर परिणाम एक ही होगा। सबका एक ही उद्देश्य होगा विकार रहित होना, स्वस्थ होना एवं दुःख से मुक्त होना। तात्पर्य यह है कि विकार निवारण करने का प्रयत्न ही साधन है और साधन में भिन्नता होना स्वाभाविक है।

तत्त्वज्ञान और साधना

विकार शारीरिक हों या मानसिक, उनका उद्गम स्थल आन्तरिक जगत् के विकार ही हैं। आन्तरिक विकार हैं: मिथ्यात्व, अज्ञान, अविवेक, (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान) हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियाँ, प्रमाद, कषाय, राग, द्वेष, अशुभ योग (विषय भोग)- ये ही असाधन हैं। इन्हें जैन दर्शन (तत्त्वज्ञान) में आस्रव कहा है, पाप प्रवृत्तियाँ भी इन्हीं में अन्तःगर्भित हैं।

यह नियम है कि असाधन के त्याग में ही साधन (संवर-संयम) की अभिव्यक्ति है अर्थात् आस्रव के त्याग में ही संवर की अभिव्यक्ति स्वतः होती है। असाधन का त्याग और साधन की अभिव्यक्ति युगपद् होती है। साधन (संवर-संयम) की अभिव्यक्ति का नाम ही धर्म है अर्थात् त्याग में ही धर्म है। त्याग है, पर से सम्बन्ध विच्छेद करना। सम्बन्ध विच्छेद होते ही बन्धविच्छेद हो जाता है। बन्धन टूट जाता है। बन्धन टूटना ही मुक्त होना है। यह नियम है कि जितना-जितना बन्धन टूटता जाता है, साधक उतना-उतना मुक्त होता जाता है। मुक्त होना ही साध्य को प्राप्त करना है। साध्य की प्राप्ति या उपलब्धि ही सिद्धि है। सिद्धि को प्राप्त करना ही सिद्ध होना है। या यों कहें कि त्याग या धर्म का परिणाम मुक्ति या सिद्धि पाना है। सिद्धि पाने वाला सिद्ध है। अतः त्याग ही साध्य की प्राप्ति, मुक्ति, सिद्धि व सिद्ध-पद पाने का साधन है। इस दृष्टि से संवर (संयम) रूप साधन और मुक्ति (स्वाधीनता) रूप साध्य व सिद्ध अवस्था को प्राप्त सिद्ध इन सबमें स्वरूप से अभिन्नता है, जातीय एकता है अर्थात् साधन साध्य में अभिव्यक्त होकर सिद्धि प्रदान करता है। सिद्ध पद प्राप्त कराता है।

तत्त्वज्ञान साधना के दो रूप हैं: 1. निषेध (निवृत्ति या त्याग) परक और 2. विधि (प्रवृत्ति) परक। निषेध रूप साधना दो प्रकार की है: 1. संवर रूप और 2. तप रूप। आश्रव व दोषों का त्याग संवर (संयम या चारित्र) रूप साधना है। इससे

नवीन कर्मों या संस्कारों का निर्माण होना अर्थात् कर्म बन्धना बन्द हो जाता है तथा समता में स्थित हो भोग-वृत्तियों का स्वेच्छा से संकोच (त्याग) करते हुए अन्तर्मुखी होकर सत्ता में स्थित कर्म-ग्रन्थियों का भेदन-छेदन करते हुए उन्हें धुनकर क्षय करना तप रूप साधना है। साधक जितना-जितना समता को पुष्ट कर निर्विकल्प होता जाता है, उतना ही उसकी आन्तरिक ग्रन्थियों का अर्थात् कर्मों का स्वतः क्षय होता जाता है तथा उतने ही अंश में उसके चिन्मयता रूप दर्शनगुण व बोध (ज्ञान) गुण प्रकट होते जाते हैं, स्वानुभूति रूप निज रस की अभिव्यक्ति होती जाती है अर्थात् तप से पूर्व (भूतकाल में) कृत कर्म-बन्ध का क्षय होता जाता है उनसे कर्मों से मुक्ति मिलती जाती है। जब तप से सब घाती कर्मों का क्षय हो जाता है तो वीतराग अवस्था की प्राप्ति हो जाती है और सब कर्मों का क्षय हो जाता है तो सिद्ध अवस्था या मोक्ष मिल जाता है।

साधना का दूसरा रूप विधिपरक सर्वहितकारी प्रवृत्ति है। जब साधक पूर्व संस्कार (कर्मों) के उदय से उत्पन्न भोगेच्छा के रस को विवेक (ज्ञान) से नहीं काट पाता अर्थात् भोग करने के राग को नहीं मिटा पाता है, तब उस राग को हितकारी प्रवृत्ति (सेवा) का रूप देकर उदात्तीकरण करता है। इस प्रकार सेवा भाव से उदयमान (विद्यमान) राग (कर्म-संस्कार) की पूर्ति होकर निवृत्ति (निर्जरा) हो जाती है, राग रूपान्तरित होकर गल जाता है और नवीन राग की उत्पत्ति ही नहीं होती है। राग को गलाने वाली इस प्रवृत्ति रूप क्रिया या साधना के भावात्मक रूप को संवर तथा क्रियात्मक रूप को पुण्य कहा जा सकता है।

निषेध (निवृत्ति) परक त्याग रूप साधना, साध्य में परिणत या विलीन होकर जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है, साधना और जीवन में एकता हो जाती है, भिन्नता नहीं रहती है; साधना ही साधक का जीवन बन जाती है। विधि (प्रवृत्ति) परक साधना (सेवा) में इस प्रकार नहीं होता है। क्योंकि प्रवृत्ति में अपने राग को गलाने का, त्यागने का ही लक्ष्य रहता है। इसमें अपने भोग के सुख के त्याग की ही प्रधानता रहती है। यह त्याग ही साधक के लिए उपयोगी, हितकारी, कल्याणकारी, उपादेय है। प्रवृत्तिपरक साधना का यह भावात्मक रूप त्यागमय या असीम होता है, पर प्रवृत्तिपरक साधना सेवा का क्रियात्मक रूप सीमित होता है, और 'पर' पर आश्रित होता है। पराश्रय जीवन नहीं हो सकता है। अतः सेवा का साधक के जीवन में महत्त्व विद्यमान उदयमान राग को गलाने तक है। यही कारण है कि वीतराग हो जाने पर प्रवृत्ति (सेवा) साधना रूप में की नहीं जाती है, करुणाभाव से स्वतः

सहज रूप में सेवा होती रहती है। प्रवृत्ति रूप साधना में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि सेवा रूप प्रवृत्ति से साधक सम्मान, पुरस्कार आदि के सुख का भोग करने लग जाता है तो वह सेवा, सेवा नहीं रह जाती है, सौदे का रूप ले लेती है। उससे भौतिक उपलब्धि तो होती है, परन्तु वह कल्याणकारी नहीं होती है। स्मरण रहे कि सेवा में जितने अंश में अपने सुख का त्याग है वह सेवा उतनी ही कल्याणकारी है। साधक के लिए सेवा रूप प्रवृत्ति में रहा हुआ त्याग ही उपादेय है। यही त्यागमय प्रवृत्ति आत्मा को पवित्र करने वाली है, यही पुण्य है। मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य का क्रियात्मक रूप ही प्रवृत्तिपरक साधना है। वह राग गलाने वाली होने से साधक के लिए आदरणीय है।

समभाव-साधना

त्याग (विरति) में समभाव निहित है, अतः समस्त साधनाओं का आधार या सार समभाव है। समभाव है अनुकूलता में राग न करना, प्रतिकूलता में द्वेष न करना अर्थात् राग- द्वेष रहित होना। अतः समभाव में वीतराग भाव समाया हुआ है। समभाव की साधना वीतराग भाव की साधना है। समभाव में अपने सुख-दुःख के भोग का त्यागभाव समाहित है। जहाँ त्याग है वहाँ समभाव है। जहाँ समभाव है वहाँ त्याग है। जहाँ भोग है वहीं रोग है वहाँ त्याग नहीं है, समभाव नहीं है। समभाव की साधना को जैन दर्शन में सामायिक की साधना कहा है। इसीलिए साधक को 'करेमि भंते! सामाइयं' की ही प्रतिज्ञा दिलाई जाती है, भले ही वह साधक आजीवन के लिये साधना ग्रहण करे अथवा कुछ काल के लिये। उसे सामायिक अंगीकार करनी ही होती है। समभाव में संयम और संयम में समभाव समाहित है। जहाँ असंयम है वहाँ विषयभाव व विषमभाव है। विषयभाव विष है, प्राण घातक है, यही कारण है कि विषमभाव से, विषयभाव से, असंयम से, भोग से प्राणी की अपनी प्राणशक्ति का घात, ह्रास होता ही है, अर्थात् प्राणातिपात होता है, हिंसा होती ही है।

जैन धर्म में मुक्ति प्राप्ति की साधना का मूलाधर सम्यग्दर्शन है (सत्य का साक्षात्कार करना है)। सम्यग्दर्शन की अनुभूति में श्रुतज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा श्रुतज्ञान का आदर करना, श्रुतज्ञान का आचरण करना चारित्र है।

सम्यक्श्रुत ही सम्यग्ज्ञान है। इस ज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान पर आस्था, विश्वास, श्रद्धा न करना, इसी ज्ञान को लक्ष्य व साध्य-साधना बनाना सम्यग्दर्शन है।

श्रुतज्ञान के अनुरूप आचरण करना सम्यक्चारित्र है। सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, इन तीनों की एकरूपता-एकत्व मोक्षमार्ग है - साधना है। प्रकारान्तर से कहें तो सत्-असत का विवेक सम्यक्ज्ञान है, सत् पर श्रद्धा करके, उसे ही साध्य मानना, असत् को त्यागना सम्यग्दर्शन है। सत् के अनुरूप आचरण करना - सदाचार ही सम्यक् चारित्र है।

तात्पर्य यह है कि साधक को चाहिए कि वह स्वयं-सिद्ध, स्वतः प्राप्त निजज्ञान (श्रुतज्ञान) से सिद्धत्व के गुणों को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाकर, श्रुतज्ञान का पूर्ण रूप से आदर, आचरण कर दुर्लभ मानव-भव को सफल व सार्थक बनाने का पूर्ण पराक्रम करे। अथवा यों कहें कि श्रुतज्ञान का आदरकर असत् (अनित्य) के सुख व संबंध का सर्वांश में त्याग कर देने से सत् (अमरत्व-ध्रुवत्व) से अभिन्नता रूप मोक्ष की अनुभूति स्वतः हो जाती है।

श्रुतज्ञान के अनुरूप आचरण करना अर्थात् अज्ञान मोहरहित हो राग-द्वेष का क्षय करना ही चारित्र है। चारित्र की पूर्णता में ही मुक्ति है। श्रुतज्ञान के अनुरूप आचरण करना ही श्रुतज्ञान का आदर है। श्रुतज्ञान के आदर से श्रुतज्ञान का क्षयोपशम तथा क्षय होता है जिससे श्रुतज्ञान का आवरण ऱ्ह श्रुतज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होता जाता है और श्रुतज्ञान का प्रभाव जीवन में प्रकट होता जाता है। श्रुतज्ञान का पूर्ण प्रभाव होते ही या श्रुतज्ञानावरण का पूर्ण क्षय होते ही पांचों ज्ञानों के आवरण का एवं दर्शनावरण कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाते हैं। श्रुतज्ञान का पूर्ण आचरण ही चारित्र की पूर्णता है - उत्कृष्ट यथाख्यात, पूर्ण-निर्दोष शुद्ध चारित्र है। इसके पश्चात् साधक जन्म-मरण से अतीत हो जाता है। जन्म-मरण से अतीत होना ही मुक्त होना है। अतः श्रुतज्ञान के आचरण की पूर्णता में यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की उपलब्धि तथा आत्मस्वरूप का पूर्ण प्रकटीकरण है। इसका फल ही मुक्ति की अनुभूति करना एवं परमसुख प्राप्त करना है- मुक्त होना है।

सम्यग्दर्शन युक्त सम्यक्ज्ञान का आचरण ही चारित्र है। चारित्र में संवर, निर्जरा और पुण्य तत्त्व समाहित हैं।

संवर, निर्जरा और पुण्य साधना के इन तीन अंगों में से संवर और निर्जरा रूप धर्म का फल तत्काल मिलता है क्योंकि ये क्रियाएँ कोई 'कर्म' नहीं है जिसका फल पीछे उदय आकर मिले। कर्म का फल उदय आकर ही पीछे मिलता है, धर्म का फल तो तत्काल ही मिलता है कारण कि ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे धर्म का फल पीछे मिले। संवर और निर्जरा आत्मा को विकारों को दूर करने कि क्रिया है।

यह नियम है कि विकार दूर होते ही तत्काल प्रसाद मिलता है। ऐसा नहीं होता कि विकार तो अभी दूर हों और फल कभी मिले। जिस प्रकार शारीरिक विकार (रोग) जिस समय दूर होते हैं उसी समय तत् सम्बन्धी पीड़ा मिट कर शान्ति व सुख की अनुभूति होती है। यह नहीं होता कि शरीर का रोग तो आज मिटे और शान्ति कल मिले। इसी प्रकार संवर और निर्जरा से आत्मिक विकार दूर होने ही तत्काल शांति, मुक्ति और प्रीति की अनुभूति होती है। यदि साधक को ऐसी अनुभूति नहीं होती है तो यह निश्चित है कि उसकी संवर और निर्जरा की क्रियाएँ समीचीन नहीं है उसने इन क्रियाओं रूप में किसी सूक्षम राग-सुख लोलुपता-रूप दोष छिपा हुआ है।

संवर-तप की साधना, स्वाधीन साधना है, क्योंकि इसमें आत्म विकारों को दूर करने के लिए पर के आश्रय व सहायता की अपेक्षा नहीं है। पर की सहायता अपेक्षित न होने से इन साधना का किसी परिस्थिति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं, यह वर्तमान परिस्थिति में ही की जा सकती है वस्तुतः साधना वर्तमान की ही वस्तु है तथ इसे मानव मात्र करने में समर्थ व स्वाधीन है। जो साधना वर्तमान में ही की जा सकती है। उसे भविष्य पर टालना घोर प्रमाद है तथा जीवन की सबसे बड़ी असावधानी व भारी भूल है।

किसी का अहित न करने व सबका हितचिंतन के भाव रूप पुण्य की साधना में सब स्वाधीन हैं, परन्तु सर्व हितकारी भाव को क्रियात्मक प्रवृत्ति का रूप देने में वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति आदि की अपेक्षा या आवश्यकता होती है। अतः इसमें प्रत्येक साधक की अपनी सीमा है। साधक को वर्तमान में अपनी प्राप्त परिस्थिति का ही सर्व् हितकारी प्रवृत्ति में सदुपयोग कर उसकी दासता से छूटना है। उसे अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं करना है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना, परिस्थिति में आसक्ति बनाये रखने व परिस्थिति की दासता को पसन्द करने की द्योतक है, जो असाधन रूप है।

ऊपर संवर, निर्जरा और पुण्य, साधना के ये तीन रूप कहे गये हैं। ये ही साधना या चारित्र की तीन धाराएँ हैं। इन तीनों धाराओं का संगम ही साधना की त्रिवेणी है। जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना, और सरस्वती का संगम होकर त्रिवेणी बनती है जो अपने गन्तव्य स्थल सागर को पहुँच कर विलीन हो जाती है। इसी प्रकार संवर-निर्जरा रूप गंगा-जमुना तथा पुण्य रूप सरस्वती के संगम से साधना एवं चारित्र की त्रिवेणी बनती है जो अपने गन्तव्य स्थल मुक्ति को पहुँच कर

विलीन हो जाती है। जैसे त्रिवेणी-संगम में गंगा और यमुना की धाराएँ तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं परन्तु सरस्वती की धारा नहीं दिखाई देती है, उसके लिए कहा जाता है कि वह अदृश्य रूप में इन दोनों ही धाराओं में विद्यमान रहती है। इसी प्रकार संवर-निर्जरा रूप गंगा-यमुना, साधना की ये दो धाराएँ स्पष्ट प्रकट हैं और पुण्य की धारा संवर-निर्जरा रूप इन दोनो धाराओं के तल में अव्यक्त रूप से अनुस्यूत रहती है। जिस प्रकार त्रिवेणी में निमग्न होने से तत्काल शारीरिक पवित्रता और शीतलता की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार साधना की त्रिवेणी में निमग्न होने से तत्काल मानसिक और आत्मिक पवित्रता व शांति की उपलब्धि होती हैं परन्तु त्रिवेणी इनका भोग न करती हुई सतत प्रवाहमान रहती है। इसी प्रकार साधना-त्रिवेणी के योग से भौतिक एवं आध्यात्मिक ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ व निधियाँ प्राप्त होती हैं परन्तु साधक की साधना अजस्र प्रवाहमान रहती है, वह इनका भोग या उपभोग नहीं करता। संवर, निर्जरा तथा पुण्य रूप साधना-त्रिवेणी की चारित्र की आराधना कर मुक्ति पाने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। अत: मानव मात्र का कर्त्तव्य है कि वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप साधना-त्रिवेणी की आराधना कर अपने जीवन को सफल बनावे, मोक्ष प्राप्त करें।

मोक्ष तत्त्व के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'मोक्ष-मार्ग' जीवन के आन्तरिक व बाहरी विकारों को दूर करने व सुख, शान्ति, स्वाधीनता, मुक्ति व परमानन्द प्राप्ति का व्यावहारिक व वैज्ञानिक मार्ग है। व्यावहारिक इसलिए है कि इसका सम्बन्ध व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन से है और प्रत्येक व्यक्ति इसे अपने जीवन के व्यवहार में अपनाकर सुख, शान्ति तथा आनन्द की उपलब्धि कर सकता है। वैज्ञानिक इस रूप में है कि इसमें विज्ञान के समान कारण-कार्य सम्बन्ध स्पष्ट है तथा साधना रूप कार्य के फल का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अन्तर केवल क्षेत्र का है और वह यह है कि विज्ञान का सम्बन्ध पदार्थों के साथ होने से वैज्ञानिक तथ्यों के प्रयोगक्षेत्र व फल का प्रत्यक्षीकरण भौतिक व बाहरी जगत् मे होता है और साधना का सम्बन्ध आत्मा के साथ होने से इसका प्रयोग क्षेत्र आत्मा है तथा इसके फल का प्रत्यक्षीकरण अन्तर्जगत् में होता है तथा इस नियम के अनुसार कि स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप अधिक विभु होता है, इस प्रकार भौतिक विज्ञान से साधना का आध्यात्मिक क्षेत्र अधिक व्यापक है।

तत्त्व ज्ञान में वर्णित 'मोक्ष-मार्ग' आनन्द पूर्वक जीने की साधना है। दूसरे शब्दों में 'सुख पूर्वक जीने की कला' है। जीवन में आनन्द की उपलब्धि तभी संभव है जब वह विकार रहित हो, क्योंकि विकार ही विश्व के सब प्राणियों के दु:खों व द्वन्द्वों का कारण है। विकार पर विजय पाने की साधना ही वास्तविक साधना है। इसे किसी सम्प्रदाय या वर्ग विशेष की साधना समझना भूल है। वस्तुत: जैन-साधना 'जन-साधना' है, प्रत्येक जन इसे अपना सकता है और अपने दु:खों से छुटकारा पा सकता है, यह इसका व्यष्टि रूप है। दूसरा इसका समष्टि रूप है। इस रूप में यह सुन्दर समाज का निर्माण करती है जिसे अपनाकर मानव-समाज अपने समस्त दु:खों व समस्याओं से मुक्त हो सकता है।

वर्तमान युग 'विज्ञान-युग' है। विज्ञान के कारण भौतिक विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा है। विज्ञान प्रदत्त भौतिक उपलब्धियाँ मानव-समाज के अन्तर में स्थित कषाय को उभार कर व्यवहार में व्यक्त करनें में निमित्त बन रही हैं। परिणाम स्वरूप वर्तमान मानव-समाज कषाय से बुरी तरह ग्रस्त है। उसका यह कषाय स्वार्थपरता, शोषण, संग्रहवृत्ति, भोगलिप्सा आदि असंख्य बुराइयों को जन्म दे रहा है। फलस्वरूप सम्पूर्ण मानव-समाज संत्रस्त व दु:खी है। युग की मांग है कि इस स्थिति से मुक्ति पायी जाये। इसके लिए ऐसे मार्ग की आवश्यकता है जो साम्प्रदायिक मान्यताओं द्वारा थोपा न जाकर वैज्ञानिक हो। इस कसौटी पर मोक्ष तत्त्व ज्ञान व वीतराग साधना शत प्रतिशत खरे उतरते है। ये मानव-समाज की व्यष्टि व समष्टि रूप में समस्त बुराइयों, दु:खों व समस्याओं का अन्त करने में समर्थ हैं। अत: तत्त्व वेत्ताओं व साधकों का यह दायित्व व कर्तव्य है कि युग की इस मांग को पूरी करने में अपना योग दें। तत्त्वज्ञान व साधना को 'व्यावहारिक व वैज्ञानिक अध्यात्मवाद' के रूप में प्रस्तुत करें। साधना के इस रूप को आज का सम्पूर्ण विश्व अपनाने को तैयार है। यदि विज्ञान के साथ 'व्यावहारिक अध्यात्मवाद' का योग न हुआ तो विज्ञान से विश्व का विनाश अवश्यंभावी है। यदि विज्ञान के साथ व्यावहारिक अध्यात्मवाद का योग हो गया तो आध्यात्मिक विकास व भौतिक विकास परस्पर पूरक व प्रेरक होकर आज से अनेक गुने अधिक बढ़ जायेंगें, जिससे इसी धरती पर स्वर्गीय सुख व अपवर्गीय आनन्द की उपलब्धि संभव हो सकेगी।

मेरे जीवन-निर्माण एवं आध्यात्मिक रुचि जागरण करने में आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा. की महती कृपा रही।

श्री देवेन्द्रराज मेहता से गत अनेक वर्षों से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। आप लेखन के लिए सतत प्रेरणा देते रहे हैं तथा प्राकृत भारती अकादमी के माध्यम से प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने में विशेष उत्साह व रुचि लेते रहे हैं। आपकी प्रेरणा के फल-स्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसके लिए मैं आचार्यश्री एवं मेहता साहब के प्रति आभार एवं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने इसका सम्पादन किया, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर ने इसे प्रकाशित किया, श्री इन्दरचन्दजी करनावट ने सहयोग दिया। इन सबका मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ। अन्त में मैं श्री सागर सेठी का भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने इस सामग्री को पुस्तकाकार देकर पाठकों के लिए उपयोगी बनाया।

कन्हैयालाल लोढ़ा
82/127, मानसरोवर, जयपुर
मो. 9413764911

विज्ञान के आलोक में

जीव-अजीव तत्त्व

जीव तत्त्व का स्वरूप

जैन दर्शन में जीव का लक्षण बताते हुए कहा है- 'जीवो उवओग लक्खओ' अर्थात् जिसमें उपयोग गुण है वह जीव है, चेतन है। जिसमें उपयोग गुण नहीं है, वह अचेतन है, वह अजीव है। अर्थात् चेतन-अचेतन में मुख्य अन्तर है- उपयोग गुण का। उपयोग गुण दो प्रकार का है- 1. निराकार उपयोग और 2. साकार उपयोग। निराकार उपयोग, साकार उपयोग के पहले होता है। आगम की भाषा में निराकार उपयोग को दर्शन कहते हैं और साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं। निराकार (दर्शन) उपयोग चेतना का प्रधान गुण है कारण कि इसके अभाव में ज्ञान नहीं होता है। पहले दर्शन होता है, तब ही ज्ञान होता है। ज्ञान का आधार दर्शन ही है। दर्शन गुण चेतनता (चैतन्य) का, चिन्मयता का द्योतक है। संवेदन होना ही चेतना का गुण है, जड़ को संवेदन नहीं होता। इसी से दर्शन को धवला टीका में स्व-संवेदन कहा है। अर्थात् स्वयं में होने वाला संवेदन दर्शनोपयोग है, जो वेदन क्रिया के रूप में सातावेदनीय-असातावेदनीय के रूप में प्रकट होता है।

चेतनता (दर्शनगुण) का विलोम गुण है- जड़ता। चेतन में चैतन्य गुण स्वभावगत है। चेतन के असंख्यात प्रदेश हैं, ये सब प्रदेश चेतनतामय हैं। यह गुण सर्व चेतन में सदा समान बना रहता है, इसमें न्यूनाधिकता नहीं होती है। न्यूनाधिकता होती है, इस गुण के प्रकटीकरण में। जिस प्रकार चन्द्रमा में चन्द्र-प्रभा कभी कम-ज्यादा नहीं होती। चन्द्रप्रभा की न्यूनाधिकता चन्द्र-कला की न्यूनाधिकता के कारण होती है। चन्द्रकला की न्यूनाधिकता चन्द्र पर आए बाहर के कारण से होती है।

वस्तुत: चन्द्र पर चन्द्रकला कम-ज्यादा नहीं होती है। चन्द्रमा तो सदा पूर्ण रूप में एक सी ही प्रभा वाला रहता है, उस प्रभा का प्रकटीकरण बाहर के कारण कम-ज्यादा होता है।

इसी प्रकार चेतन का दर्शन गुण 'चेतनता' कभी न्यूनाधिक नहीं होती है। उस पर मोह के कारण आवरण आजाने से उस चेतनता का प्रकटीकरण कम-ज्यादा होता रहता है। शरीर, संसार आदि जड़ पदार्थों के प्रति आसक्ति से, राग से मोह होता है। जड़ के प्रति राग या मोह होने से जड़ से सम्बन्ध जुड़ता है, जड़ से जुड़ने से जड़ता आती है। जड़ता आने से चेतनता गुण आवरित होता है। मूर्च्छा जड़ता की एवं मोह का द्योतक है और अत: जितना मोह बढ़ता है, उतनी ही मूर्च्छा की वृद्धि होती है। जितनी मूर्च्छा बढ़ती है, उतनी ही जड़ता बढ़ती है, जितनी जड़ता बढ़ती है उतना ही चेतन का चेतनता रूप दर्शन गुण आवरित होता है। अर्थात् मोहनीय कर्म में जितनी वृद्धि होती है उतना ही दर्शन गुण पर आवरण बढ़ता जाता है।

दर्शनावरणीय कर्म का कारण मोहनीय कर्म है। चारित्र मोहनीय के कारण भोग-भोगने की प्रवृत्ति होती है। भोग-भोगने में सुख की अनुभूति होना अर्थात् भोग में सुख मानना दर्शनमोहनीय है। कारण कि यह विषय-सुख की अनुभूति वास्तव में सुख नहीं है। सुख की प्रतीति या आभास मात्र है। मोह के कारण यह सुखाभास सत्य, स्थायी व प्रिय लगता है, परन्तु वास्तव में यह है असत्य, क्षणिक एवं रसहीन। यही कारण है कि विषय सुख प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ नीरसता में बदल जाता है। परन्तु मोही व्यक्ति द्वारा इस सत्यानुभूति का अनादर दर्शनावरणीय कर्म का कारण है। इसमें विषय-भोग सुखद है, यह मिथ्या मान्यता रूप मिथ्यात्व या 'दर्शन मोहनीय' ही प्रमुख कारण है। इस प्रकार दर्शनावरणीय के बंध का प्रमुख कारण मोहनीय कर्म है। अत: जैसे-जैसे मोहनीय कर्म क्षीण होता जाता है, दर्शनावरणीय कर्म भी क्षीण होता जाता है, चेतना गुण बढ़ता जाता है। दर्शन गुण है स्व-संवदेन-चैतन्य (चेतनता) का अव्यक्त बोध व अनुभव होना। जितना इस चैतन्य गुण पर आवरण आता जाता है उतना ही दर्शनावरणीय कर्म प्रगाढ़ होता जाता है अर्थात् जड़ता बढ़ती जाती है (ध्यान की गहराई में इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण व साक्षात्कार स्पष्ट होता है।) निद्रा के समय स्वरूप विस्मृति हो जाती है। अत: निद्राओं को दर्शनावरणीय कर्म की सर्वघातिनी प्रकृतियों में गिनाया है। निद्राओं से जड़ता आती है। यह जड़ता दर्शनावरणीय कर्म की द्योतक है। अनिद्रित अवस्था को स्वरूप बोध, जागरूकता, यतना, अप्रमाद कहा गया है।

चेतन अवस्था में ही नैसर्गिक सत्य का बोध (अनुभव) होता है। जड़ता अवस्था में सत् स्वरूप का, अविनाशित्व का अनुभव नहीं होता है, प्रत्युत विनाशी अवस्था ही अविनाशी या 'सत्' प्रतीत होती है। असत् को सत् मानना एवं सत् को असत् मानना, मिथ्यात्व है। जितना चेतनता गुण बढ़ता जाता है उतना ही पदार्थ के स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप का प्रकटीकरण अर्थात् अनुभव या संवेदन होता जाता है। अंत में सूक्ष्मतम अंश परमाणु की सच्चाई का अनुभव करने पर केवलदर्शन की उपलब्धि हो जाती है, पूर्ण चैतन्य गुण प्रकट हो जाता है। इस प्रकार केवलदर्शन की उपलब्धि में दर्शनमोहनीय का क्षयोपशम परंपरा कारण एवं चारित्र मोहनीय का क्षय अनन्तर कारण है। आशय यह है कि दर्शनावरणीय कर्म के छेदन में मोहनीय कर्म के त्याग का बहुत बड़ा महत्त्व है।

स्व-संवेदन एवं निर्विकल्पता

जीव की अजीव से दो प्रमुख विशेषताएँ हैं-ज्ञान और दर्शन। ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। अतः जीव का मुख्य गुण दर्शन है। दर्शन का अर्थ है स्व-संवदेन। जिसमें संवेदन गुण है- वही चेतन है। दर्शन को प्राचीन ग्रंथों में कुछ विशेषणों से समझाया गया है, परिभाषित किया गया है यथा- 1. स्व-संवेदन 2. निर्विकल्प 3. निराकार 4. अविशेष-अभेद और 5. अनिर्वचनीय। इन सबका परस्पर घनिष्ठ-सम्बन्ध है। इनमें से अविशेष (सामान्य), अभेद, निराकार और निर्विकल्प समानार्थक हैं। अनिर्वचनीय इसीलिए कहा कि दर्शन को शब्दों से, वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। ये चारों विशेषण निषेधात्मक हैं। निषेधात्मक वर्णन अभाव को प्रकट करता है। अभाव से किसी वस्तु या तथ्य के अस्तित्व व स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। अतः इन चारों विशेषणों से दर्शन क्या है, इसका ज्ञान नहीं होता है। विधिपरक विशेषण है- स्व-संवेदन और यही चेतना का मुख्य गुण है।

निर्विकल्पता और स्व-संवेदन का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। निर्विकल्पता है- विकल्प का न उठना। विकल्प का कारण है संकल्प। जहाँ संकल्प है, वहीं विकल्प है। संकल्प का कारण राग है। जहाँ राग है, वहाँ राग की पूर्ति में बाधा पड़ने से द्वेष उत्पन्न होता है। अतः जहाँ राग है वहाँ द्वेष है। अनुकूलता को बनाये रखने की चाहना राग, प्रतिकूलता को हटाने की चाहना द्वेष है। अतः जहाँ हर्ष-विषाद है, हास्य-शोक है, रति-अरति है वहाँ राग-द्वेष हैं। राग-द्वेष से परे होने का उपाय है- अनुकूलता में हर्ष या रति न करना, अनुकूलता का सुख न भोगना

और प्रतिकूलता से दुःखी न होना अर्थात् अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों में समभाव से रहना। यही निर्विकल्पता है। आशय यह है कि जहाँ समभाव है-समता है, वहाँ ही निर्विकल्पता है। समता और निर्विकल्पता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ निर्विकल्पता है वहाँ ही दर्शन है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ समता (समभाव) है, वहाँ ही दर्शन है। अतः जैसे-जैसे विकल्प घटते जाते हैं और समता या निर्विकल्पता पुष्ट होती जाती है-बढ़ती जाती है वैसे-वैसे दर्शन गुण प्रकट होता जाता है। दर्शन गुण का प्रकटीकरण स्व-संवदेन रूप में होता है। अतः जैसे-जैसे दर्शन गुण का विकास या प्रकटीकरण होता जाता है, वैसे-वैसे स्व-संवेदन (आत्मानुभव-स्वानुभव गुण) की स्पष्टता-सूक्ष्मता प्रकट होती जाती है। चेतना का विकास होता जाता है।

दुःख किसी को भी पसंद नहीं है, परन्तु सुख के भोगी को न चाहते हुए भी दुःख भोगना ही पड़ता है, क्योंकि विषय-कषाययुक्त भोगों के सुखों के साथ पराधीनता, जड़ता, अभाव, भय, चिंता, खिन्नता, शक्तिहीनता, वियोग, प्रतिकूलता, आकुलता आदि दुःख सदैव जुड़े रहते हैं। सुख में जीवन बुद्धि होने पर सुख की आशा, सुख की दासता, सुख के प्रलोभन में आबद्ध प्राणी प्रथम तो अपने दुःखों का कारण अपने को नहीं मानकर अन्य वस्तु-व्यक्ति- परिस्थिति को मानता है और भोग्य वस्तुओं का आश्रय लेकर परिस्थिति को बदलकर इन दुःखों को दूर करना चाहता है, परन्तु आज तक ऐसा किसी के लिए भी संभव नहीं हुआ। द्वितीय बात यह है कि विवेक या तटस्थ विचार से वह इस सत्य को भी जान भी लेता है कि इन दुःखों का कारण मैं स्वयं हूँ, मेरी सुखभोग की इच्छाएँ हैं, फिर भी वह इस सत्य की उपेक्षा करता है। वह अपनी सुख की दासता को नहीं छोड़ना चाहता है, क्योंकि उसकी यह मान्यता होती है कि यह विषय सुख ही जीवन है। यह सुख नहीं है तो जीवन का कोई अर्थ नहीं है। यह मान्यता इतनी दृढ़ होती है कि वह सत्य को देखते हुए भी अनदेखा कर देता है। उस पर सत्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उसके लिए तो सर्वस्व विषय सुख व सुख की सामग्री का संग्रह ही है। क्योंकि उसने विषय-सुख के अतिरिक्त अन्य सुख का, निज स्वरूप के निराकुल सुख का कभी अनुभव किया ही नहीं है। यद्यपि सुख सदैव निराकुलता-निर्विकल्पता की अवस्था में ही मिलता है, परन्तु उसका ध्यान उस ओर नहीं जाता है और उस निर्विकल्पता से मिले सुख को भी कामना पूर्ति से मानता है, जो घोर मिथ्यात्व है। सुख निराकुलता में, निश्चिंतता में, निर्विकल्पता में स्वाधीनता में है, इस तथ्य पर वह विचार ही नहीं करता है।

समस्त शक्तियों का उद्भव निर्विकल्पता में ही होता है। जागृत अवस्था में सुषुप्तिवत् होने पर निर्विकल्प होने पर चिन्मयता, शान्ति, विवेक, प्रसन्नता, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सामर्थ्य आदि दिव्य गुणों की अभिव्यक्ति, अनुभूति होती है। यदि कोई एक मुहूर्त इस अवस्था में रह जाये, तो वीतरागता या कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। इन्द्रिय, मन, देह आदि से असंग होने पर ही चिन्मय स्वभाव की, स्वानुभव की, अविनाशी तत्त्व की, निज दर्शन की अनुभूति होती है। यही सच्चा दर्शन गुण है।

कामना-त्याग से निर्विकल्पता

सब प्रकार के चिन्तन, कामना व चाह रहित होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः होती है तथा किसी न किसी प्रकार की चाह से ही संकल्प एवं चिंतन की उत्पत्ति होती है अर्थात् निर्विकल्पता भंग होती है। निर्विकल्प स्थिति में ही विश्रान्ति का अनुभव होता है। विश्रांति में ही शान्ति, शक्ति, सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। शान्त चित्त में ही विवेक की जागृति तथा सत्य की जिज्ञासा होती है, त्याग का सामर्थ्य आता है और प्रवृत्ति करने की शक्ति आती है। अतः जितनी-जितनी निर्विकल्पता गहन होती जाती है अर्थात् दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे- वैसे राग-द्वेष-मोह आदि दोषों में कमी आती जाती है। निर्विकल्पता का रस निराकुल होता है, निज के चिन्मय स्वरूप का होता है- सच्चा वास्तविक सुख होता है, यह विषय-सुख से भिन्न-विलक्षण होता है। विषय सुख की प्रतीति तो इन्द्रिय व मन के उत्तेजित होने पर, सक्रिय होने पर होती है। उसमें आकुलता, जड़ता, पराधीनता रहती ही है। जबकि निर्विकल्पता का सुख निराकुल, निर्विकार, स्वाधीन एवं चिन्मय होता है।

जब तक व्यक्ति कामना अपूर्ति जनित दुःख को दूर करने के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि अपने से भिन्न पदार्थों का आश्रय लेता है, तब तक वह पराधीनता, जड़ता, नीरसता आदि दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। जो व्यक्ति कामना अपूर्ति के दुःख का कारण कामना उत्पत्ति को मानता है, वह कामना रहित अर्थात् निर्विकल्प हो जाता है। उसे ही शान्ति का रस मिलता है, जो वास्तविक सुख है। यही नहीं कामना पूर्ति के समय जो सुख होता है वह भी उस समय कामना के न रहने से, कामना का अभाव होने पर चित्त के शान्त होने से, निर्विकल्प होने से

होता है। जो इस सत्य का अनुभव कर लेता है, वह सम्यक् दृष्टि है और जो उस सुख को कामना पूर्त्ति से मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसकी यह मान्यता मिथ्या है। कामना पूर्त्ति में सुख मानने से अनेक नई कामनाएँ पैदा होती हैं, उन कामनाओं की पूर्त्ति के लिए प्राणी जीवन पर्यन्त दौड़ता रहता है- भ्रमण करता है। परन्तु उसे स्थायी सुख की उपलब्धि एवं संतुष्टि नहीं होती। कामना-उत्पत्ति सुख-प्राप्ति के लिए ही होती है। सुख प्राप्ति का प्रयत्न वही करता है, जिसे सुख का अभाव है। अतः कामना उत्पत्ति सुख के अभाव की, नीरसता की सूचक है। कामनाओं की पूर्त्ति से सुख का अभाव मिटता नहीं है, बल्कि क्षणिक सुख का आभास होता है। यदि कामना पूर्ति से यह सुख का अभाव मिटता होता, तो प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिदिन बीसों कामनाएँ पूरी होती हैं और उनकी पूर्ति में उसे सुख का आभास भी होता है। यदि यह वास्तविक सुख होता, तो अब-तक सभी प्राणी सुखी हो जाते। आज प्रत्येक व्यक्ति के पास में आज के सौ वर्ष पहले के व्यक्ति से सैकड़ों गुना वस्तुएँ बढ़ गई हैं। मधुर संगीत सुनने के सुख के लिए लाखों रुपयों से तैयार किये गए गानों के कैसेट, रेडियो, सुंदर दृश्य देखने के लिए सिनेमा, टेलीविजन, जिह्वा इन्द्रिय के सुख के लिए सैकड़ों प्रकार की मिठाइयाँ, खटाइयाँ, नमकीन, विविध व्यंजन आदि अगणित सुख की सामग्री बढ़ गई है, जिसका वह भोग- उपभोग कर रहा है, परन्तु सुख में अंशमात्र भी वृद्धि नहीं हुई। यदि सुख मिल गया होता, सुख पाना शेष न रहा होता, सुख से तृप्ति व संतुष्टि हो गई होती, तो सुख की कामना उत्पन्न नहीं होती। कारण कि भोग-सामग्री में सुख है ही नहीं। यदि भोग-सामग्री में सुख होता तो सामग्री के विद्यमान रहते सुख भी रहता, परन्तु सामग्री ज्यों की त्यों विद्यमान रहती है और सुख सूख जाता है। सुख प्रतिक्षण क्षीण होकर नीरसता में बदल जाता है। अतः कामना पूर्ति में सुख मानना भयंकर भूल है, घोर मिथ्यात्व है। सुख कामना के अभाव में है, निर्विकल्पता में है। निर्विकल्पता या दर्शन गुण ही चेतना का मुख्य गुण है।

निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति (बोध) का अन्तर

निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति में बहुत अन्तर है। स्थितिरूप निर्विकल्पता अनेक प्रकार से आती है, यथा- 1. निद्रा 2. जड़ता 3. मूर्च्छा 4. भोग्य पदार्थों की अज्ञानता 5. असमर्थता आदि कारण मुख्य हैं। 1. निद्रा से चित्त शांत-निर्विकल्प हो जाता है, ऐसी निर्विकल्पता जनित शान्ति हम सबको निद्रा में

प्रतिदिन होती है। 2. दवा के या इंजेक्शन के प्रभाव से शरीर के किसी अंग या पूरे शरीर को या मस्तिष्क को शून्य (सुन्न) कर देने से उसमें जड़ता आ जाती है। फिर उससे संबंधित विकल्प नहीं उठते हैं, ऐसी स्थिति अस्पताल में अनेक रोगियों में देखी जा सकती है। 3. वेदना या दर्द की अधिकता से असह्य स्थिति होने पर बेहोशी-मूर्च्छा आ जाती है। इससे भी निर्विकल्प-शान्ति की ही स्थिति आती है। 4. जब व्यक्ति या प्राणी को इन्द्रिय के भोग्य पदार्थों का ज्ञान या जानकारी नहीं होती है तो उसमें उन पदार्थों को पाने की कामना नहीं उठती है, इससे तत्सम्बन्धी विकल्प पैदा नहीं होते हैं। जैसे- अकबर और सम्राट् अशोक के युग में रेडियो, टेलीविजन, कार, वायुयान, मोबाईल पाने का संकल्प-विकल्प किसी के मन में नहीं उठता था। उस विकल्प के नहीं उठने से तत्सम्बन्धी कामना या अशान्ति किसी के मन में नहीं होती थी। जबकि आज एक गरीब भिखारी का चित्त भी मोबाईल के न मिलने के कारण अशान्त देखा जाता है। आशय यह है कि जो भोग्य पदार्थों के विषय में जितना कम जानता है, अनजान है, उसके उतनी ही कामनाएँ व विकल्प कम उठते हैं, उसकी अशान्ति में उतनी कमी होती है। मनुष्य से पशुओं का चित्त इसी कारण अधिक शान्त है और पशुओं से कीट-पतंग, कीट-पंतगों से वृक्ष आदि कम अशान्त हैं। यही कारण है कि मनुष्य से उनके कम कर्म बंधते हैं। जानकारी के कारण ही भवनपतियों के पास रहने वाले भवनहीन जीव नारकीय जीवन बिताते हैं। भवनपति उनके दुःख के निमित्त कारण बनते हैं। 5. जिन व्यक्तियों को भोग्य पदार्थों की जानकारी भी है, परन्तु उन्हें क्रय करना, प्राप्त करना उनके वश की बात नहीं है। ऐसी स्थिति में भी उनके मन में उन वस्तुओं को पाने का संकल्प, न मिलने का विकल्प नहीं उठता है। जैसे- एक भिखारी को कार पाने, बंगला बनाने का संकल्प-विकल्प नहीं होता है। इसका कारण यह नहीं है कि वह इन्हें नहीं चाहता है कारण कि आज भी उसकी सामर्थ्य क्रय करने व संभाल सकने की हो, व्यय वहन करने की हो अथवा कोई मुफ्त देनेवाला व व्यय वहन करने वाला मिल जाये, तो वह भी इन वस्तुओं को लेने को तैयार हो जायेगा।

निद्रा आदि उपर्युक्त कारणों से होने वाली निर्विकल्प स्थिति तो प्राणी के जीवन में होती ही रहती है। उससे शान्ति मिलती है। शक्ति का संचय भी होता है, परन्तु उस शान्ति और निर्विकल्पता का कोई महत्त्व नहीं है, जो निद्रा, जड़ता, मूर्च्छा, अज्ञानता और असमर्थता के कारण मिलती है। कारण कि ये सब स्थितियाँ जड़ता जनित हैं तथा चेतना के स्वभाव के विपरीत हैं, हानिकारक हैं।

साधना में महत्त्व है त्याग-तप के प्रभाव से कषाय के अनुदय से प्रकट चिन्मयता एवं अनुभव रूप निर्विकल्प बोध का। यह निर्विकल्प अनुभव दो प्रकार से होता है- १. कषायों के उपशम से एवं २. कषायों से क्षय से।

कषायों के उपशम से होने वाले निर्विकल्प अनुभव में सत्ता में कषायों के संस्कार रहते हैं, जो कुछ काल (अन्तर्मुहूर्त) पश्चात् उदय में आकर निर्विकल्पता को भङ्ग कर देते हैं। इसे जैनागम में उपशान्त मोहनीय कहा है।

कषाय के सर्वांश में क्षय से जो निर्विकल्प बोध (अनुभव) होता है, वह सदा के लिये हो जाता है, इसे क्षीण मोहनीय कहा है।

अत: निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति इन दोनों में बहुत अन्तर है। महत्त्व है निर्विकल्प अनुभूति का, निर्विकल्प स्थिति का नहीं। महत्त्व निर्विकल्पता का नहीं, विकल्पों के त्याग का है, निर्विकल्प बोध का है। त्यागजनित निर्विकल्पता का है, अनुभूति का है। यह सर्वविदित (सबकी अनुभूति) है कि कामना की अपूर्ति ही चित्त को अशान्त बनाती है। कोई भी कामना उत्पन्न होते ही पूरी नहीं हो जाती, उसकी पूर्ति श्रम पर, प्रयत्न पर निर्भर करती है। अत: प्रत्येक प्राणी को कामना पूर्ति के पूर्व कामना अपूर्ति की स्थिति से गुजरना पड़ता है। वह स्थिति चित्त की अशान्ति व विकल्प की द्योतक है, कामना उत्पत्ति व अपूर्ति चित्त के संकल्प-विकल्प की कारण बनती है।

इसलिये जहाँ कामना है, वहाँ अशान्ति है। जितनी अधिक कामनाएँ, उतनी ही अधिक अशान्ति। जितनी प्रबल कामनाएँ, उतनी ही प्रबल अशान्ति। कामनाएँ किसी भी कारण से उत्पन्न हों, वे चित्त को अशान्त बनाती हैं। इसीलिए कोई व्यक्ति बहुत अधिक कामनाएँ करता है, तो उसका चित्त घोर अशान्त हो जाता है। चित्त की यह स्थिति नारकीय है। इस संसार में इन्द्रिय सुख व भोग की सामग्री अगणित है। यदि कोई उन वस्तुओं को पाने की कामनाएँ करने लगे, तो मस्तिष्क इतना अधिक अशान्त हो जायेगा कि उसके मस्तिष्क की कोई भी स्नायु फटकर रक्तस्राव 'हेमरेज' हो सकता है, जिससे लकवा, पागलपन या मृत्यु भी हो सकती है। जहाँ विकल्प है, संकल्प है, कामना है, वहाँ अशान्ति है। निर्विकल्पता में ही शान्ति है, प्रसन्नता है।

वस्तुत: महत्त्व निर्विकल्प बोध का है। उसकी उपलब्धि कामना पूर्ति के सुख में दु:ख का अनुभव करने से होती है। जब सत्य के खोजी को इसका ज्ञान होता है

कि कामनापूर्ति का सुख, सुख नहीं है, सुखाभास है, पराधीनता, जड़ता में आबद्ध करने वाला है, अभाव के दु:ख एवं चित्त की अशान्ति को उत्पन्न करने वाला है, क्षणिक है, शक्ति का ह्रास करने वाला है, तब उसे इस सच्चाई का ज्ञान होता है कि दु:ख का कारण कमी नहीं है, कामना है। सुख, कामना पूर्ति में नहीं, कामना के अभाव में है। सुख, शान्ति एवं स्वाधीनता की प्राप्ति कामनापूर्ति में नहीं, कामना के त्याग में है। सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है। संसार का ऐसा कोई दु:ख नहीं है, जिसका कारण कामना पूर्ति के सुख का भोग न हो। इन तथ्यों का जब अनुभव के स्तर पर बोध होता है, तब कामना के उत्पन्न होने से होने वाली अशान्ति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उसे उस विकल्प व अशान्ति का दु:ख जब सहन नहीं होता है, तब साधक कामना की उत्पत्ति को दु:ख का कारण अनुभव कर कामना का त्याग करने को तत्पर होता है अर्थात् कामना न करने का दृढ़ निश्चय करता है। इससे सहज स्वत: निर्विकल्पता आती है। यह अनुभूति बाहरी कारणों से उत्पन्न न होकर अन्तर से प्रस्फुटित होती है। यह निर्विकल्पता, चिन्मयता, मुक्ति व स्वाधीनता को देने वाली है। इसमें साधक का सच्चा हित व कल्याण है। सुख भोग की कामना का त्याग ही सच्चा त्याग है, उसी का महत्त्व है।

सभी व्यक्ति प्रतिदिन मल-मूत्र आदि का विसर्जन करते ही हैं। नोट-सिक्के आदि मुद्रा देकर वस्तुएँ खरीदते हैं। दुकान पर ग्राहक अधिक आने पर कई दुकानदार भोजन छोड़ देते हैं। मृत्यु आने पर धन, संपत्ति, घर-परिवार, शरीर को छोड़ते हैं। परन्तु यह छोड़ना त्याग नहीं है। त्याग है- सुख-भोग को दु:खद जानकर भोग्य पदार्थों की कामना-ममता का त्याग करना और साथ ही वस्तुओं का भी त्याग करना। ऐसे ज्ञानपूर्वक त्याग से आविर्भूत निर्विकल्प बोध ही सच्ची निर्विकल्पता है। इसी का महत्त्व है। यही वास्तव में कल्याणकारी है। इसी में प्राणी का हित है।

दर्शन गुण का फल : चेतना का विकास

जीवन में मृत्यु का दर्शन कर लें तो अमरत्व की अनुभूति हो जाये। संयोग में वियोग का दर्शन कर लें, तो नित्य योग की अनुभूति हो जाये। विषय-सुख में दु:ख का अनुभव (दर्शन) कर लें, तो अनवरत अक्षय, अखण्ड अनन्त सुख की उपलब्धि हो जाये। विषयभोग में रोग (विकार) का दर्शन कर लें, तो निर्विकारत्व की, आरोग्य की, स्वस्थता की उपलब्धि हो जाए। अमरत्व, निर्विकारत्व, अक्षय,

अखण्ड, अनन्त सुख की अनुभूति होना ही शरीर, संसार व समस्त दुःखों से मुक्त होना है।

यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ देखना नहीं है। प्रत्युत संवेदनशीलता का अनुभव करना है। संवेदनशीलता का अनुभव शान्तचित्त में ही होता है। चित्त शान्त निर्विकल्पता से होता है। निर्विकल्पता कामना के अभाव से, चाह रहित होने से ही होती है। शान्त चित्त में ही विचार या विवेक का उदय होता है। इसीलिए जैनागम में दर्शन के विकास के साथ ज्ञान के विकास की बात कही है। जितना दर्शन का विकास होता है, उतनी ही संवेदनशीलता बढ़ती है। अर्थात् चेतना का विकास होता है। दर्शन का विकास होता है, कामना(चाह की इच्छा) के अर्थात् आर्तध्यान के त्याग से, प्रकारान्तर से कहें, तो मोह की कमी से। दर्शन के विकास से चेतना का विकास होता है एवं विवेक का उदय होता है। बुद्धि का उपयोग भोग भोगने में करना ज्ञान का विकास नहीं है। ज्ञान का विकास सत्य का दर्शन करने से अर्थात् सत्य का अनुभव करने से होता है। यह नियम है कि जितना-जितना सत्य का अनुभव होता जाता है, उतनी-उतनी जड़ता, पराधीनता, चिन्ता, खिन्नता छूटती जाती है। निश्चिन्तता, निर्भयता, चेतनता, स्वाधीनता, प्रसन्नता बढ़ती जाती है। यही जीवन है।

दर्शन-गुण निर्विकल्पता की उपलब्धियाँ

1. लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता में हर्ष-शोक न करना समता है। समता में निर्विकल्पता होती है। निर्विकल्पता ही दर्शन है। निर्विकल्पता से ही चिन्मयता, जागरूकता आती है, अर्थात् स्व-संवेदन से शरीर में स्थित चैतन्य के प्रदेशों की अनुभूति होती है। यही 'दर्शन' गुण या उपयोग का प्रकट होना है, दर्शनावरण का हटना है, क्षयोपशम है।
2. निर्विकल्पता है चित्त का शान्त होना। शान्त चित्त में ही विचार का, ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है।
3. राग-द्वेष न करने से निर्विकल्पता आती है। अतः राग-द्वेष या मोह के हटने या घटने से निर्विकल्पता आने से स्व-संवदेन रूप 'दर्शन' (गुण या उपयोग) तथा विचार का उदय रूप 'ज्ञान' (गुण या उपयोग) का प्रकटीकरण होता है।
4. निर्विकल्पता कामना रहित होने से आती है। कामना रहित होने से अभाव का अभाव होता है अर्थात् ऐश्वर्य प्रकट होता है, यही लाभान्तराय का क्षयोपशम है।

5. निर्विकल्पता से निज रस का आस्वादन-अनुभव होता है, यह भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

6. निज रस-आत्मानुभव का निरन्तर बना रहना उपभोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

7. निर्विकल्पता वहीं संभव है जहाँ कर्तृत्वभाव नहीं है अर्थात् जहाँ अप्रयत्न है एवं अक्रियता है। अप्रयत्न होना ही असमर्थता का अंत करना है। यह वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

8. निर्विकल्प साधक को अपने लिए संसार से कुछ नहीं चाहिये। उसका सारा जीवन जगत् के हित या कल्याण के लिए होता है। उसके हृदय में करुणा का सागर उमड़ता रहता है, यही दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय है।

9. निर्विकल्पता निर्दोषता की द्योतक है। यही चारित्र मोहनीय का उपशम या क्षय रूप चारित्र है।

10. निर्विकल्पता में 'यथाभूत तथागत' का अर्थात् जो जैसा है, उसे वैसा ही अनुभव करने रूप (बोध, विज्ञान) सत्य का साक्षात्कार होता है। यही सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि निर्विकल्पता या समता से चैतन्य के नव गुणों या नौ उपलब्धियों का प्रकटीकरण होता है। यही नव क्षायिकभाव, चेतना के मुख्य गुण हैं। निर्विकल्पता या समता (समभाव) ही सामायिक है। यही ध्यान है, यही साधना है, यही मुक्ति का मार्ग है।

11. कर्म-सिद्धान्तानुसार जितनी-जितनी निर्विकल्पता स्थायी होती जाती है, उतनी-उतनी समता पुष्ट होती जाती है। समता में स्थित रहना ही धर्म-साधना है, धर्म ध्यान है तथा जितना राग-द्वेष कम होता जाता है उतने-उतने दुष्कर्मों (पापों) के स्थिति व अनुभाग घटते जाते हैं अर्थात् कर्मों की निर्जरा होती जाती है।

12. दर्शन गुण की परिपूर्णता ही प्रकट होना (केवल दर्शन) ही स्वरूप में अवस्थित होना है, साध्य को प्राप्त करना है।

जीव के प्रकार

जीव दो प्रकार के हैं-

संसारत्था या सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया

- उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ गा. ४४

अर्थात् संसारस्थ और सिद्ध दो प्रकार के जीव हैं। सर्वथा कर्मयुक्त आत्मा को सिद्ध कहते हैं और संसार में स्थित आत्मा कर्मों से बंधा होता है उसे संसारस्थ (संसारी) कहते हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं-

संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया तसा थावरा चेव।।

- उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ गा. ६८

अर्थात् संसारी जीव दो प्रकार के हैं- त्रस और स्थावर।

जिसमें जानने, देखने (अनुभव) करने की शक्ति हो, चेतना गुण हो, वह जीव है। जीव के १४ भेद हैं:-

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया य सवितिचउ।

अपज्जत्ता पज्जत्ता, कमेण चउदस जिअ ठाणा।।

अर्थ - १. एकेन्द्रिय सूक्ष्म, २. एकेन्द्रिय बादर, ३. द्वीन्द्रिय, ४. त्रीन्द्रिय, ५. चतुरिन्द्रिय, ६. असंज्ञी पंचेन्द्रिय और ६. संज्ञी पंचेन्द्रिय इन सात प्रकार के जीवों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता कुल १४ प्रकार के जीव हैं।

संज्ञी-असंज्ञी - जैन दर्शन में मन वाले जीव संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं वे जीव असंज्ञी कहलाते हैं। सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता जीव असंज्ञी ही होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी और संज्ञी दोनों प्रकार के होते हैं। इनमें संज्ञी पंचेन्द्रिय का पर्याप्ता और अपर्याप्ता जीव संज्ञी है। शेष बारह प्रकार के जीव असंज्ञी हैं।

पर्याप्ता और अपर्याप्ता - पर्याप्तिः नाम शक्तिः। अर्थात् वह विशेष शक्ति जिससे जीव पुद्गल को ग्रहण करके उन्हें आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि रूपों में परिणत करता है, पर्याप्ति कही जाती है। पर्याप्ति ६ हैं:- आहार सरीरिन्दिय-पज्जती-आण-पाण-भास-मणे। अर्थात् १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ५. भाषा पर्याप्ति और ६. मन पर्याप्ति। ये ६ पर्याप्तियाँ हैं।

उपर्युक्त पर्याप्तियों में पहले की चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीव में मिलती है। छः ही पर्याप्तियाँ केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय में मिलती है। शेष पांच पर्याप्ति द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में मिलती है।

जिस जीव में जितनी पर्याप्ति होनी चाहिए जब तक उतनी पर्याप्ति पूर्ण नहीं कर पाता है, तब तक उसे अपर्याप्त कहते हैं। जब जीव अपने प्राप्त करने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेता है, तब वह जीव पर्याप्त कहा जाता है।

जीव के लक्षण

नाणं च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं।।

– उत्तराध्ययन अ. २८–११

अर्थ– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग जिसमें हो, उसे जीव कहते हैं। ये सत्ता की अपेक्षा सब जीवों में है, परन्तु संसारी जीवों में घाति कर्मों के बंध से इन गुणों का घात होता है और कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार इनका न्यूनाधिक प्रकटीकरण होता है। इनका विशेष वर्णन लेखक की 'बंध तत्त्व' पुस्तक में पठनीय है।

जैन दर्शन में वर्णित एकेन्द्रिय जीवों के पाँच भेद प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने 'विज्ञान के आलोक में पृष्ठ ९ से १४२ तक जीव तत्त्व का विवेचन किया है। आत्मा का अस्तित्व का विवेचन पृष्ठ ९ से १३ तक किया है। इसके पश्चात् १. पृथ्वीकाय, २. अपकाय, ३. तेउकाय, ४. वायुकाय और ५ वनस्पति काय का विवेचन किया है। लेखक ने इनमें में से प्रथम चार भेदों की सजीवता को प्रमाणित करने का विवेचन (पृ. १४ से ३५) बीस से अधिक पृष्ठों में किया है। इसके पश्चात् वनस्पतिकाय की सजीवता का विवेचन है।

वनस्पतियाँ हलते–चलते जीव–जन्तुओं, कीट–पतंगों, पशु–पक्षियों व मानवों का आहार भी करती हैं। वनस्पति–विज्ञान में ऐसी वनस्पतियों को मांसाहारी वनस्पतियाँ कहा गया है। इनके विस्तृत वर्णन से वनस्पति–शास्त्र भरे पड़े हैं।

मांसाहारी–वनस्पतियाँ – इनके सर्वाधिक जंगल आस्ट्रेलिया में हैं। इन जंगलों को पार करते हुए मनुष्य इन विचित्र वृक्षों को देखने के लिए जैसे ही इनके पास जाते हैं, इन वृक्षों की डालियाँ और जटाएँ इन्हें अपनी लपेट में जकड़ लेती हैं जिनसे छुटकारा पाना सहज कार्य नहीं है।

तस्मानिया के पश्चिमी वनों में 'होरिजिंटल स्क्रब' नामक वृक्ष होता है। यह आगन्तुक पशु–पक्षी व मनुष्य को अपने क्रूर पंजों का शिकार बना लेता है। यहाँ

तक कि यदि कोई घुड़सवार भी इसके पास से गुजरे तो यह उसे भी अपना आहार बना लेता है। (पृष्ठ ७३)

'अफ्रीका महाद्वीप तथा मेडागास्कर द्वीप के सघन जंगलों में कहीं-कहीं मानवभक्षी वृक्ष मिलते हैं, जो मनुष्यों और जंगली जानवरों को अपना शिकार बनाते हैं। कहा जाता है कि एक मनुष्य-भक्षी वृक्ष की ऊँचाई २५ फुट तक होती है। ये शाखाएँ १-२ फुट लम्बे कांटों से भरी रहती हैं। इस प्रकरण में मांसाहारी वनस्पतियों का विस्तार से विवेचन है। (पृष्ठ ७५)

कीट-भक्षी-पौधे - ये पौधे कीड़े-मकौड़े पकड़कर खाते हैं। युट्रीकुलेरियड इसी जाति का पौधा है। यह उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड, भारत तथा कुछ अन्य देशों में पाया जाता है।

'बटर-वार्ट पौधा भी कीड़ों को पकड़ने व खाने की कला में बड़ा प्रवीण होता है। बटरवार्ट के फूल बहुत सुन्दर होते हैं और इसके सम्पर्क में आने वाला बेचारा कीट यह कल्पना भी नहीं कर पाता कि इतने रंग-बिरंगे सुन्दर फूलों वाला यह पौधा प्राणघातक भी हो सकता है। (पृष्ठ ७४)

विशेष ज्ञातव्य

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'विज्ञान के आलोक में जीव-अजीव तत्त्व' में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है।

पुस्तक के प्रारम्भ में पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय की सजीवता की विज्ञान से पुष्टि की गई है। (पृ. १४ से ३५)

इसके पश्चात् वनस्पति में संवेदनशीलता नामक प्रकरण में पृष्ठ ३६ से ११५ तक लगभग ८० पृष्ठो में दिया गया है जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक यंत्र गेल्वोमीटर और पोलीग्राफ आदि से सिद्ध हुआ कि वनस्पति में १. सच-झूठ पहचानना, २. सहानुभूति होना] ३. दयार्द्र होना, ४. हत्यारों को पहचानना आदि अनेक क्षमताएँ हैं।

विज्ञान जगत में सजीवता की सिद्धि दश विशेषताओं से होती है यथा-१. सचेतनता, २. स्पंदनशीलता, ३. शारीरिक गठन, ४. भोजन, ५. वर्धन, ६. श्वसन, ७. प्रजनन, ८. अनुकूलन, ९. विसर्जन, १०. मरण। तदनन्तर आगे ८ पृष्ठों में इनका प्रयोगात्मक विश्लेषण करके वनस्पति कार्य की सजीवता का विवेचन किया गया

है। तत्पश्चात् वनस्पतिकाय के आगमानुसार भेद-प्रभेद को वैज्ञानिक प्रमाण से सिद्ध किया गया है। इसका विस्तृत वर्णन देखने के लिए लेखक की पुस्तक 'विज्ञान के आलोक में जीव-अजीव तत्त्व' (पृष्ठ ४३ से ५२ तक) का अवलोकन किया जा सकता है।

तत्पश्चात् वनस्पति के भेदों का विवेचन किया गया है। वनस्पति में आहार, भय मैथुन और परिग्रह ये चारों संज्ञाएँ विद्यमान हैं। इनमें आहारसंज्ञा पर स्थानांग, जीवाभिगम, पन्नवणापद, भगवती आदि जैन सूत्रों में प्रतिपादित रोमाहार, ओजाहार के उद्धरणों को उदाहरणों से (पृष्ठ ६० से ८६ तक) प्रस्तुत किया गया है। इसमें वनस्पति द्वारा वनस्पति का आहार (अमरवेलादि) करती है। भयसंज्ञा में वनस्पति द्वारा भयभीत होना और अपनी रक्षा का उपाय करना, मैथुन संज्ञा में गर्भाधान आदि और परिग्रह संज्ञा में वनस्पति द्वारा संग्रह वृत्ति का उदाहरण है।

वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चारों कषाय होने के प्रमाण एवं उदाहरण पृष्ठ ७६ से १०० तक दिए हैं। 'वनस्पति में उपयोग' प्रकरण में मति-श्रुत ज्ञान, अचक्षु दर्शन आदि के प्रमाण एवं उदाहरण पृष्ठ १००-१०५ तक दिए हैं। वनस्पति में कृष्ण, नील, कपोत और तेजस लेश्याओं के उदाहरणस प्रमाण पृष्ठ १०५ से १०९ तक दिए हैं। वनस्पति में आयु (४६०० वर्ष के वृक्ष), ऊँचाई ५०० फुट, उद्योत नाम कर्म आदि विशेषताओं का वर्णन पृष्ठ १०९-११२ तक है। इस प्रकार वनस्पति में सजीवता संवेदनशीलता के प्रमाण एवं उदाहरण पृष्ठ ३६ से ११५ तक में है।

त्रसकाय का विवेचन पृष्ठ ११६-१३९ तक है, इसमें कंटक-कवच, राडार मछली, टेलीफोन-खरगोश, जेट-झींगा, विद्युत मछली, एरियल एडमिरल, कटार टिंगर, विषदर्शी-मक्खी, शिकारी हेरी-हुदहुद, गैस चालक स्कंक, बख्तरबन्द कछुआ, पनडुबी ह्वेल, ऐनकधारी मेंढक, मकड़ी का मायाजाल, कपटी कोयल, जेबधारी कंगारु, वास्तुशिल्पी शकुनी, भारवाही चींटिया, समाधिधारी सर्प, गति का धनी गरुड़, विलक्षणज्ञानी पक्षी, वैक्रिय रूपधारी गिरगिट, बुद्धिमत्ता कठफोड़वा वार्तालाप पशु-पक्षियों का आदि के उदाहरण हैं।

उद्योत नाम कर्म प्रकरण में प्रदीपी वनस्पतियाँ एवं त्रसजीव, नाक्टील्यूका, जेलीफिश, सिप्रिडाइगा, ग्रव, लालटेन मछली, जुगनू आदि के उदाहरण हैं। त्रसकाय में लेश्या, ज्ञान-दर्शन उपयोग आदि का विवेचन एवं उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

अजीव तत्त्व का स्वरूप

जो चेतना गुण से रहित हो, सड़न, गलन, विध्वंसन स्वभाव वाला हो, वर्ण, बंध, रस, स्पर्श से युक्त हो, ज्ञान-दर्शन उपयोग से हीन हो, जड़त्व युक्त हो, जीवत्व से विहीन हो उसे अजीव कहते हैं।

अजीव के पाँच भेद

धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गल जंतवो।

एस लोगुत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसीहि।।

– उत्तराध्ययन अ. २८ गा. ७

अर्थात् – धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांच अजीव द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य को मिलाकर कुल छह द्रव्यरूप यह 'लोक' है।

अजीव के भेद:-

धम्माऽधम्माऽऽगासा, तिअतिअ भेया तहेव अद्धाय।

खंध, देस पएस परमाणु अजीव चउदसहा।

अर्थात् – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशस्तिकाय इन तीनों के स्कन्ध, देश और प्रदेश रूप से ९ भेद होते हैं। काल का एक भेद है एवं पुद्गल के स्कंध, देश, प्रदेश और प्रमाणु ये चार भेद हैं। ये सब मिलकर अजीव के १४ भेद हैं।

धम्माऽधम्मा पुग्गल, नह कालो पंच हुंति अजीवा।

चलण-सहावो धम्मो, थिर-संठाणे अहम्मो य।।

अवगाहो आगासं, पुग्गल जीवाण पुग्गला चउहा।

खंधा देस पएसा, परमाणू चेव नायव्वा।।

अर्थ – धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पांच अजीव द्रव्य हैं। जो चलने में सहायक निमित्त बनती है, वह धर्मास्तिकाय है। जो स्थिर होने में सहायक निमित्त बनती है, वह अधर्मास्तिकाय है। जो जीव और पुद्गल का स्थान देने में सहायक है वह आकाशास्तिकाय है। वर्तन-परिवर्तन काल का लक्षण है। पूरण, गलन, विध्वंसन गुणवाला पुद्गल है।

आधुनिक विज्ञान में 'ईथर' द्रव्य में और धर्मास्तिकाय में समानता है। विज्ञान जगत में आकर्षण शक्ति का एक रूप, गुरुत्वाकर्षण का क्षेत्र सामने आया है जिसमें

अधर्मास्तिकाय के प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। आकाशास्तिकाय और काल का वैज्ञानिक रूप में विवेचन पुस्तक में किया गया है।

विज्ञान में पुद्गल के ठोस, द्रव्य, वायव्य और ऊर्जा - ये चार रूपों को परमाणु से निर्मित ही मानता है। विज्ञान की दृष्टि में मौलिक द्रव्य वह है जिसमें अन्य द्रव्य का मिश्रण नहीं है। हाइड्रोजन, हीलियम आदि १०३ तत्त्व मानता है। जो परमाणु के ही रूप हैं। पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु, स्थूल-सूक्ष्म के छह भेद-प्रभेद, पुद्गल की विशेषताएँ-गतिशीलता अप्रतिघातित्व, परिणामी-नित्यत्व, सघनता-सूक्ष्मता आदि का वैज्ञानिक समर्थन किया गया है।

तत्पश्चात् 'पुद्गल की विशिष्ट पर्याय' प्रकरण में पुद्गल का वर्णन करते हुए कहा है-

सद्दंधयार उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवे इ य।

वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाण तु लक्खणं।। उत्तराध्ययन २८.१२

अर्थात् - शब्द, अंधकार, उद्योम, प्रभा, छाया, आतप वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये सब पुद्गल के लक्षणों का विज्ञान के परिप्रेक्ष्य विस्तार से विवेचन किया गया है:-

ध्वनि के विविध उपयोग, चिकित्सा में उपयोग, छाया चित्रांकन में उपयोग कपड़े धोने में उपयोग, इलेक्ट्रोनिक उपयोग, तीन प्रकार के शब्द, अजीव शब्द, रेत का गीत गाना आदि शब्द की गति, भाषा के भिन्न और अभिन्न रूप, तम और छाया, प्रभा, उद्योत, आतप आदि का लगभग ३० पृष्ठों में विस्तार से वैज्ञानिक निरूपण है।

इस प्रकार १०० से अधिक पृष्ठों में अजीव द्रव्य का वर्णन है। विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की पुस्तक 'विज्ञान के आलोक में जीव-अजीव तत्त्व' का अवलोकन किया जा सकता है।

विशेष ज्ञातव्य (अजीव तत्त्व)

विशेष जानकारी के लिए पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'जीव-अजीव तत्त्व' में निम्नांकित प्रकरण पठनीय हैं।

अजीत तत्त्व में- १. धर्मास्तिकाय-ईथर, २. अधर्मास्तिकाय-गुरुत्वाकर्षण आदि, ३. आकाशास्तिकाय, ४. कालद्रव्य - इन चारों का विवेचन विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में पृष्ठ १४३ से १६४ तक पुद्गलद्रव्य का वर्णन पृष्ठ १६५ से २४१ तक ७७ पृष्ठों में दिया गया है। जिसका वर्णन निम्न प्रकार है-

इसमें विज्ञान की दृष्टि में पुद्गल द्रव्य एवं तत्त्व, स्कन्ध-देश-प्रदेश, परमाणु, स्कन्ध के भेद, अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म एवं अति सूक्ष्म ये छह भेद बताए हैं।

परमाणु का वैज्ञानिक रूप, पुद्गल शक्ति, पुद्गल बंध, द्रव्य, गुण, पर्याय, पुद्गल के गुण-वर्णन, गंध, रस, स्पर्श।

पुद्गल की विशेषताएँ- गतिशीलता, अप्रतिघातित्व, परिणामी-नित्यत्व, सघनता- सूक्ष्मता की विज्ञान से पुष्टि की है।

पुद्गल की पर्यायें (अवस्थाएँ) - जैन दर्शन की वैज्ञानिकता, शब्द पर्याय, ध्वनि के विविध प्रयोग, चिकित्सा में उपयोग, छाया चित्रांकन में उपयोग, कपड़े धोने में उपयोग, इलैक्ट्रोनिक संगीत, रेत का गीत, मिश्र शब्द, भाषा पुद्गल, शब्द का वर्गीकरण, शब्द की गति, भाषा के अभिन्न और भिन्न रूप, तम और छाया, प्रभा-उद्योत, आतप-ताप इन समस्त विषयों के विवेचन में वैज्ञानिक सिद्धान्त, प्रयोग, उदाहरण, प्रमाण से पुष्टि की गई है।

जीव-अजीव द्रव्य और जीव-अजीव तत्त्व में अन्तर

जीव एवं अजीव द्रव्य का प्रतिपादन लोक में इनकी अवस्थिति की दृष्टि से किया गया है। इसमें यह भी प्रतिपादन किया गया है कि द्रव्य में गुण होता है एवं उसकी पर्याय होती है। तत्त्व शब्द भाववाचक है। इसमें जीव-अजीव तत्त्व का विवेचन बन्धन एवं मुक्ति की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से किया गया है।

द्रव्य वस्तु के बाह्याकार प्रकार-आकृति-प्रकृति का वर्णन करता है, भाववाचक तत्त्व-शब्द का संबंध जीव से है। जीवत्व, चेतनत्व (चिन्मयता) और अजीवत्व (जड़ता अचेतनता) की वास्तविकता का भावात्मक अनुभवात्मक ज्ञान भेद विज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के अभाव में कोई कितना भी संसार के विषय में ज्ञानार्जन करे वह मिथ्याज्ञान अज्ञान ही होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् संसार के विषय में कोई कुछ भी जाने, कुछ भी मान्यता रखे, वह उसका उपयोग विकार दूर करने में ही करेगा। अतः वह सम्यक्ज्ञान में परिणत होगा। मिथ्यादृष्टि जो भी पढ़ेगा उसका उपयोग-भोग सामग्री संग्रहित करने, भोग भोगने में करेगा। अतः महत्त्व उस ज्ञान का है जो संसार से शरीर से संबंध विच्छेद करने, विरति उत्पन्न करने में सहायक हो। अतः साधक के लिए जिस साधना से वह अंतर्मुखी हो स्व-संवेदन के रूप में जड़ से चेतन की पृथक्ता का स्पष्ट अनुभव करे, चैतन्य के

विलक्षण रस का अनुभव करे जिससे विषय-सुख, विष रूप दु:खद लगे और उनके त्यागने के तीव्र उत्कण्ठा जगे। क्योंकि जो क्रिया जिस लक्ष्य से की जाती है, वह उसी लक्ष्य की अंग होती है। मिथ्यात्वी की सब क्रिया मिथ्यात्व का पोषण करने वाली होती है।

आमुख *

(जीव-अजीव तत्त्व पुस्तक से उद्धृत भूमिका)

- डॉ० धर्मचन्द जैन

पं. श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा जैन आगम एवं कर्मसिद्धान्त के पारम्परिक विद्वान् होने के साथ एक प्रतिभासम्पन्न तत्त्व-चिन्तक, अध्यात्म-साधक, नये अर्थों के अन्वेषक एवं प्रज्ञासम्पन्न पुरुष हैं। उनके जीवन में राग-द्वेष का निवारण करने की बात ही प्रमुख रहती है। धर्म को भी वे उसी दृष्टि से देखते है। धर्म का फल है- वीतरागता, शान्ति, मुक्ति एवं प्रेम। इस धर्म को जीवन में अपनाने के साथ वे कामना, ममता एवं अहंता के त्यागपूर्वक दु:ख से मुक्त होने की प्रेरणा करते हैं। बचपन से आप सत्य के अन्वेषक एवं पोषक रहे हैं। अपनी जिज्ञासावृत्ति के कारण आपने गणित, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान आदि विविध विषयों का रुचिपूर्वक गहन अध्ययन किया है। अभी भी आप बी.बी.सी. एवं वायस ऑफ अमेरिका के ज्ञान विज्ञान से सम्बद्ध समाचार नियमित रूप से सुनते हैं।

आधुनिक युग में विज्ञान के प्रति लोगों का रुझान बढ़ा है। आगम में कहे गए तथ्यों का परीक्षण भी वे विज्ञान के आधार पर करने लगे हैं। यही नहीं, युवा पीढ़ी का आगमों के प्रति आकर्षण समाप्तप्राय: हो गया है। धर्म की अपेक्षा उनकी श्रद्धा वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं की ओर बढ़ने लगी है। ऐसी स्थिति में आगम को विज्ञान के प्रकाश में देखना अत्यन्त आवश्यक है। श्री लोढ़ा सा. ने इस दिशा में प्रयास कर 'विज्ञान एवं मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में धर्म' नाम से एक पुस्तक भी लिखी, जिसकी पाण्डुलिपि पुरस्कृत हुई, किन्तु वह अप्रकाशित रूप में ही लुप्त हो गई। उसी पुस्तक के एक अंश रूप में यह पुस्तक है- जीव-अजीव तत्त्व।

इस पुस्तक में जैन आगमों में निरूपित जीव एवं अजीव द्रव्यों के स्वरूप को विज्ञान के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। जीवाभिगम, प्रज्ञापना, स्थानांग आदि सूत्रों में जीव एवं अजीव का विस्तृत निरूपण है। जैन दर्शन में मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का आराधन अनिवार्य है और

सम्यग्दर्शन आदि के लिए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष सहित नव तत्त्वों को जानना एवं उन पर श्रद्धान करना आवश्यक है। लेखक ने सभी नवतत्त्वों पर लेखन किया है। उनमें सबसे प्रथम जीव एवं अजीव तत्त्व पर यह पुस्तक प्रकाशित है। आगे पुण्य-पाप, आस्रव-संवर आदि तत्त्वों पर भी पुस्तक प्रकाशित करने का लक्ष्य है।

जीव एवं अजीव ये दो तत्त्व प्रमुख हैं। पुण्य-पाप आदि शेष सात (तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार आस्रव, संवर आदि पाँच) तत्त्व जीव एवं अजीव के संयोग एवं वियोग से ही निष्पन्न होते हैं। जीव एवं अजीव द्रव्य भी हैं तथा 'तत्त्व' भी। तत्त्व भाव रूप होते हैं तथा द्रव्य सत् रूप। मुक्ति के लिए तत्त्व को समझना आवश्यक है, तथापि भौतिक युग में द्रव्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए इस पुस्तक में जीव एवं अजीव का वर्णन द्रव्य के रूप में ही अधिक हुआ है।

विज्ञान के अनुसार संसार के समस्त पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- १. सजीव और २. निर्जीव। जिन पदार्थों में चेतनता, स्पन्दन शीलता, श्वसन आदि क्रियाओं के साथ आहार ग्रहण करने, बढ़ने, प्रजनन करने जैसी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं वे सजीव कहे जाते हैं तथा शेष समस्त पदार्थ निर्जीव माने गए हैं। जैन आगमों में जीव का प्रमुख लक्षण ज्ञान एवं दर्शन अर्थात् जानना एवं संवेदनशील होना है, किन्तु विज्ञान के द्वारा निर्धारित अन्य लक्षण भी जीव में स्वीकार करने में जैनागमों को आपत्ति नहीं है। परन्तु वे लक्षण संसारी जीवों पर ही लागू होंगे, सिद्ध अथवा मुक्त जीवों पर नहीं।

आगम के अनुसार जीव दो प्रकार के हैं- संसार और सिद्ध। विज्ञान के द्वारा निर्धारित लक्षण संसारी जीवों पर ही लागू होते हैं, सिद्ध जीवों पर नहीं। अभी वैज्ञानिकों को आत्म-तत्त्व अथवा शरीर से भिन्न जीव-तत्त्व का प्रतिपादन करना शेष है, क्योंकि आत्मा अरूपी एवं अपौद्गलिक होने के कारण पौद्गलिक प्रयोगों की पकड़ में नहीं आता, तथापि परामनोविज्ञान जैसी वैज्ञानिक शाखाएं आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं।

जीव के भेदों का जैनदर्शन में विविध रूपों में निरूपण है। गति की दृष्टि से संसारी जीव चार प्रकार के हैं- नरकगति में रहने वाले, तिर्यंचगति में रहने वाले, मनुष्यगति में रहने वाले और देवगति में रहने वाले। इन्द्रियों की दृष्टि से वे पाँच प्रकार के हैं- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय। स्थावर एवं

त्रस के भेद से ये जीव दो प्रकार के भी हैं, किन्तु लेखक ने काया की दृष्टि से प्रतिपादित छह भेदों को प्रमुखता देकर उनका क्रमशः निरूपण किया है। वे छह भेद हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इनमें से पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवों में एक स्पर्शनेन्द्रिय पायी जाती है तथा ये स्थावर कहे जाते हैं। इनमें से वायु एवं तेजस् के गतिशील होने के कारण इन्हें किसी अपेक्षा से त्रस कहा गया है (तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः- तत्त्वार्थ सूत्र) अन्यथा द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव ही त्रस कहे जाते हैं। गतिशील होने के कारण अन्य दर्शनों में इन्हें जंगम कहा गया है।

वनस्पतिकाय में आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह रूप चार संज्ञाओं, क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों, कृष्णादि चार लेश्याओं की भी लेखक ने विविध वैज्ञानिक उदाहरण देकर पुष्टि की है। पेड़-पौधे कितने संवेदनशील होते हैं यह इस पुस्तक में भली भांति पुष्ट हुआ है। पेड़-पौधों में पायी जाने वाली विचित्र विशेषताएँ भी रोचक बन पड़ी हैं। कुछ पेड़-पौधे सच-झूठ को पहचानते हैं तथा मनुष्य की भांति सहानुभूति दिखा सकते हैं।

अजीव द्रव्य पांच प्रकार का है- धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इनमें से काल अप्रदेशी है तथा शेष चार द्रव्य अस्तिकाय रूप हैं। धर्म द्रव्य गति में सहायक निमित्त है, अधर्म द्रव्य स्थिति में सहायक निमित्त है, आकाश समस्त द्रव्यों को स्थान देता है तथा काल वर्तना लक्षण युक्त है। **धर्मद्रव्य की समता ईथर से, अधर्मद्रव्य की समता गुरुत्वाकर्षण से की गई है। आकाश एवं काल विज्ञान के लिए अपरिचित नहीं है, किन्तु आकाश के आगमिक वर्णन एवं वैज्ञानिक वर्णन में अनुपम समानता है, इसका आभास इस पुस्तक से पाठकों को अवश्य होगा। जैनधर्म में काल की सूक्ष्मतम इकाई 'समय' है जो वर्तमान आणविक घड़ियों से मापे गए सूक्ष्मतम काल से भी छोटा है। लेखक ने काल का अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है।**

'पुद्गल' जैन दर्शन का ऐसा पारिभाषिक शब्द है जिसके अन्तर्गत विज्ञान सम्मत समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है। आगमों में उस प्रत्येक द्रव्य को पुद्गल कहा गया है जो वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श से युक्त होता है। यह एक परमाणु से लेकर एक स्कन्ध तक हो सकता है। सबमें वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं। पर्याय परिवर्तन की दृष्टि से एक द्रव्य दूसरे वर्ण, रस, गन्ध एवं

स्पर्श में अथवा स्वयं के वर्णादि में परिवर्तित होता रहता है। विज्ञान में द्रव्य की तीन अवस्थाएं स्वीकार की गई है- ठोस, द्रव्य और गैस। एक द्रव्य 'जल' पर्याय परिवर्तन के कारण तीनों अवस्थाओं को ग्रहण कर सकता है। बर्फ की पर्याय में वह ठोस, जल की पर्याय में द्रव्य तथा भाप की पर्याय में गैस अवस्था को धारण कर लेता है।

पुद्गल की शक्ति भी पुद्गल की एक पर्याय है। उसमें भी द्रव्यमान होता है। कर्म के रूप में पुद्गलों का ही आत्मा से बंध होता है। बंध में स्निग्धता एवं रूक्षता को जैनदर्शन निमित्त मानता है तो विज्ञान में धन विद्युत एवं ऋण विद्युत स्वीकार की गई है। पुद्गल में गतिशीलता, अप्रतिघातित्व, परिणामी-नित्यत्व आदि विशेषताओं का उल्लेख करने के साथ श्रीयुत लोढ़ा सा. ने शब्द, अन्धकार, उद्योत, छाया, आतप आदि पौद्गलिक पर्यायों का भी विस्तार से वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार यह पुस्तक जैन दर्शन के अनुरूप जीव एवं अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन करने के साथ विज्ञान से उनकी तुलनात्मक महत्ता भी प्रस्तुत करती है। इसमें अनेक रोचक वैज्ञानिक तथ्यों एवं प्रयोगों की भी चर्चा है, फलतः यह पाठकों का ज्ञानवर्द्धन करने के साथ चिन्तन एवं अनुसंधान की एक नई दिशा प्रदान करती है, जिससे विज्ञान एवं आगम के पारस्परिक अध्ययन का द्वार खुलता है, जो युग की मांग के अनुकूल है।

❑❑❑

पुण्य-पाप तत्त्व

पुण्य तत्त्व : स्वरूप और महत्त्व

पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम् अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। यह परिभाषा प्राचीन काल से सभी जैनाचार्यों को मान्य है यथा-

पुण्यं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाण।

सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया।।

- तिलोयपण्णत्ति, गाथा 8

अर्थ- पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य और मंगल ये सब समानार्थक पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं।

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। - सर्वार्थसिद्धि (६/३)

अर्थ- जो आत्मा को पवित्र करता है या जिस (कार्य) से आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यं शुभं कर्म। - स्थानांग-अभयदेवसूरिवृत्ति

अर्थ- जो आत्मा को पवित्र करता है वह शुभ कर्म पुण्य है।

सम्मत्तेण सुदणाणेण य विरदीए कसायनिग्गहगुणेहिं जो परिनणदो सो पुण्णो।।

- मूलाचार, गाथा २३४

अर्थ- जो सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति (महाव्रत-संयम), कषायनिग्रह रूप गुणों में परिणत होता है, वह पुण्य है।

रयणतयरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।

इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो।। – रयणसार ६५

रत्नत्रय, आर्य (शुभ-श्रेष्ठ) कर्म, दया आदि धर्म इत्यादि भावों से युक्त होकर जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

'पुण' शुभे इति वचनात् पुणति शुभीकरोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।

– अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग ५ पृ. ९९१

अर्थात् पुण्य शुभ है, जो आत्मा को शुभ करता है, पुनीत व पवित्र करता है वह पुण्य है।

आशय यह है कि जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। आत्मा शुभयोग की प्रवृत्ति और अशुभयोग की निवृत्ति इन दोनों से पवित्र होती है। दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, विनम्रता, मृदुता मैत्री, उपकार, सेवा आदि सभी सद्प्रवृत्तियों से आत्मा पवित्र होती है एवं संयम, संवर, तप, व्रत प्रत्याख्यान आदि त्याग रूप निवृत्ति से भी आत्मा पवित्र होती है। अतः पुण्य का उपार्जन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से होता है।

सद्प्रवृत्तियाँ मन, वचन, तन तथा सद्व्यवहार से होती है जैसा कि कहा है–

अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लयणपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वयणपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे। – ठाणांग सूत्र, नवम ठाणा

अर्थात् अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयण पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ये नव प्रकार के पुण्य हैं।

इन नौ प्रकार के पुण्यों में प्रथम पांच पुण्य वस्तुओं के दान से सम्बन्धित हैं। प्राणियों एवं मानव की मूलभूत आवश्यकताएं पाँच हैं- भूख, प्यास, निवास, विश्राम और वस्त्र। इन आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से प्राणी दुःखी रहते हैं। इन दुःखों को दूर करने के लिए भूखे को भोजन खिलाना, प्यासे को पानी पिलाना, रहने को स्थान देना, विश्राम में सहायता करना, पहनने को वस्त्र देना ये पांच पुण्य वस्तुओं से संबंधित हैं। मन से दूसरों का भला विचारना व सच्चिंतन करना मन पुण्य है। वचन से हितकारी वचन बोलना व सत् चर्चा करना वचन पुण्य है। काय

से साधु, रोगी, बालक, वृद्ध एवं असहाय लोगों की सेवा करना काय पुण्य है। सब प्राणियों के प्रति नम्रता का व्यवहार करना नमस्कार पुण्य है।

उपर्युक्त सद्प्रवृत्तियों में दूसरों के हित के लिए अपने विषय सुखों की स्वार्थपरता का त्याग करना होता है। त्याग से आत्मा का उत्थान होता है, आत्मा पवित्र होती है। अतः इन्हें पुण्य कहा जाता है। यही कारण है कि जितना संयम, त्याग, तप बढ़ता जाता है, उतनी ही पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है।

पुण्य के विभिन्न रूप

पुण्य शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में होता है यथा- पुण्यतत्त्व, पुण्य भाव, पुण्यप्रवृत्ति, पुण्य आस्रव, पुण्य कर्मों का बंध (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश), पुण्य का फल आदि। आगे इन्हीं का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

पुण्यतत्त्व- जिन भावों एवं क्रियाओं से आत्मा पवित्र होती है उन्हें पुण्य कहते हैं। यह पुण्यतत्त्व दो प्रकार का होता है यथा- भावात्मक और क्रियात्मक।

भावात्मक पुण्यतत्त्व- जिन भावों से आत्मा पवित्र होती है वे भावात्मक पुण्य हैं। आत्मा पवित्र होती है कषाय में कमी होने से; अहिंसा, संयम, तप, त्याग से, विषयों के प्रति वैराग्य से और करुणा, अनुकंपा आदि भावों से। ये सब भाव आत्मा को पवित्र करने वाले होने से पुण्य रूप हैं।

क्रियात्मक पुण्यतत्त्व- कषाय की कमी से आविर्भूत क्षमा, सरलता, विनम्रता, उदारता आदि गुणों का क्रियात्मक रूप मैत्री, अनुकंपा, दया, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, परोपकार, दान, सेवा-सुश्रूषा आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य तत्त्व की क्रियात्मक रूप हैं। क्योंकि इन सबसे पाप कर्मों का क्षय एवं पुण्य का उपार्जन होता है।

पुण्यास्रव- सद्भावों एवं सद्प्रवृत्तियों से मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, शरीर आदि पुण्य प्रकृतियों के कर्म दलिकों का जो उपार्जन होता है, यह पुण्य का आस्रव कहा जाता है।

पुण्य कर्म का बंध- पुण्य कर्म का बंध चार प्रकार का है- (१) प्रकृतिबंध (२) स्थितिबंध (३) अनुभागबंध और (४) प्रदेशबंध। यथा-

प्रकृतिबंध- पुण्य प्रकृतियां आठ कर्मों में से वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की ही होती है, यथा-वेदनीय कर्म की साता वेदनीय, आयु कर्म की तिर्यंच-मनुष्य-देव आयु, गोत्र कर्म की उच्च गोत्र तथा नाम कर्म की मनुष्य गति,

देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक-वैक्रिय-आहारक-तैजस-कार्मण शरीर, औदारिक-वैक्रिय-आहारक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराचसंहनन, समचतुरस्र संस्थान, शुभ वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, शुभ विहायोगति, देव-मनुष्य आनुपूर्वी, अगुरुलघु, निर्माण, आतप, उद्योत, पराघात, श्वासोच्छ्वास, तीर्थंकर, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, सुभग, स्थिर, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति ये सैंतीस प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की है।

स्थितिबंध- पुण्य की ४२ प्रकृतियों में से तीन आयु को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियों का स्थितिबंध कषाय से होता है। कषाय जितना अधिक होता है उतना ही इनका स्थिति बंध अधिक होता है। परन्तु ये प्रकृतियाँ अघाती होने से इनका स्थिति बंध जीव के लिए कुछ भी हानिकारक नहीं है।

अनुभागबंध- कर्म-सिद्धान्त में बताया गया है कि पाप का अनुभाग कषाय से होता है, परन्तु पुण्य का अनुभाग कषाय से नहीं होकर कषाय में कमी होने से, कषाय के घटने से होता है। जितना-जितना कषाय घटता जाता है और आत्मा पवित्र होती जाती है उतना-उतना पुण्य का अनुभाग या रस बढ़ता जाता है। फलदान शक्ति रस रूप होने से पुण्य का अनुभाग ही पुण्य का सूचक है। अतः जहाँ भी पुण्य का विवेचन किया जाता है वहाँ पुण्य के अनुभाग और रस को ही ग्रहण किया जाता है, स्थिति को नहीं।

प्रदेश बंध- पुण्य प्रकृतियों के दलिकों का बंधना पुण्य कर्म का प्रदेश बंध है। प्रदेश बंध न्यूनाधिक होने से इनके अनुभाग में कोई अंतर नहीं पड़ता है अर्थात् अनुभाग न्यूनाधिक नहीं होता है। अतः कर्मों का प्रदेश बंध के न्यूनाधिक होने का कोई महत्त्व नहीं है।

पुण्य की आवश्यकता

साधक के लिए पुण्य आवश्यक है। जो पुण्य नहीं करता है वह धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा पुण्य से ही पवित्र होती है अथवा आत्मा का पवित्र होना ही पुण्य है तथा पुण्य के फल से पंचेन्द्रिय जाति, मानव भव, मन, बुद्धि आदि मिलते हैं, त्याग का बल मिलता है, जिसके बिना कोई भी जीव मुक्ति नहीं पा सकता, क्योंकि इनके बिना वह साधना नहीं कर सकता। जैसा कि कहा है-

इह जीविएराय! असासयाम्मि, घणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयइ मच्चु-मुहोवणीए, धम्मं अकाउण परंमि (सि) लोए।।

- उत्तराध्ययन सूत्र अ. १३ गाथा २१

हे राजन्! इस अशाश्वत मानव जीवन में **जो प्रचुर पुण्य कर्म नहीं करता है वह मृत्यु के मुख में पहुँचने पर सोच (चिन्ता-शोक) करता है** और वह धर्म न करने के कारण परलोक में भी पछताता है।

पुण्य सब पापों का नाशक एवं उत्कृष्ट मंगल है

पुण्य का उपार्जन संयम रूप निवृत्तिपरक साधना से हो अथवा दया, दान, परोपकार रूप प्रवृत्तिपरक साधना से हो, वह मुक्ति में सहायक होता है, बाधक नहीं। जैसा कि कहा है-

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं। एसो पंच नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पाँचों को नमस्कार करने रूप पुण्य सब पापों का नाश करने वाला है तथा सर्वोत्कृष्ट मंगल है। अर्थात् नमस्कार रूप पुण्य मुक्तिप्रदाता एवं कल्याणकारी है।

पुण्येन तीर्थंकरश्रियं परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।

- पद्मपुराण, सर्ग, ३० श्लोक २८

अर्थ- पुण्य से तीर्थंकर की श्री प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है।

सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

- जयधवल, पुस्तक १ पृ. ६

अर्थ- यदि शुभ या शुद्ध परिणामों अर्थात् पुण्य से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता।

मोक्षं याति, परमपुण्यातिशय-चारित्र-विशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात्।

अर्थ- अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति परम पुण्य और चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा ही संभव है।

पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म।

- स्याद्वादमंजरी, २७

अर्थ- दानादि क्रियाओं से उपार्जित किया जाने वाला शुभ कर्म पुण्य है।

पुण्य का फल

पुण्य का फल दो प्रकार से मिलता है- (१) घाती कर्मों के क्षय के रूप में और (२) अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों के उपार्जन के रूप में। यह नियम है कि आत्मा जितनी पवित्र होती है उतना ही घाती कर्मों का क्षय होता जाता है और अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है, जो जीव के प्राणों के विकास का द्योतक एवं साधना में सहयोगी होता है।

पाप तत्त्व : स्वरूप और भेद

पाप व पुण्य का संबंध प्रवृत्ति से है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है- (१) दुष्प्रवृत्ति और (२) सद्प्रवृत्ति। जिस प्रवृत्ति से अहित हो, हानि हो, दु:ख हो, पतन हो वह दुष्प्रवृत्ति है, पाप है। पातयति आत्मानं इति पापम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो, हानि हो, अहित हो वह दोष है, वह पाप है। दोष युक्त प्रवृत्ति को दुष्प्रवृत्ति कहा जाता है। दोष, अधर्म, पाप, दुष्कर्म, दुष्प्रवृत्ति आदि शब्द पर्यायवाची हैं। दुष्कर्म चाहे मन का हो, चाहे वचन को हो, चाहे काया का हो, सभी पाप हैं, दोष हैं, अधर्म हैं, बुर हैं। कोई भी अपने को दोषी, पापी, दुष्ट कहलाना पसंद नहीं करता है। अत: दोष, पाप या बुराई के त्याग में ही अपना हित है, कल्याण है।

हमारे प्रति की गई जिस क्रिया को, प्रवृत्ति को, व्यवहार को हम बुरा मानते हैं वह दोष है, बुराई है, पाप है। जैसे कोई हमें मारता-पीटता है, कष्ट देता है, पीड़ा पहुँचाता है, झूठ बोलता है, हमारी चोरी करता है, हमें ठगता है, हानि पहुँचाता है, धोखा देता है, हमारे पर क्रोध करता है, द्वेष करता है, हमारी निन्दा करता है, बुराई करता है, हमारा बुरा करता है तो हम सबको उसका मारना पीटना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि ये सब प्रवृत्तियाँ या व्यवहार बुरे लगते हैं। हम इन सब कार्यों व इन कार्यों को करने वालों को बुरा समझते हैं। अत: ये सब दुष्कर्म व पाप हैं। यह ज्ञान बालक से वृद्ध तक, अज्ञ से विज्ञ तक, मानव मात्र को स्वत: प्राप्त है, इसमें किसी गुरु व ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं है। अत: यह ज्ञान स्वयं-सिद्ध है, स्वाभाविक ज्ञान है, किसी की देन नहीं है, निजज्ञान है। स्वंय सिद्ध होने से इस ज्ञान के लिए अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

यह नैसर्गिक नियम है कि जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है। उपर्युक्त सब कार्य बुरे हैं, अत: इन सबका फल बुरा, अनिष्ट व दु:ख रूप ही

मिलता है। अत: जिन्हें दु:ख से, अनिष्ट से बचना इष्ट है उन्हें इन सब दुष्कर्मों से, पापों से बचना ही होगा। कोई पाप भी करे और उसके परिणाम से दु:ख न पावे यह कदापि संभव नहीं है। पाप के त्याग से ही दु:ख से मुक्ति पाना संभव है, दु:ख से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। अत: पाप के त्याग में ही सबका कल्याण है। जैन धर्म में आवश्यक सूत्र के अनुसार पाप अठारह है यथा- (१) प्राणातिपात-हिंसा करना (२) मृषावाद-झूठ बोलना (३) अदत्तादान- चोरी करना (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान- झूठा कलंक लगाना (१४) पैशुन्य-चुगली करना (१५) पर-परिवाद-निंदा (१६) रति-अरति (१७) मायामृषावाद-कपटयुक्त झूठ बोलना और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य।

(१) **प्राणातिपात**- प्राणों का अतिपात करना प्राणातिपात है। प्राण दस हैं- पाँच इन्दियाँ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य। इनमें से किसी भी प्राण का हनन करना हिंसा या प्राणातिपात है। प्राणों के अतिपात से पीड़ा होती है। पीड़ा किसी को भी पसंद नहीं है। पैर में एक काँटा चुभ जाय, कपड़े में एक घास की सली आ जाय तो उसकी पीड़ा भी सहन नहीं होती। जब तक काँटा न निकाल दिया जाय, सली दूर न कर दी जाय, चैन नहीं पड़ता है। जब पैर की अंगुली में एक कांटा चुभन से भी इतनी पीड़ा होती है तो पूरी अंगूली काटने में कितनी भयंकर पीड़ा होती है, इसे तो भुक्तभोगी ही जान सकता है। अंगुली से भी अधिक भयंकर पीड़ा पैर का फाबा काटने में होती है। उससे भी भयंकर पीड़ा पूरे पैर को काटने में होती है। उससे भी भयंकर अनेक गुणी वेदना पूरे शरीर को मारने में होती है। उस समय मरने में जो असह्य भयंकर पीड़ा होती है उसका तो हम अनुमान भी नहीं लगा सकते।

अपने प्रति किये गये जिस कार्य को हम बुरा समझते हैं वही कार्य जब हम दूसरों के प्रति करते हैं तो क्या हमारा वह कार्य बुरा नहीं होगा? अवश्य होगा, और बुरा कार्य करने वाला व्यक्ति बुरा होता ही है अत: हम भी बुरे हो ही गये। यह सर्वमान्य है कि बुरा होना, बुरा कहलाना किसी को भी पसंद नहीं है। बुराई को सभी त्याज्य मानते हैं। अत: इस सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर हिंसा की बुराई, जो सबसे भयंकर पाप है, इससे बचना चाहिये। इसी में हमार व सबका हित है।

अत: सभी का हित 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को स्वीकार करने में है। यही भगवान् महावीर का उपदेश है।

शरीर के किसी भी एक अंग को क्षति या हानि पहुँचना भयंकर हानि है। कारण कि शरीर का प्रत्येक अंग बहुमूल्य है। किसी गरीब व्यक्ति से भी कहें कि तुम दो लाख रुपये ले लो और अपनी दोनों आँखें दे दो तो वह इस प्रस्ताव को स्वीकार न करेगा। इससे यह परिणाम निकला कि उसकी आंखों का मूल्य दो लाख रुपये से भी अधिक है। जब आंखों का ही मूल्य दो लाख रुपये से अधिक है तो पूरे शरीर का मूल्य तो कितना अधिक होगा, हम कल्पना नहीं कर सकते। हम किसी को करोड़ों, अरबों या कितने ही रुपये दें तब भी वह अपना शरीर देने को तैयार नहीं होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी व्यक्ति का शरीर अमूल्य निधि है। उसकी घात करना अमूल्य निधि को हानि पहुँचाना है, जो बहुत बड़ी क्षति है। इतनी बड़ी क्षति करना, भयंकर दोष या पाप है।

जीवों के शरीर का हनन करना तो हिंसा है ही, उनको कष्ट देना, हानि पहुँचाना भी हिंसा है। हिंसा के अगणित रूप हैं जैसे मारना, पीटना, कष्ट देना, युद्ध करना, शस्त्रों का निर्माण करना, शक्ति से अधिक श्रम लेना, नकली दवाइयाँ बनाना, प्रसाधन सामग्री के लिए पशु-पक्षियों को पीड़ा पहुँचाना, अत्याचार करना आदि सभी उत्पीड़क कार्य हिंसा के ही विविध रूप हैं।

प्राणातिपात दो प्रकार का है- १. स्व- प्राणातिपात २. पर-प्राणातिपात। स्व प्राणातिपात भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है- क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि दूषित भावों से अपने ज्ञान, दर्शन, क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि गुणों का अतिपात होना, घात होना भाव स्व-प्राणातिपात है। विषय कषाय के सेवन में अपनी इन्द्रियों की प्राणशक्ति का ह्रास होना द्रव्य स्व-प्राणातिपात है।

पर प्राणातिपात भी दो प्रकार का है- अपने क्रूरता, कठोरता, निर्दयता आदि दुर्व्यवहार से दूसरों के हृदय को आघात लगना, उनमें शत्रुता, द्वेष, संघर्ष का भाव पैदा होना पर भाव-प्राणातिपात है। दूसरों के शरीर, इन्द्रिय आदि प्राणों का हनन करना पर द्रव्य-प्राणातिपात है। किसी के दुर्भाव व दुष्प्रवृत्ति से दूसरों का अहित नहीं हो, तब भी स्वयं के प्राणों का अतिपात हो ही जाता है, उसे प्राणातिपात का पाप लग ही जाता है।

(२) **मृषावाद**- झूठ बोलना। जो बात जैसी देखी है, सुनी है व जानते हैं उसे उसी रूप में न कहकर विपरीत रूप में या अन्य रूप में कहना मृषावाद है। मृषावाद के अनेक रूप हैं- किसी पर कलंक लगाना, धरोहर व गिरवी की वस्तु

हड़प जाना, मृषा उपदेश देना, बहकाना, भ्रामक वचन बोलना, उत्तेजनात्मक भाषण देना, जनता को बर्गलाना, हानिकारक वस्तु को गुण युक्त लाभकारी वस्तु कहकर बेचना, झूठे विज्ञापन देना, वादे से मुकर जाना, स्वार्थ के लिए अपने वचन को पलट देना आदि मिथ्या भाव आना भी मृषावाद है।

(३) **अदत्तादान**- चोरी करना, दूसरों की वस्तु का अपहरण करना व बलात् अधिकार जमा लेना, कम तोलना-मापना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु देना, वस्तु में मिलावट करना, लाटरी-चिट-फंड जुआ आदि से लोगों का धन हरण करना, धोखाधड़ी करना, अधिक श्रम करवाकर कम पारिश्रमिक देना, शोषण करना, जेब काटना, डाका डालना, लूटपाट करना, अच्छा नमूना दिखाकर नकली वस्तु देना, पुरस्कार का लोभ देकर फंसाना, साहित्यिक चोरी करना आदि चोरी के अनेक रूप हैं। मुक्ति, शांति, स्वाधीनता, प्रसन्नता आदि अपने गुणों का अपहरण होना भी अदत्तादान है। इससे अविश्वास की उत्पति होती है जो भारी हानि है।

(४) **मैथुन**- काम-विकार में प्रवृत्त होना, संभोग करना, मैथुन है। मैथुन के अनेक प्रकार हैं यथा रति क्रीड़ा करना, वेश्यागमन करना, परस्त्री गमन करना, व्यभिचार सेवन करना, बलात्कार करना, समलिंगी के साथ संभोग करना, अश्लील फिल्म देखना, तीव्र नशीली वस्तुओं का सेवन कर कामोत्तेजन करना, नग्न नृत्य देखना आदि मैथुन के अनेक रूप हैं। आत्म-भाव भूलना, निज स्वरूप की विस्मृति होना और पर से संग व भोग करना भी मैथुन है। इससे आकुलता उद्वेग उत्पन्न होता है जिससे चित्त की शांति व समता भंग होती है।

(५) **परिग्रह**- वस्तुओं का संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह के असंख्य रूप हैं यथा- भूमि, भवन व सिक्कों का संग्रह, वस्त्रों का संग्रह, मूर्तियों का संग्रह, पुरानी वस्तुओं का संग्रह, भोग-उपभोग की वस्तुओं का संग्रह, पशुओं का संग्रह, खाद्य वस्तुओं का संग्रह, वाहनों का संग्रह आदि, यह द्रव्य परिग्रह है। भोग सामग्री के प्रति ममता होना भाव परिग्रह है। इससे मूर्च्छाभाव-जड़ता, पराधीनता आदि दोषों व दुःखों की उत्पत्ति होती है।

(६) **क्रोध**- क्षुब्ध होना क्रोध है। अपनी मन चाही स्थिति नहीं होने पर अथवा अनचाही होने पर गुस्सा करना, खिन्न होना, गाली देना, बुरा-भला कहना, गुस्से में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भान भूल जाना, गुस्से से होठों का फड़कना, आँखें लाल होना आदि क्रोध के अनेक रूप हैं।

कामना उत्पत्ति से अशांत व खिन्न होना भी क्रोध है। इससे प्रसन्नता का हनन व खिन्नता रूप दु:ख होता है।

(७) **मान**- अहंकार करना मान है। जाति, कुल, बल, रूप, शक्ति, सम्पत्ति, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, योग्यता, भाषण, पद आदि का मद करना, सम्मान चाहना, अभिनंदन चाहना, अपने को महान् और दूसरों को हीन समझना, अपना गुण-गौरव गाना या दूसरों से गुण गाथा कराना, उसे सुनकर हर्ष होना, अपमान का बुरा लगना, अपने को असामान्य मानना आदि मान के अगणित प्रकार हैं। मृदुता को खो देना, भेद व भिन्नता का भाव पैदा होना, पर या विनाशी वस्तुओं योग्यता व पात्रता के आधार पर अपना मूल्यांकन करना भी मान है। इससे भेद-भिन्नता व अलगाव रूप दोष व दु:ख उत्पन्न होते हैं।

(८) **माया**- कपट करना या धोखा देना माया है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को भुलावे में डालना, दूसरों से लेख व पुस्तकें लिखवाकर उस पर अपना नाम देना, ऊपर से मधुर बोलना, भीतर कटुता भरा होना, आश्वासन देकर उससे मुकरजाना, विश्वासघात करना, झूठा प्रदर्शन करना, कूटनीति करना आदि माया के अनेक रूप हैं। ऋजुता-सरलता-सहजता, स्वाभाविकता न होकर वक्रता-कृत्रिमता-कुटिलता होना भी माया है। इससे मित्रता का विच्छेद व वैरभाव की उत्पत्ति होती है।

(९) **लोभ**- प्रलोभन वृत्ति का होना लोभ है। अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना, प्राप्त को बनाये रखना, संचय वृत्ति, लाभ की इच्छा आदि लोभ के अनेक प्रकार हैं। सुख का प्रलोभन भी लोभ है। लोभवृत्ति से अभाव का अनुभव होता है जो दरिद्रता का द्योतक है।

(१०) **राग**- किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति आदि की अनुकूलता के प्रति आकर्षण होना राग है। पर पदार्थों के प्रति आसक्ति, विषय-सुख की अभिलाषा भी राग ही है। राग आग है जो आत्मा को सदैव प्रज्वलित करती रहती है। राग ठंडी आग है।

(११) **द्वेष**- प्रतिकूलता के प्रति अरुचि होना द्वेष है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की प्रतिकूलता में उसके प्रति दुर्भाव होना, उसका विनाश चाहना, उसे बुरा समझना, उन पर आक्रोश होना, बुरा जानना आदि द्वेष के अनेक रूप हैं।

(१२) **कलह**- झगड़ा करना कलह है। कलह अपने लिए संतापकारी एवं दूसरों के लिए परितापकारी और सभी के लिए अशांतिकारी होता है। असहिष्णुता, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, द्वन्द्व आदि इसके अनेक रूप हैं।

(१३) **अभ्याख्यान**- दूसरों पर झूठा आरोप लगाना अभ्याख्यान है। किसी पर कलंक लगाना, बदनाम करना, नीचा दिखाना, दोषारोपण करना आदि इसके अनेक रूप हैं।

(१४) **पैशुन्य**- चुगली खाना पैशुन्य है। इधर की बात उधर करना, दो व्यक्तियों को लड़ा देना, परस्पर भिड़ा देना आदि पैशुन्य के अनेक रूप हैं।

(१५) **परपरिवाद**- दूसरों की निंदा करना परपरिवाद है। किसी की निंदा करना, पर दोष करना, पर को हीन दृष्टि से देखना आदि इसके अनेक रूप हैं।

(१६) **रति-अरति**- अनुकूलता के प्रति रुचि रति तथा प्रतिकूलता के प्रति अरुचि अरति है। अनुकूलता में प्रसन्न होना, प्रतिकूलता में खिन्न होना, अनुकूलता को बनाये रखने की रुचि, प्रतिकूलता को दूर करने की इच्छा आदि इसके अनेक रूप हैं।

(१७) **माया मृषावाद**- कपट सहित झूठ बोलना अर्थात् भीतर में कुटिलता रखकर ऊपर से मधुर बोलना। चालाकी से बात करना, धोखा भरी वाणी बोलना, कूटनीति भरी बातें करना आदि माया मृषा के अनेक रूप हैं। सत्य को जानते हुए असत्य आचरण करना भी माया मृषावाद है।

(१८) **मिथ्यादर्शन शल्य**- मिथ्यात्व युक्त प्रवृत्ति मिथ्यादर्शन शल्य है। देह में आत्म बुद्धि होना, धन-संपत्ति आदि की पराधीनता में स्वाधीनता मानना, आदि मिथ्यादर्शन शल्य के अनेक रूप हैं। स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव मानना भी मिथ्यादर्शन है।

उपर्युक्त अठारह पापों का विवेचन स्थूल दृष्टि से संक्षिप्त रूप में किया गया है। वह प्रवृत्ति जो आत्मा से विमुख करती है, बहिर्मुखी बनाती है, पर की ओर अभिमुख करती है, सब पाप है।

उपर्युक्त सभी पाप बुरे हैं, यह ज्ञान स्वयं सिद्ध है। क्योंकि कोई भी मानव बुरा नहीं कहलाना चाहता है, यह भी सर्व विदित है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर हम ये बुरे काम करते क्यों है? कहना होगा कि हम अपने विषय-सुख

की पूर्ति के लिए इन सब पापों को करते हैं। इन पापों के फलस्वरूप दुःख मिलेगा तो फिर देखा जायेगा, उसे भोग लेंगे, अभी तो सुख भोग लें। इस प्रकार हम क्षणिक विषय सुख की दासता में इतने आबद्ध हैं कि अपने ज्ञान का अनादर कर विषय-सुख सामग्री की प्राप्ति के लिए इन दुष्कर्मों को, दोषों को, पापों को अपनाते हैं। साथ ही साथ दुःख भी पाते रहते हैं। इस प्रकार विषय-सुख के साथ दुःख भोगते हुये अनन्त काल बीत गया, परन्तु न तो विषय-सुख की पूर्ति हुई और न दुःख से मुक्ति मिली। यदि हम आगे भी विषय-सुख के आधीन हो ऐसा ही करते रहेंगे तो आगे भी हमारी यही स्थिति रहेगी। हमें जो सुख मिलेगा वह तो क्षणिक होने से नहीं रहेगा और हम दुःख पाते ही रहेंगे। मानव-जीवन दुःख रहित होने के लिए मिला है, यही इस जीवन की विशेषता है। अतः यदि हमने दुःख रहित सुखमय जीवन नहीं जीया तो समझना चाहिये कि हमारा जीवन व्यर्थ ही गया, कारण सुख-दुःख युक्त जीवन तो पशु भी जीता है फिर हमारे में पशु के जीवन से क्या विशेषता आई। अतः हम विषय-सुखों एवं इनसे जुड़े हुए दुष्कर्मों पापों का त्याग कर अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुखमय जीवन जीयें, इसी में हमारे जीवन की सार्थकता तथा सफलता है। मानव विषय-सुख का त्याग कर जिस क्षण चाहे उसी क्षण अव्याबाध, अनंत सुख का आस्वादन कर सकता है। त्याग के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, स्थान, समय, अभ्यास, श्रम आदि किसी भी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है, अतः मानव त्याग करने में समर्थ और स्वाधीन है। फिर भी त्याग को न अपनाकर दुःखी रहे, यह कितने आश्चर्य की, कितनी खिन्नता की बात है; कितनी करुणाजनक और अशेभनीय स्थिति है।

वस्तुतः त्याग ही जीवन है, विषय भोग ही मृत्यु है। जितना-जितना त्याग बढ़ता जायेगा उतना-उतना पाप घटता जायेगा। त्याग का बढ़ना और पाप का घटना युगपत् है। अतः पाप के त्याग से ही शांति व मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

पाप-पुण्य का आधार : संक्लेश-विशुद्धि

पुण्य-पाप तत्त्व का संबंध संक्लेश-विशुद्धि भावों से है। इसी विषय पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

शुभः पुण्यस्य।। अशुभः पापस्य।। तत्त्वार्थसूत्र ६.३.४ **अर्थ**- शुभ योग पुण्य का आस्रव है और अशुभ योग पाप का आस्रव है। इन सूत्रों की टीका करते हुए पं० श्री सुखलाल जी संघवी लिखते हैं- काययोग आदि तीनों योग शुभ भी हैं

और अशुभ भी। योगों के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य-कर्मबन्ध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलंबित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही हो जायेंगे, कोई योग शुभ नहीं नहीं रह जायेगा, जबकि शुभ योग में भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि पाप प्रकृतियों का कर्मों का बंध का कारण होता है।

शुभ योग का कार्य पुण्य-प्रकृति का बंध और अशुभ योग का कार्य पाप प्रकृति का बंध है। प्रस्तुत सूत्रों का यह विधान आपेक्षिक है, क्योंकि विद्यमान अवस्था में (कषाय) की मंदता के समय होने वाला योग शुभ और कषाय की तीव्रता (वृद्धि) से होने वाला योग अशुभ है। जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासंभव बंध होता है वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभयोग के समय भी पुण्य-पाप प्रकृतियों का यथासंभव बंध होता है। फिर शुभ योग का पुण्य बंध के कारण रूप में और अशुभ योग का पाप बंध के कारण रूप में अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है? इसलिए प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभाग बंध की अपेक्षा से है। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बंध (रस) की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इससे उलटे अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप-प्रकृतियों का अनुभाग अधिक और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बंध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसे प्रधान मानकर सूत्रों में अनुक्रम से शुभ योग का पुण्य का और अशुभ योग को पाप का कारण कहा गया है। शुभयोग जन्य पापानुभाग की अल्पमात्रा और अशुभयोग जन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नहीं है। क्योंकि लोक की भाँति शास्त्र में भी प्रधनतापूर्वक व्यवहार का विधान प्रसिद्ध है।

पं. श्री सुखलाल जी ने तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सूत्र ४ की टीका में कहा है- पुण्य-पाप दोनों द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के हैं। शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य-पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्य पुण्य तथा पाप बंध-तत्त्व में अंतर्भूत है, क्योंकि आत्म-सम्बद्ध कर्म पुद्गल या आत्मा और कर्म पुद्गल का सम्बन्धविशेष ही द्रव्यबंध तत्त्व है। द्रव्य पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भाव पुण्य है और द्रव्य पाप का कारण अशुभ अध्यवसाय है जो भाव पाप है- ये दोनों

ही बन्ध तत्त्व में अन्तर्भूत है क्योंकि बंध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय (परिणाम) ही भाव बंध है।

पंडितजी ने उपर्युक्त विवचेन में संक्लेश की मन्दता को पुण्य के आस्रव का और तीव्रता को पाप के आस्रव का हेतु कहा है। कर्म-सिद्धान्त में कषाय की मंदता को विशुद्धि और कषाय की वृद्धि को संक्लेश कहा है यह संक्लेश-विशुद्धि दशवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में, प्रत्येक लेश्या में, प्रत्येक असंयम-संयम (चारित्र) आदि सब अवस्थाओं में संभव है, जैसा कि भगवतीसूत्र के शतक २५ उद्देश्यक ७ में कहा है-

कंइणं भंते! सुहुमसंपराया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते-तंजहा-संकिलिस्समाणए य विसुद्धमाणए य। अर्थ- प्रश्न-हे भगवन्! सूक्ष्म संपराय संयत कितने प्रकार के होते हैं? **उत्तर**- हे गोतम, दो प्रकार के होते हैं यथा-संक्लिश्यमानक और विशुद्धय-मानक। क्योंकि ये हीयमान और वर्द्धमान परिणाम वाले होते हैं। इससे स्पष्ट है कि संक्लेश शब्द हीयमान परिणामों का कषाय वृद्धि का सूचक है और विशुद्धि शब्द वर्द्धमान परिणामों का, कषाय की मंदता का सूचक है। नवें गुणस्थान से चढ़ते समय दशवाँ गुणस्थान विशुद्ध्यमान कहलाता है और ग्याहरवें गुणस्थान से गिरते समय दशवाँ गुणस्थान संक्लिश्यमान कहलाता है।

कर्मों का शुभत्व-अशुभत्व उनके शुभ-अशुभ फल पर अवलंबित है। शुभ फल देने वाले कर्म-अशुभ (पाप कर्म) कहे जाते हैं। कर्म का फल कर्म-प्रकृति के अनुभाव (अनुभाग) पर अवलंबित होता है। अतः कर्म के अनुभाव पर ही पाप-पुण्य कर्म का निर्धारण होता है- जैसा कि ऊपर पं. सुखलाल जी ने कहा है तथा इसी का प्रतिपादन तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६ के सूत्र ३-४ की राजवार्तिक टीका में यह कहकर किया है कि पुण्य-पाप का संबंध अनुभाग से है। स्थिति बंध से नहीं है। शुभ अनुभाग की वृद्धि कषाय में कमी होने से होती है। पुण्य का आस्रव शुद्धोपयोग से और पाप का आस्रव अशुद्धोपयोग से होता है, यही कषायपाहुड की जयधवला टीका पुस्तक १ में स्पष्ट कहा है यथा-

पुण्णासवभूदा अणकंपा सुद्धओ य उपजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि।।

- कसायपाहुड, जयधवलटीका, पुस्तक १, पृ. ९६

अर्थात् **अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्यास्रव स्वरूप है या पुण्यास्रव के कारण हैं** तथा इनसे विपरीत अर्थात् निर्दयता और अशुद्ध उपयोग ये पापास्रव के कारण हैं। इस प्रकार आस्रव के हेतु कहे गये हैं।

तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्य का आधार संक्लेश-विशुद्धि है। विशुद्धि से पुण्य का उपार्जन (आस्रव) होता है पुण्य बढ़ता है इसलिए विशुद्धि रूप शुद्धोपयोग को पुण्य का आस्रव कहा गया है तथा संक्लेश से पाप का अर्जन (आस्रव) होता है पाप बढ़ता है इसलिए संक्लेश रूप अशुद्धोपयोग को पाप का हेतु कहा है। अतः पुण्य पाप का आधार विशुद्धि-संक्लेश है। कम व अधिक कषाय का उदय नहीं है। जेसा कि कहा है- **को संकिलेसो णाम? कोहमाणमायालोहपरिणाम विसेसो।... को विसोही णाम? जेसु जीवपरिणामेसु समुप्पण्णेसु कसायाणं हानि होदि।..** - जय धवल, पुस्तक ४ पृष्ठ १५ एवं ४१ अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणामों में वृद्धि होना संक्लेश है और जीव के जिन परिणामों से कषायों की हानि (कमी) होती है, उसे विशुद्धि कहते हैं। कषाय में कमी होने से आत्मा की विशुद्धि तथा शुद्धि बढ़ती है अतः इसे विशुद्धि व शुद्धोपयोग कहा जाता है और कषाय में वृद्धि होने से आत्मा में संक्लेश व अशुद्धि बढ़ती है। अतः इसे संक्लेश व अशुद्धोपयोग कहा है।

ऊपर पाप-पुण्य संक्लेश-विशुद्धि पर अवलंबित है, यह कहा गया है अर्थात् कर्मों का शुभाशुभत्व उनके कर्ता के शुभाशुभ भावों पर अवलंबित है। कर्ता के शुभाशुभ भावों का कर्मों के रूप में प्रकटीकरण उन कर्मों के प्रकृति व अनुभाव के रूप में होता है। शुभभावों से पुण्य कर्म प्रकृतियों के अनुभाव की एवं अशुभभाव से पाप प्रकृतियों के अनुभाव की वृद्धि होती है। शुभ (पुण्य) कर्म प्रकृतियों में यह अनुभाव की वृद्धि विशुद्धि से, कषायादि दोषों की कमी से होती है और अशुभ (पाप) कर्म प्रकृतियों में यह अनुभाव की वृद्धि संक्लेश से अर्थात् कषायादि दोषों की वृद्धि से होती है। अतः पाप-पुण्य कर्मों का एवं उनकी न्यूनाधिकता का आधार उनका अनुभाव है, प्रदेश व स्थिति बंध नहीं है क्योकि कर्मों के प्रदेशों के न्यूनाधिक होने से उनके अनुभाव न्यूनाधिक नहीं होता है और पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का स्थितिबंध कषाय से होता है। अतः स्थितिबंध पाप कर्मों का अधिक हो अथवा पुण्य कर्मों का, तीन शुभ आयुकर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्म प्रकृतियों का अशुभ ही है। इसलिए पुण्य-पाप कर्मों के शुभत्व-अशुभत्व का आधार उनका अनुभाव ही है।

जयधवला टीका के उपर्युक्त उद्धरण में संक्लेश और विशुद्धि की परिभाषा देते हुए कषाय शब्द के पहले समुत्पन्न विशेषण लगाया गया है जो वर्तमान क्षण में उत्पन्न कषाय का अर्थात् उदयमान, विद्यमान कषाय का सूचक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्लेश-विशुद्धि का संबंध वर्तमान में उदयमान-विद्यमान कषाय में वृद्धि व हानि होने से हैं, कम कषाय व अधिक कषाय से नहीं है। यदि कम कषाय को विशुद्धि और अधिक कषाय को संक्लेश माना जाय तो सदैव शुक्ल लेश्या की अवस्था को विशुद्धि और कृष्ण लेश्या की अवस्था को संक्लेश मानना होगा। इस प्रकार दशवें सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में शुक्ल लेश्या होने से विशुद्धि ही मानना होगा। संक्लेश नहीं माना जा सकेगा। जिससे भगवती सूत्र के शतक २५ उद्देशक ७ के उपर्युक्त कथन का विरोध हो जायेगा। जो किसी को भी इष्ट नहीं होगा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संक्लेश-विशुद्धि का, पाप-पुण्य तत्त्व का संबंध उदयमान कषाय में हानि-वृद्धि होने से है, कम व अधिक कषाय से नहीं है।

जैसा कि भगवती सूत्र में प्राप्त निम्न वर्णन से स्पष्ट होता है-

प्रश्न- **से णूणं भंते! कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति?**

उत्तर- **हंता, गोयमा। जाव उववज्जंति।**

प्रश्न- **से केणट्ठेणं जाव उववज्जंति?**

उत्तर- **गोयमा! लेस्सट्ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसु वा णीललेस्सं परिणमइ, णीललेस्सं परिणमित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जंति से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव उववज्जंति।** - भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशक १

हे भगवन्! कृष्णलेश्यी यावत् शुक्तलेश्यी होकर जीव नील लेश्या वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है?

प्रश्न- हाँ गौतम। यातव् उत्पन्न होता है।

प्रश्न- हे भगवन्। इस का क्या कारण है?

उत्तर- हे गौतम! लेश्या के स्थान संक्लेश को प्राप्त होते हुए और विशुद्धि को प्राप्त होते हुए, वह जीव नीललेश्या रूप मे परिणत होता है और नीललेश्या रूप से परिणत होने के बाद वह नीललेश्या नैरयिकों में उत्पन्न होता है। इसलिये हे गौतम। पूर्वोक्त रूप से कहा गया है।

यही वर्णन आगे के सूत्रों में कापोत आदि लेश्याओं के लिए भी किया गया है। वहाँ अशुभ लेश्या की ओर बढ़ने को संक्लेश और शुभ लेश्या की ओर बढ़ने को विशुद्धि कहा गया है।

यदि उदयमान अधिक कषाय को संक्लेश तथा न्यून कषाय को विशुद्धि माना जाय तो कृष्ण लेश्या वाले जीवों के सदैव कषाय का उदय अधिक तथा शुक्ल लेश्या वाले जीवों के कषाय का उदय कम रहता है। अतः कृष्ण लेश्या वाले जीवों के सदैव संक्लेश की विद्यमानता और विशुद्धि का अभाव मानना होगा। विशुद्धि का अभाव होने से उनके पुण्य आस्रव का ही अभाव मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त व आगम के विरुद्ध है। इसी प्रकार शुक्ल लेश्या वाले जीवों के सदैव विशुद्धि की ही मौजूदगी (सद्भाव) और संक्लेश का अभाव मानना होगा जो आगम विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि **जैनागम में उदयमान कषाय में वृद्धि होने को अर्थात् हीयमान व गिरते परिणामों को संक्लेश, पाप तत्त्व, अशुद्धोपयोग तथा पापास्रव का कारण कहा है तथा उदयमान कषाय में हानि होने को अर्थात् शुद्धता की ओर बढ़ते वर्धमान परिणामों को विशुद्धि, शुद्धोपयोग (पुण्य तत्त्व) तथा पुण्यास्रव का कारण कहा है।**

समस्त संसारी जीवों के वीतराग होने के पहले सदैव पुण्य और पाप इन दोनों का आस्रव तथा बंध होता रहता है। अतः सब जीवों के सदैव संक्लेश विशुद्धि दोनों मानना होगा। परन्तु यहाँ पर सामान्य से होने वाला यह पुण्य-पाप का आस्रव व बंध अपेक्षित व इष्ट नहीं है। प्रत्युत् पुण्य-पाप कर्म का आस्रव व अनुभाग जो पहले हो रहा था उसमें वृद्धि होने से है। कषाय में हानि होने रूप परिणामों की विशुद्धि से पुण्यास्रव में तथा बध्यमान एवं सत्ता में स्थित पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है और पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होने से भी पुण्य प्रकृतियों के प्रदेशों में वृद्धि होती है।

इसी वृद्धि को पुण्य का उपार्जन कहा है और विशुद्धि को इसका हेतु कहा है। इसी प्रकार कषाय में वृद्धि होने रूप संक्लेश परिणामों से पापास्रव में तथा बध्यमान एवं सत्ता में विद्यमान पाप प्रकृतियों के अनुभाग व स्थिति में वृद्धि होती है और पुण्य प्रकृतियों का पाप प्रकृतियों में संक्रमण होने से भी पाप प्रकृतियों के प्रदेशों में वृद्धि होती है। इस वृद्धि को ही पाप का उपार्जन कहा है और इसी के हेतु को संक्लेश कहा है। जिससे किसी में वृद्धि नहीं हो, उसे उसके उपार्जन का अर्थात् आस्रव का हेतु नहीं कहा जा सकता। जैसा कि कहा है-

विशुद्धि-संक्लेशांगं चेत् स्व-परस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः।।

– देवागमकारिका ६५

अर्थात् आचार्य श्री समस्तभद्र का फरमाना है कि सुख-दुःख अपने को हो अथवा दूसरे को हो, वह यदि विशुद्धि का अंग हो तो पुण्यास्रव का और संक्लेश का अंग (रूप) हो तो पापास्रव का हेतु है। यदि वह इन दोनों में से किसी का भी अंग न हो तो व्यर्थ है, निष्फल है।

तिव्वो असुहसुहाणं संकेस-विसोहिओ विवज्जउ मंदरसो।।

– पंचम कर्म-ग्रंथ गाथा ६३

अर्थात् अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग संक्लेश से और शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग विशुद्धि से होता है। इसके विपरीत मंदरस का हेतु है- अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के रस में मंदता विशुद्धि से और शुभ प्रकृतियों के रस में मंदता संक्लेश से होती है।

पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं

सम्पूर्ण आगमों का सार पापों का त्याग करना है। पापों के त्याग में ही जीव का कल्याण है और पापों के सेवन में ही अकल्याण एवं अहित है।

साधना में सर्वत्र पाप के त्याग का ही विधान है, पुण्य के त्याग का विधान कहीं भी नहीं है। साधना का प्रारंभ होता है सामायिक से, समत्व से। सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में '**सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**' आया है इसका अर्थ है सावद्ययोग-पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ। इस प्रतिज्ञा पाठ से पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का कहीं भी विधान नहीं है। साधना के क्षेत्र में आगे भी जितने पाठ हैं उनमें पापों के त्याग का ही विधान है। किसी भी पाठ में किसी पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का आदेश-निर्देश, उपदेश नहीं है। यहाँ तक कि साधना का अंतिम चरम बिन्दु संलेखना है। उसके प्रतिज्ञा पाठ में भी '**सव्वं पाणाइवाइयं जाव मिच्छादंसणं सल्लं पच्चक्खामि,** पाठ आया है। इसमें भी अठारह ही पाप का त्याग किया गया है। पुण्य के त्याग का यहाँ पर भी कोई विधान नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि पुण्य के त्याग का साधना में कहीं भी कोई स्थान नहीं है। यह तथ्त अग्राङ्कित आगम उद्धरणों से भी पुष्ट होता है यथा-

(१) कहं णं भंते, जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति? गोयमा, पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदि० मेहण० मायामोसमिच्छादंसणसल्लेणं, एणं खलु गोयमा, जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति। कह ण भते, जीवा लहुपत्तं हव्वमागच्छन्ति? गोयमा, पाणाइवायवेरमणेणं एवं संसारं आउलीकरेंति एवं परित्तीकरेंति दीहीकरेंति हस्सीकरेंति एवं अणुपरियट्टेति एवं वीइवयंति। पसत्था चत्तारि अप्पसत्था चतारि।।- भगवतीशतक १, उ. ९ सूत्र ७२ तथा शतक १२, उद्देशक २ सूत्र ४४२

अर्थ-भगवन्, जीव किस प्रकार गुरुत्व-भारीपन को प्राप्त होते है? गोतम, प्राणतिपात, मृषावाद आदि आदि अठारह पापों का सेवन करने से जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं। भगवान्, जीव किस प्रकार लघुत्व को प्राप्त होते है? गोतम, प्राणातिपात आदि अठारह पापों के त्याग से शीघ्र लघुत्व (हलकापन) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राणातिपात आदि पापों को सेवन करने से जीव (१) गुरुत्व को प्राप्त होते हैं, (२) संसार को बढ़ाते हैं, (३) संसार को लम्बे काल का करते हैं और (४) बार-बार भव-भ्रमण करते हैं तथा प्राणातिपात आदि पापों का त्याग करने से जीव (१) लघुत्व को प्राप्त करते हैं, (२) संसार को घटाते हैं, (३) संसार को अल्पकालीन करते हैं और (४) संसार को पार कर जाते हैं। इनमें से चार (हलकापन आदि) प्रशस्त हैं और चार (भारीपन आदि) अप्रशस्त हैं।

असुहादो विणिवित्तिं, सुहे पवित्तिं, य जाण चारित्तं।

अर्थात् - अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र समझो।

पुण्य-पाप तत्त्व पुस्तक में 'पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं' इसके प्रमुख रूप में पृष्ठ १६ से २३ तक उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९, ३०, ३१, ६, ९, १४, १९ की, दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन ४, ६, ८ की, सूत्रस्थानांग, सूत्र कृतांग, औपपातिक आदि की लगभग ४० से अधिक गाथाएँ उद्धरण और उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की है। जो पठनीय एवं मननीय है। आशय यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन में तप से (राग-द्वेष से उत्पन्न) पाप कर्मों का क्षय होता है, कहा है। इकतीसवें अध्ययन में चारित्र से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध एवं भव-भ्रमण (जन्म-मरण) का अंत होना कहा है।

चारित्र, तप आदि किसी भी साधना से पुण्यास्रव का निरोध एवं पुण्य कर्मों के अनुभाग (फल) का क्षीण होना नहीं कहा है। अर्थात् (पुण्य) को कहीं भी त्याग नहीं कहा है।

पुण्य का पालन : पाप का प्रक्षालन

- आत्मा जिससे पवित्र हो वह पुण्य है।[१]
- आत्मा क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव से पवित्र होती है।
- क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव मोक्ष के हेतु हैं।[२]
- इन भावों से कषाय क्षीण होता है।
- कषाय क्षीण (क्षय) होने से सत्ता में स्थित पाप कर्मों के स्थिति-बंध एवं अनुभाग-बंध का अपकर्षण (क्षय) होता है। अर्थात् पाप कर्मों की निर्जरा होती है।[३]
- कषाय की क्षीणता से आध्यात्मिक (आंतरिक) एवं भौतिक (बाह्य) विकास होता है। आध्यात्मिक विकास से घाती और अघाती कर्मों की समस्त पाप प्रकृतियाँ क्षीण होती हैं जिससे आत्मा की शुद्धि में वृद्धि होती है।
- भौतिक विकास से शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि होती है अर्थात् पुण्य का उपार्जन होता है। शुभ (पुण्य) से अपने को बचाना पाप है।[३(अ)]
- पुण्य के उपार्जन से पाप के आस्रव का निरोध होता है।
- पापास्रव का निरोध संवर है।
- पाप और पुण्य कर्मों का फल उनके अनुभाग के रूप में मिलता है। अत: पाप-पुण्य का आधार उनका अनुभाग है।[४] स्थिति बंध व प्रदेश बंध में फल देने की शक्ति नहीं है।
- स्थिति बंध और प्रदेश बंध की न्यूनाधिकता से कर्मों का फल न्यूनाधिक नहीं होता है।
- पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय से कमी से होता है, कषाय के उदय से नहीं होता है। कषाय का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी में होता है अत: वहीं बध्यमान पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध होता है।
- पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग उत्कृष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त पश्चात् केवल ज्ञान हो जाता है।
- पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर पुण्य परिपूर्ण हो जाता है फिर पुण्य का उपार्जन शेष नहीं रहता है। अत: वीतराग के साता वेदनीय को छोड़कर अन्य किसी पुण्य कर्म का उपार्जन नहीं होता है।

- पुण्य के प्रदेशों का अर्जन (पुण्याश्रव) और पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) अर्थात् शुद्धोपयोग से ही होता है। अशुद्धोपयोग से नहीं होता है। अशुद्धोपयोग से पाप का आश्रव ही होता है।[५]
- शुद्ध आत्मा के अभिमुख करने वाले परिणाम अथवा औपशमिक क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव शुद्धोपयोग है।[६]
- पुण्य के परिणाम से पूर्व संचित पाप कर्मो के स्थिति बंध एवं अनुभाग बंध का अपवर्तन (क्षय) होता है एवं पाप कर्मो का पुण्य कर्मों में संक्रमण होता है। जिससे पाप कर्मों के प्रकृतिबंध व प्रदेशबंध का क्षय होता है।
- अत: पुण्य का परिणाम पाप कर्मों के प्रकृतिबंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध इन चारों प्रकार के बंधनों के क्षय में हेतु है।
- पुण्य की समस्त प्रकृतियाँ अघाती ही होती हैं, सर्वघाती व देशघाती नहीं होती है अत: पुण्य से आत्मा के किसी गुण का कभी भी अंश मात्र भी घात नहीं होता है।
- पुण्य कर्म चार हैं- वेदनीय कर्म, गोत्र कर्म, नाम कर्म और आयु कर्म। इन चारों कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के क्षय (क्षीणता) से होता है।
- क्रोध (द्वेष, क्रूरता) कषाय के क्षय व कमी से (अनुकंपा, करुणा आदि) से साता वेदनीय का उपार्जन होता है।[७]
- मान कषाय (मद) के क्षय व कमी से (निरभिमानता, विनम्रता से) उच्चगोत्र का उपार्जन होता है।[८]
- माया (वक्रता) कषाय के क्षय व कमी से (ऋजुता से) शुभ नाम कर्म का उपार्जन होता है।[९]
- लोभ कषाय के क्षय से (संतोष से) व कमी से शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है।[१०]
- इन चारों कर्मों की पाप प्रकृतियों का आश्रव व बंध उपर्युक्त चारों कषायों के उदय से होता है।[११]
- पुण्य का आश्रव (प्रदेश) व अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) से होता है। परन्तु पुण्य कर्म का स्थिति बंध (शुभ आयु कर्म को छोड़कर) उदय में रहे शेष कषाय से होता है।

- ❖ पुण्य के अनुभाग की वृद्धि स्थिति बंध का क्षय करने वाली होती है।
- ❖ वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय जब पाप-पुण्य कर्मों को पूर्ण क्षय होता है तब तक पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। अंश मात्र मात्र भी क्षय नहीं होता है। केवली समुद्घात से भी उत्कृष्ट अनुभाग में क्षीणता नहीं आती है।[१२]
- ❖ पुण्य कर्म के स्थिति-बंध का क्षय पाप कर्म के स्थिति बंध के क्षय के साथ स्वतः होता जाता है, इसके लिए किसी साधना की आवश्यकता नहीं होती है।
- ❖ पुण्य कर्म किसी भी गुण का घातक नहीं है। पुण्य कर्म का उदय एवं उसका सदुपयोग आत्मोत्थान में सहायक होता है।
- ❖ यह नियम है कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि से पाप तथा पुण्य दोनों कर्मों के स्थिति बंध (तीन शुभ आयु को छोड़कर) का अपवर्तन होता है, जिससे संसार घटता है। अतः पुण्य का उपार्जन संसार भ्रमण घटाने में सहायक होने से उपादेय है।
- ❖ मनुष्य भव के बिना मुक्ति नहीं मिलती है और मनुष्य भव अनंत पुण्य से ही मिलता है। अतः अनंत पुण्यवान को ही मुक्ति मिलती है।
- ❖ पुण्य का भावात्मक व आंतरिक रूप सरलता, मृदुता, विनम्रता, करुणा आदि गुण हैं। ये जीव के स्वभाव हैं। पुण्य का क्रियात्मक व बाह्य रूप दान, दया, सेवा, स्वाध्याय, सत-चर्चा, सत्-चिंतन आदि हैं।
- ❖ पुण्य का आन्तरिक फल पाप कर्मों का क्षय करना है और पुण्य का बाह्य व आनुषंगिक फल शरीर, इन्द्रिय आदि की उपलब्धि है, पुण्य कर्म प्रकृतियों का उपार्जन है। यह फल न साध्य है न साधना है, अपितु साधना का सहयोगी अंग है।
- ❖ पाप कर्म लोहे की बेड़ी के समान संसार कारागार में आबद्ध करने वाला है, अतः अकल्याणकारी है, दोष है, दूषण है।
- ❖ पुण्य कर्म स्वर्णाभूषण (नागल्या) के समान जीवन का शृंगार है शोभास्पद है। स्वर्ण की बेड़ी नहीं है।[१३]

❖ सारांश यह है कि पुण्य के पालन से पाप का प्रक्षालन होता है।[१४] जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है। अथवा यों कहें कि पाप तो करने पर ही होता है। जबकि 'पुण्य' पाप के प्रक्षालन से, क्षयोपक्षम भाव से एवं दोषों के त्याग से स्वतः होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

१. तत्त्वार्थ सूत्र अ ६ सूत्र २-३ की राजवार्तिक टीका व अन्य प्राचीन टीकाएँ

२. जयधवल पुस्तक १, पृष्ठ ५ तथा धवल पुस्तक ७, पृष्ठ ९

३. पंचसंग्रह का उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण प्रकरण

३(अ). तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सूत्र ३ की सर्वार्थ सिद्धि टीका में 'रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्'

४. तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सूत्र २-३ की राजवार्तिक टीका

५. जय धवल पुस्तक १, पृष्ठ ९६ गाथा ५२

६. आगमभाषयौशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग- इत्यादिपर्यायसंज्ञां लभते।।- समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०, द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ४५

७. ८-९-१०-११ भगवती सूत्र शतक ८ उ. ९, शतक ७ उ. ६ तथा तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सूत्र १२ से २४ तक

१२. धवल पुस्तक १२, पृष्ठ १८

१३. बहुश्रुत पं. श्री समर्थमलजी म.सा., श्री रूपचन्दजी कटारिया आदि के साथ समयसार की गाथा पर विचार।

१४. मूक माटी में पुण्य प्रकरण, लेखक आचार्य श्री विद्यासागर जी. म.सा.

पुण्य : सोने की बेड़ी नहीं, आभूषण है

विषय-कषाय जन्य सुखों की पूर्ति अपने से भिन्न (पर) पदार्थों से होती है। ऐसा सुख-भोग विकार है, विभाव है, दोष है। इन्द्रियों के विषय भोग, सम्मान, सत्कार आदि की पूर्त्ति शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, व्यक्ति परिस्थिति बल आदि के आधीन है। अतः विषय-कषाय का भोगी व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, मन, वस्तु व्यक्ति, परिस्थिति, धन-सम्पत्ति आदि का दास या पराधीन हो जाता है, इनसे बंध जाता है। अतः भोग से व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, भोग्य वस्तुओं आदि की पराधीतना में बंधनों में, कारागार में आबद्ध हो जाता है। इस प्रकार पाप बेड़ी लोहे की ही होती है, बेड़ी कहीं पर भी, कभी भी स्वर्ण की नहीं बनायी जाती है। अतः सोने

की बेड़ी कहना बेड़ी शब्द के अर्थ को खोना है। विषय-कषाय आदि पापों का सेवन करनेवाला व्यक्ति अपने सुख ही प्राप्ति के लिये हिंसा, झूठ, शोषण, अपहरण, धोखाधड़ी, कलह, संघर्ष आदि अशोभनीय, अनादरणीय आचरण करता है। अतः दोष दूषण हैं।

पाप के विपरीत पुण्य है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों में पापों में कमी होने व इनका क्षय होने से क्षमा, मृदुता, सरलाता, सज्जनता, विनम्रता, उदारता, वत्सलता आदि गुण प्रकट होते हैं, जिनसे आत्मा पवित्र होती है। दोषों-पापों का क्षय होना, गुणों का प्रकट होना और आत्मा का पवित्र होना ये तीनों युगपत् होते हैं, इन तीनों में एकता एवं अभिन्नता है। दोषों व पापों का क्षय होना, गुणों का प्रकट होना, आत्म-स्वभाव का प्रकट होना है, आत्म धर्म है और आत्मा का पवित्र होना पुण्य है। इस प्रकार पाप का क्षय, धर्म और पुण्य ये तीनों एक ही अवस्था के रूप हैं। पाप-कषायों के क्षय व कमी से क्षमा, मृदुता, सरलता आदि आत्म-गुणों का प्रकट होना आत्मा के लिए शोभास्पद है तथा इन गुणों का क्रियात्मक रूप, सहृदयता, विनम्रता, संवेदनशीलता, मधुरता, सज्जनता, उदारता, परोपकार, सेवा आदि सद्प्रवृतियाँ व्यक्ति के जीवन के लिए शोभास्पद है तथा इन सद्प्रवृत्तियों से सुंदर समाज का निर्माण होता है, जो समाज के लिए शोभास्पद है। इस प्रकार पुण्य आत्मा, जीवन एवं समाज इन सबके लिये शोभास्पद होने से अलंकार है, आभूषण है, बेड़ी नहीं। भूषण है, दूषण नही। पुण्य को आभूषण की उपमा देना भी एक अर्थ में अपूर्ण हैं। कारण कि आभूषण शरीर पर सदैव धारण नहीं किया जाता है तथा शरीर से आभूषण पृथक होता है। अतः यह उपमा सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य पर ही घटित होती है। आत्म-गुणों के प्रकट होने रूप पुण्य पर घटित नहीं होती है। आत्म-गुण आत्मा के अभिन्न अंग है, जो आत्मा से अलग नहीं होते हैं और सद्प्रवृत्ति यदा-कदा होती है, निरन्तर नहीं है। अतः आत्मगुण तो शरीर के समान हैं और सद्प्रवृत्ति आभूषण के समान है।

आशय यह है कि बेड़ी कारागार की पराधीनता की द्योतक है। कारागार उसी को मिलता है जो अपराधी व दोषी है। कारागार की श्रेणी में भेद व भिन्नता का कारण अपराधी के अपराध में भेद व भिन्नता होना है। परन्तु कारागार किसी भी श्रेणी का हो, वह अपराधी को ही मिलता है, निरपराधी को नहीं। अतः बेड़ी लोहे की हो अथवा स्वर्ण की हो, वह दोष व अपराध की अर्थात् पाप की ही सूचक है, पुण्य की नहीं।

प्राक्कथन

(पुण्य-पाप तत्त्व पुस्तक से उद्धृत लेखक का प्राक्कथन)

- कन्हैयालाल लोढ़ा

वर्तमान में कतिपय विद्वान् दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य (सेवा) आदि सद्प्रवृत्तियों को तथा नम्रता, मृदुता, मित्रता, सरलता, सज्जनता, मानवता, उदारता आदि सद्गुणों को धर्म नहीं मानते हैं, पुण्य मानते हैं और पुण्य को विभाव, त्याज्य व संसार परिभ्रमण का कारण मानते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो सद्गुणों एवं सद्प्रवृत्तियों को हेय व त्याज्य मानते हैं। इस भ्रांति का मुख्य कारण पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य का अनुभाग व पुण्य कर्म के स्थिति बंध आदि के अंतर के मर्म पर ध्यान नहीं देना है। इस पुस्तक में इनका व इससे संबंधित अन्य विषयों को विवेचन कर वास्तविकता का अनुसंधान करने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक का विषय पुण्य-पाप दोनों का विवेचन करना रहा है। परन्तु पाप के स्वरूप, परिभाषा, लक्षण आदि में मतभेद नगण्य होने से पाप का विवेचन सामान्य व संक्षेप में किया गया है। जबकि पुण्य के विषय में अत्यधिक मतभेद एवं परस्पर विरोधी मान्यताएँ होने से अनेक प्रश्न एवं जिज्ञासाएँ उठती हैं। इसलिए पुण्य का विविध विवक्षाओं एवं विस्तार से विवेचन किया गया। यह विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगम, षट्खंडागम और उसकी टीका, धवल-महाधवल कषायपाहुड और उसकी टीका जयधवल, कर्मग्रन्थ, कम्मपयडि, पंचसंग्रह गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि कर्म-सिद्धान्त के ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए किया है। लेखन के पूर्व विद्वानों से विचार-विमर्श कर, पूर्वापर विरोधों का निरसन करने का पूरा प्रयास किया है।

पुण्यकर्म धर्म नहीं हो सकता, इनमें दो मत नहीं हो सकते। कर्म पुद्गल व अजीव है, अतः जीव के स्वभाव-विभाव से इसका कोई सीधा संबंध नही है। आत्मा के स्वभाव-विभाव का आधार उसके सद्गुणों एवं दुर्गुण होते हैं। सद्गुण सद्प्रवृत्ति के, दुर्गुण दुष्प्रवृत्ति के जनक हैं। **दया, दान, करुणा, नम्रता, मृदुता आदि गुणों का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृतियाँ या शुभयोग हैं जो कषाय कमी होने से होते हैं। अतः ये स्वभाव के द्योतक होने से धर्म व पुण्य दोनों हैं। इस दृष्टि से पुण्य तत्त्व (शुभ व शुद्ध अध्यवसाय) व धर्म एक भी हैं।** इसी प्रकार अनेक विवक्षाओं से पुस्तक में यथाप्रसंग विचार-विमर्थ व मंथन किया गया है। इससे कितना नवनीत प्राप्त हुआ है, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे।

पुस्तक में जिज्ञासाओं के समाधान के लिए कुछ तथ्यात्मक सिद्धान्तों एवं प्रमाणों को एकाधिक बार दोहराना पड़ा है। इसे पुनरुक्त दोष न समझा जावे। विषय के प्रतिपादन को स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए यथाप्रसंग परिभाषाओं एवं प्रमाणों के उद्धरणों को बार-बार प्रस्तुत करना आवश्यक था। ऐसा न करने पर उस प्रसंग में विषय का विवेचन अधूरा रह जाता जिससे सम्यक् समाधान नहीं हो सकता था। अत: निवेदन है कि प्रकृत विषय पर जो प्रमाण दिये गए हैं, उन पर निष्पक्ष होकर गहन-चिंतन-मनन करें और वस्तु-तथ्य का सम्यक् निर्णय करें।

प्राणिमात्र का हित राग, द्वेष, विषय, कषाय, मोह आदि दोषों से रहित होने में, अपने स्वभाव को प्रकट करने में है, शेष सब व्यर्थ है प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य भी यही प्रतिपादित करना रहा है। अत: हम वाद-विवाद से ऊपर उठकर विवेच्य-विषय से अपने विकारों को घटाये, सद्गुणों को प्रकट करें, यही नम्र निवेदन है।

वस्तुत: जीव के हित-अहित का कारण भावों की विशुद्धि-अशुद्धि ही है। मन, वचन एवं काया की सद्प्रवृत्तियों तथा दुष्प्रवृत्तियों में मुख्यता भावों की ही है। भावों की अशुद्धि पाप कर्मों के बंध की और भावों की विशुद्धि पाप कर्मों के निरोध, निर्जरा व मोक्ष की तथा पुण्योपार्जन की हेतु हैं। बंध व मोक्ष के मुख्य हेतु अशुद्ध-शुद्ध भाव ही है।

जिस भाव व उसकी क्रियात्मक प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो उसे पाप तत्त्व कहा है। आत्मा का पतन राग, द्वेष आदि दूषित भावों से एवं प्राणातिपात, मृषावाद आदि दुष्प्रवृत्तियों से होता है। अत: राग, द्वेष, प्राणातिपात आदि दोष व दुष्प्रवृत्तियाँ पाप हैं। इन्हीं पापों के परिणाम से पाप कर्मों का उपार्जन, आस्रव व बंध आदि पाप के विभिन्न रूप (प्रकार) जीव के गुणों के घातक, भवभ्रमण कराने वाले, अकल्याणकारी, संसारवर्द्धक एवं दु:खद होते हैं। अत: ये सब हेय व त्याज्य हैं।

पाप तत्त्व के विपरीत पुण्य तत्त्व है। जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, वह पुण्य है। आत्मा की अपवित्रता का हेतु पाप व दोष हैं। दोषों में, कषायों में कमी होने से भावों में विशुद्धि या पवित्रता होती है जिससे क्षमा, सरलता, विनम्रता, करुणा आदि जीव के स्वाभाविक गुणों में वृद्धि होती है तथा ये गुण दया, दान, सेवा, स्वाध्याय आदि सद्प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, इन्हें ही पुण्य तत्त्व कहा गया है जो आध्यात्मिक विकास का सूचक है। आध्यात्मिक विकास पुण्य तत्त्व का आंतरिक फल

है। पुण्य तत्त्व से पुण्य कर्म की प्रकृतियों का उपार्जन होता है जिससे शरीर, इन्द्रिय, मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति आदि सामग्री मिलती है अर्थात् भौतिक विकास होता है। यह पुण्य तत्त्व का बाह्य फल है।

पाप में कमी होने से आत्मा पवित्र होती है। आत्मा की पवित्रता जीव का स्वभाव है। अतः पुण्य कर्म का उपार्जन स्वभाव से, निसर्ग से स्वतः होता है। इसके लिये पाप के निरोध व क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं है। पुण्य कर्म पूर्ण रूप से अघाती कर्म है और शुभ फल दायक है। अतः मुक्ति-प्राप्ति में यह लेशमात्र भी बाधक नहीं होता है, अपितु सहायक ही होता है। इससे किसी भी जीव को कभी भी हानि होना संभव नहीं है। **यह नियम है कि पुण्य कर्म का उपार्जन आत्म-पवित्रता से, आत्म-विकास से, आत्मिक गुणों की वृद्धि से संयम, त्याग, तप से होता है, परन्तु पुण्य कर्म के उदय से आत्म-विकास व गुणों की वृद्धि होती हो, ऐसा नियम नहीं है। कारण कि पुण्य कर्म से शरीर, इन्द्रिय आदि साधन सामग्री मिलती है। प्राप्त साधन सामग्री का दुरुपयोग एवं सदुपयोग दोनों हो सकते हैं। पुण्य से प्राप्त शरीर, इन्द्रिय आदि का उपयोग विषय-कषाय के सेवन में हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों में अर्थात् पापों में करना पुण्य कर्म का दुरुपयोग है। इससे पुण्य क्षीण होता है एवं पाप कर्मों में वृद्धि होती है, जो अहित, दुःख एवं संसार-परिभ्रमण का कारण है। इसमें दोष पुण्य कर्म का नहीं है, अपितु उससे प्राप्त सामग्री के दुरुपयोग का है।** पुण्य से प्राप्त सामग्री शरीर आदि में जीवन-बुद्धि रखना, इनसे विषय-सुख भोगना इनका दास होना है, इनके आधीन होना है। आत्मा का हित दासता से, पराधीनता से मुक्त होने में है। जो पुण्य से प्राप्त सामग्री का उपयोग विषय-कषाय सेवन में न करके सेवा-साधना में करता है, वह इनकी दासता में आबद्ध नहीं होता है, इनसे ऊपर उठ जाता है, स्वाधीन व मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोगसे पुण्य तत्त्व पुष्ट होता है जिससे पुण्य कर्म के उपार्जन में, अनुभाव में वृद्धि होती है। इस प्रकार पुण्यतत्त्व से पुण्य कर्म में और पुण्य कर्म के सदुपयोग से पुण्य तत्त्व में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है जिससे आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास होता जाता है। अतः महत्त्व पुण्य तत्त्व का एवं पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग का है। इस तथ्य को सदैव स्मरण रखना है कि पुण्य कर्म से प्राप्त

शरीर आदि साधन सामग्री है, साधन, साध्य एवं जीवन नहीं है। साधन-सामग्री को साध्य व जीवन मानना भयंकर भूल है, अपना घोर अहित करना है। इस भूल के रहते मुक्ति की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। अतः साधक का हित पुण्य कर्म के संपादन में है, उसमें आबद्ध होने में नहीं है। साधक का कर्त्तव्य पुण्य कर्म का सदुपयोग दया, दान, सेवा, साधना में कर, कर्म की दासता से छुटकारा पा लेने में है, उससे ऊपर उठ जाने में है, उसके आश्रय का त्यागकर स्वाधीन हो जाने में है। साधक के लिए पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग का दायित्व है, जो साधना में सहायक है इसे कभी नहीं भूलना चाहिए अर्थात् साधक को पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के दासत्व से छुटकारा पाना है।

प्रस्तुत पुस्तक में पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। इसमें पाप तत्त्व, पापास्रव, पापकर्म, पाप-प्रवृत्ति आदि पाप के सब रूप पूर्ण रूप से त्याज्य ही है। परन्तु **जहाँ भी पुण्य को महत्त्व दिया गया है व इसे मुक्ति में सहायक कहा है वहाँ पुण्य के कारणभूत कषाय में कमी रूप विशुद्धि भाव को, आत्म-पवित्रता को, पुण्य कर्म के सदुपयोग को, पुण्य के अनुभाव को ही ग्रहण करना चाहिये।** पुण्य कर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग आत्मा की विशुद्धि की पूर्णता का द्योतक है। पुण्य कर्मों के अनुभाग की उत्कृष्ट अवस्था में ही केवलज्ञान एवं केवलदर्शन संभव है। अतः पुण्य कर्म में महत्त्व आत्म-विशुद्धि का ही है।

इस कृति में मैंने जो निष्कर्ष दिए हैं, वे जैनागम एवं कर्म-सिद्धान्त के ग्रंथों में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर स्थापित हैं।

विशेष जानकारी के लिए पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'पुण्य-पाप तत्त्व' में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- १. पुण्य तत्त्व : स्वरूप और महत्त्व, २. पाप तत्त्व : स्वरूप और भेद, ३. पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं, ४. पुण्य-पाप तत्त्व और पुण्य-पाप कर्म में अन्तर, ५. पाप-पुण्य का आधार : संक्लेश-विशुद्धि, ६. कषाय की मन्दता पुण्य है, मन्द कषाय पाप है, ७. कर्म-सिद्धान्त और पुण्य-पाप, ८. तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप, ९. पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय की वृद्धि से, १०. क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म, ११. अहिंसा, पुण्य और धर्म, १२. पुण्य-पाप का परिणाम, १३. पुण्य-पाप कर्मबंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं, १४. पुण्य की अभिवृद्धि से पाप का क्षय, १५. पुण्य-पाप की

उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया, १६. पुण्य-पाप की बन्ध व्युच्छित्ति : एक चिन्तन, १७. मुक्ति में पुण्य सहायक, पाप बाधक, १८. पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी साधना से नहीं, १९. पुण्य-पाप के अनुबंध की चौकडी, २०. पुण्य-पाप आस्रव का हेतु : शुद्ध-अशुद्ध उपयोग, २१. शुभयोग (सद्प्रवृत्ति) से पाप कर्मक्षय होते हैं, २२. अनुकम्पा से पुण्यास्रव व कर्मक्षय दोनों होते हैं, २३. आत्म-विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप, २४. सम्पन्नता पुण्य का और विपन्नता पाप का फल, २५. पुण्य-पाप विषयक ज्ञातव्य तथ्य (पुस्तक का सार संक्षेप)

डॉ० सागरमलजी की भूमिका के अंश

पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक साधक प्रज्ञापुरुष पं. कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अति परिश्रम करके प्रस्तुत कृति में सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुण्य हेय नहीं है, अपितु उपादेय है।

यदि पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक मानकर हेय मानेंगे तो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म को भी मुक्ति में बाधक मानना होगा, किन्तु कोई भी जैन विचारक तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के बंध को मुक्ति में बाधक, अनुपादेय य हेय नहीं मानता है। क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म के बंध के पश्चात् नियमतः तीसरे भव में अवश्य मुक्ति होती है। पुनः तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का, जब तक उनके आयुष्य कर्म की स्थिति होती है तब तक ही अस्तित्व रहता है। अतः वह मुक्ति में बाधक नहीं होता, क्योंकि तीर्थंकर नाम कर्म से युक्त जीव तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र के उदय की अवस्था में नियम से ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

वस्तुतः व्यक्ति में जब तक योग अर्थात् मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं तब तक कर्मास्रव अपरिहार्य है। फिर भी जैनाचार्यों ने इन योगों अथवा मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों को हेय नहीं बताया है और न उन्हें त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की जो अशुभ या अप्रशस्त प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें रोका जाये, प्रशस्त प्रवृत्तियों के रोकने का कहीं भी कोई निर्देश नहीं है। तीर्थंकर अथवा केवली भी योग-निरोध उसी समय करता है जब आयुष्य कर्म मात्र पाँच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण लगने वाले समय के समतुल्य रह जाता है, अतः पुण्य कर्म को मुक्ति में बाधक या संसार परिभ्रमण का कारण नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः संसार परिभ्रमण का कारण नहीं है। सत्य तो यह है कि ईर्यापथिक आस्रव वस्तुतः बंध नहीं करता है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि पुण्य कर्म करने में प्रशस्त राग होता है और प्रशस्त राग भी संसार परिभ्रमण का कारण होता है। वस्तुतः यहाँ हम दो बातों को आपस में मिला देते हैं। कर्म की प्रशस्तता और कर्म रागात्मकता ये दो अलग-अलग तथ्य हैं। जो प्रशस्त कर्म हो वह रागात्मक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। बंधन में डालने वाला तत्त्व राग-द्वेष या कषाय है, जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुपस्थिति में बंधन नहीं होता है। वस्तुतः प्रशस्तकर्म का सम्पादन बंधन का कारण नहीं है। सभी सद्प्रवृत्तियाँ या पुण्य कर्म रागात्मकता या आसक्ति से उत्पन्न नहीं होते हैं। प्रज्ञावान आत्माओं के कर्म कर्त्तव्य भाव से होते हैं और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से किया गया विनय या सेवा रूप कार्य बंधन का नहीं, अपितु निर्जरा का ही हेतु होता है। इस प्रकार कर्म-फल की आकांक्षा, ममत्व बुद्धि या कषाय ही उसके बंधन के कारण हैं क्योंकि उनकी उपस्थिति में ही कर्म का स्थितिबंध होता है और स्थिति को लेकर जो कर्म बंधते हैं, वे ही संसार परिभ्रमण के कारण और मुक्ति में बाधक होते हैं, न कि कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये सत्कर्म या पुण्यकर्म।

शुभ एवं शुद्ध अविरोधी है

सामान्यतया यह समझा जाता है कि पुण्य प्रकृतियों और निवृत्तिमूलक धर्म-साधना में अथवा शुभ और शुद्ध में परस्पर विरोध है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणाा है। शुद्ध दशा की उपलब्धि के लिए शुभ की साधना आवश्यक होती है, जैसे कपड़े के मैला को हटाने के लिए साबुन आवश्यक है। हम यह जानते हैं कि अशुभ प्रवृत्तियों में निवृत्ति तभी संभव होती है जब शुभ योग में प्रवृत्ति होती है। अशुभ से बचने के लिए शुभ में अथवा पाप प्रवृत्तियों से बचने के लिए पुण्य प्रवृत्तियों में जुड़ना आवश्यक है। हमारी चित्तवृत्ति प्रारम्भिक अवस्था में निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। चित्त विशुद्धि के लिए सर्वप्रथम चित्त में लोक मंगल या लोक कल्याण की भावना को स्थान देना होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ना होता है और शुभ की ओर बढ़ना ही शुद्ध की ओर बढ़ना है। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि के लिए पहले साबुन आदि लगाना होता है, साबुन आदि द्रव्य वस्त्र की विशुद्धि में साधक ही होते हैं बाधक नहीं। उसी प्रकार निष्काम भाव से किये गये लोग मंगल के कार्य भी मुक्ति की साधक होते हैं बाधक नहीं। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि-प्रक्रिया में भी वस्त्र से मैल को निकालने का ही प्रयत्न किया जाता है साबुन तो मैल के निकालने के साथ ही स्वतः ही निकल जाता है। उसी प्रकार चाहे पुण्य प्रवृत्तियों के निमित्त से आस्रव होता भी हो, किन्तु वह आस्रव आत्म-

विशुद्धि का साधक ही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग की अवस्था में पुण्य के आस्रव से स्थिति बंध नहीं होता। तीर्थंकर अथवा केवली सदैव शुद्धोपयोग में रहते हैं, किन्तु उनको भी अपनी योग प्रवृत्ति के द्वारा वेदनीय कर्म का आस्रव जो पुण्य प्रकृति का आस्रव है या- ईर्यापथिक आस्रव है, होता ही रहता है। इसका फलित यह है कि शुभयोग शुद्धापेयोग में बाधक नहीं है, अपितु साधक ही हैं।

कसायपाहुड की जयधवला टीका में अनुकंपा और शुद्धोपयोग से भी आस्रव माना है, किन्तु ऐसा आस्रव हेय नहीं है। तीर्थंकर वीतराग होते हैं। उन्हें शुद्धोपयोग दशा में भी योग की सत्ता बने रहने पर शुभास्रव तो होता ही है। अतः शुद्धोपयोग और शुभास्रव विरोधी नहीं हैं। शुद्धोपयोग आत्मा की अवस्था है जबकि शुभ योग, जो पुण्य बंध का कारण है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का ही परिणाम है। जब तक जीवन है, योग होंगे ही। यदि शुभ योग नहीं होंगे तो अशुभ योग होंगे, अतः अशुभ से निवृत्ति होने पर ही शुभ योग के द्वारा शुद्धोपयोग की प्राप्ति संभव है। शुभ-योग और शुद्धोपयोग में साधन-साध्य भाव है, अतः उन्हें अविरोधी मानकर शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति के लिए साधन रूप शुभ योगों अर्थात् पुण्य कर्मों का अवलंबन लेना चाहिये। पाप रूपी बीमारी को हटाने के लिए पुण्य प्रवृत्ति औषधि रूप हैं। जिससे आत्मा-विशुद्धि रूप स्वास्थ्य या शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति होती है। वस्तुतः शुभाशुभ कर्मों से जो ऊपर उठने की बात कही जाती है उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मोक्षरूपी साध्य की उपलब्धि होने पर व्यक्ति पुण्य-पाप दोनों का अतिक्रमण कर जाता है जैसे नदी पार करने के लिए नौका की अपेक्षा होती है किन्तु जैसे ही किनारा प्राप्त हो जाता है, नौका भी छोड़ देनी पड़ती है, किन्तु इससे नौका की मूल्यवत्ता या महत्ता को कम नहीं आंकना चाहिये। पार होने के लिए उसकी आवश्यकता तो अपरिहार्य रूप से होती है। वैसे ही संसार रूपी समुद्र से पार होने के लिए पुण्य रूपी नौका अपेक्षित है, क्योंकि साधना की पूर्णता मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति में है और मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति के लिए पुण्य कर्मों का सम्पादन आवश्यक है, अतः पुण्य कर्मों की उपादेयता निर्विवाद है।

पुण्य कर्मों को बंधन रूप मानकर जो उनकी उपेक्षा की जाती है वह बंधन के स्वरूप की सही समझ नहीं होने के कारण है। पुण्य कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते हैं तो उनसे बंधन नहीं होता है। यदि जैन धर्म की शास्त्रीय भाषा में कहे तो उनसे मात्र ईर्यापथिक बंध होता है, जो वस्तुतः बंध नहीं है। बंधन जब भी होगा

वह राग-द्वेष (कषाय) एवं फलांकांक्षा की सत्ता होने पर ही होगा, उनका अभाव होने पर बंधन नहीं होगा। जैन कर्म सिद्धान्त का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी कर्म का स्थिति बंध कषाय के कारण है। अतः वीतराग दशा की प्राप्ति पर शुभ कर्म या पुण्य कर्म अकर्म बन जाते हैं, वे बंधन नहीं करते हैं। अतः त्याज्य कषाय है न कि पुण्य कर्म। आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति अर्थात् शुद्धपयोग में उपस्थिति कषाय के अभाव में ही संभव है अतः उसकी प्राप्ति के लिए 'कषाय का त्याग आवश्यक है न कि पुण्य प्रवृत्ति का। वस्तुतः जब राग-द्वेष (कषाय) एवं फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है तब वह शुभकर्म अकर्म बन जाता है। कषाय चाहे अधिक हो या अल्प, वह त्याज्य है, वह पापरूप ही है, क्योंकि वह बन्धन का कारण ही है। आदरणीय कन्हैयालाल जी लोढा का यह कथन शत प्रतिशत सही है कि मन्द कषाय पापरूप है, किन्तु कषाय की मन्दता पुण्य रूप है। कषाय में जितनी मन्दता होगी, पुण्यप्रभार उतना ही अधिक होगा। पुण्य प्रवृत्तियाँ जब भी होती हैं, वे कषाय की मन्दता में ही होती है। अतः कषाय चाहे वह मन्द ही क्यों न हो, त्याज्य है, किन्तु कषाय की मन्दता उपादेय है, क्योंकि साधक कषाय को मन्द करते-करते अन्त में वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है और जब वह वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक रूप से निःसृत होने वाली लोकमंगलकारी पुण्य प्रवृत्तियाँ बन्धन कारक नहीं होती हैं। वे त्याज्य नहीं, अपितु उपादेय ही होती हैं। बंधन पुण्य प्रवृत्तियों से नहीं होता है, बन्धन तो व्यक्ति की निदान बुद्धि या फलाकांक्षा से होता है अथवा कषाय की उपस्थिति से होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार भी कर्मबंध दसवें गुणस्थान तक ही संभव है, क्योंकि दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) की सत्ता है। ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक लोकमंगल की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप जो द्वि-समय का ईर्यापथिक सातावेदनीय कर्म का बंध होता है वस्तुतः वह बंधन नहीं है। अतः पुण्य रूप सद्प्रवृत्तियाँ बन्ध रूप नहीं है अतः वे हेय नहीं उपादेय हैं। हेय तो कषाय हैं, जो पाप रूप हैं। **प्रस्तुत कृति में पं० कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने पुण्य प्रवृत्तियों की उपादेयता को सप्रमाण सिद्ध किया है। उनके मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु निम्न हैं-**

(१) पुण्यतत्त्व और पुण्य कर्म में अन्तर है। चाहे पुण्यकर्म बंधन के निमित्त हों, किन्तु पुण्यतत्त्व बन्धन का निमित्त नहीं है। पुण्यकर्म क्रिया पुण्यतत्त्व उपयोग रूप है, शुभ आत्म परिणाम रूप है जो

कषाय की मन्दता का परिणाम है। अतः कषाय की मन्दता रूप पुण्य तत्त्व आत्म-विशुद्धि का निमित्त होने से उपादेय है।

(२) कषाय की मन्दता और मन्द कषाय में अन्तर है। जहाँ कषाय की मन्दता पुण्य रूप है वहाँ मन्द कषाय भी पाप रूप है। कषाय की मन्दता से शुभपरिणाम होते हैं और उससे पुण्य तत्त्व में अभिवृद्धि होती है, जबकि मन्द कषाय से भी अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और उनसे पाप तत्त्व की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कषाय की मन्दता पुण्य का हेतु है, जबकि मन्द कषाय पाप के हेतु हैं।

(३) कषाय की मन्दता से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्म-विशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि में साधक है। अतः पुण्य मोक्ष का साधक होने से उपादेय है, जबकि पाप मोक्ष में बाधक होने से हेय है।

(४) पुण्य पाप का प्रक्षालन करता है, अतः पुण्य सोने की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बंधन में डालती है, आभूषण नहीं। बेड़ी बाध्यतावश धारण करनी पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अतः बेड़ी से हम इच्छानुसार मुक्त नहीं हो सकते हैं, किन्तु आभूषण से इच्छानुसार मुक्त हो सकते हैं। अतः आभूषण रूप पुण्य के क्षय का कोई उपाय किसी साधना में निर्दिष्ट नहीं है।

(५) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों से बंध नहीं होता है। बंध तो तभी होता है, जब कर्त्ता में फलाकांक्षा, निदान कर्तृत्व या भोक्तृत्व रूप कषाय परिणाम हो। संक्षेप में शुभयोग के साथ रहा हुआ कषाय भाव ही उन कर्मों के स्थिति बंध का कारण होता है। शुभ योग कर्मबंध का कारण नहीं होता।

(६) पुण्य स्वभाव है, स्वभाव का नाश नहीं होता है। पुनः जो स्वभाव होता है, वही धर्म है। पुण्य स्वभाव है अतः वह धर्म है। पुनः स्वभाव का त्याग संभव नहीं है, अतः पुण्य त्याज्य नहीं है। यही कारण है कि तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी लोककल्याण या प्राणियों के प्रति अनुकम्पा की दृष्टि से ही तीर्थ प्रवर्तन, धर्मोपदेश

आदि प्रवृत्ति करते हैं। अतः पुण्य कभी भी त्याज्य नहीं है, वह सदैव ही उपादेय है।

(७) पुण्य केवल आस्रव या बंध रूप नहीं है, अपितु संवर और निर्जरा रूप भी है, अतः पुण्य हेय नहीं उपादेय है।

(८) पुण्य-पाप कर्म का संबंध उनकी फलदान शक्ति-अनुभाग से है, स्थिति बंध से नहीं है।

(९) जैन दर्शन में वीतरागता की उपलब्धि के लिए रागादि पापों को ही त्याज्य कहा है, पुण्य को नहीं। अतः आस्रव, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों भेद-उपभेद का प्रतिपादन पाप को लक्ष्य में रखकर ही क्रिया है, पुण्य को लेकर नहीं।

(१०) जैन कर्म-सिद्धान्त में जीव के स्वभाव व गुण का घातक घाती कर्मों को ही कहा है, अघाती कर्मों को नहीं। अघाती कर्मों की असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियों की सत्ता भी जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि किसी भी गुण की उपलब्धि में बाधक नहीं है। अतः पुण्य प्रकृतियों को जीव के किसी भी गुण की उपलब्धि में एवं वीतरागता में बाधक मानना सिद्धान्त विरुद्ध है।

(११) पुण्य-पाप दोनों विरोधी हैं। अतः जितना पाप घटता है उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। पुण्य के अनुभाग के घटने से पाप कर्मों के स्थिति और अनुभाग बंध नियम से बढ़ते है।

(१२) पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी भी साधना के यहाँ तक कि केवल समुद्घात से भी नहीं होता है।

(१३) चारों अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन चारों कषायों के घटने से व क्षय से होता है।

(१४) पुण्य त्याज्य नहीं है, पुण्य के साथ रहा हुआ फलाकांक्षा निदान, भोक्तृत्वभाव कर्त्तृत्वभाव रूप कषाय व पाप त्याज्य है। जैसे गेहूँ के साथ रहे हुए कंकर-मिट्टी एवं भूसा त्याज्य हैं, गेहूँ त्याज्य नहीं है।

(१५) पुण्य का अनुभाग बढ़कर चतुःस्थानिक हुए बिना सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नहीं होता है। अतः पुण्य आत्म-विकास में, साधना में बाधक व हेय नहीं है।

यह तो हमने पण्डित प्रवर लोढ़ा जी की स्थापनाओं का संक्षिप्त झलक दी है। उन्होंने प्रस्तुत कृति के अन्त में ऐसे एक सौ अठारह तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करते हैं। वस्तुतः उनकी ये स्थापनाएँ किसी पक्ष-विशेष के खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नहीं, अपितु जैन कर्म सिद्धान्त के ग्रंथों के गंभीर आलोडन का परिणाम है। वे मात्र विद्वान् नहीं है, अपितु साधक भी हैं। उनके द्वारा इस कृति की रचना का प्रयोजन उनके अन्तस् में प्रवाहमान करुणा की अजस्रधारा ही है। उनका प्रतिपाद्य मात्र यही है कि धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर सेवा और करुणा की सद्प्रवृत्तियों का समाज से विलोप नहीं हो। क्योंकि मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि वह दूसरे प्राणियों का रक्षक बने, उनके सुख-दुःख का सहभागी बने।

वस्तुतः मैं पूज्य लोढ़ाजी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लेखन का दायित्व मुझे देकर उनकी इस गहन गंभीर तात्त्विक कृति में अवगाहन का अवसर दिया।

आमुख

(पुण्य-पाप तत्त्व पुस्तक से उद्धृत संपादकीय)

- धर्मचन्द्र जैन

क्या 'पुण्य' भी 'पाप' की भाँति हेय है? यह एक यक्ष प्रश्न है, जिसका समाधान तत्त्वमनीषी पं. कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने अपनी इस कृति में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत करने का महनीय प्रयास किया है। लेखक ने पुण्य तत्त्व को विशुद्धिभाव के रूप में निरूपित करते हुए उसे कर्मक्षय एवं मुक्ति-प्राप्ति में सहायक माना है, जबकि पाप को मुक्ति में बाधक प्रतिपादित किया है। लेखक ने पुण्य को सोने की बेड़ी नहीं, अपितु आभूषण बताया है।

कुछ लोग जैन धर्म की यह विशेषता मानते हैं कि इसमें पुण्य को भी हेय कहा गया है। यह सच है कि सिद्धावस्था में न पुण्य रहता है और न पाप। किन्तु इससे पुण्य को पाप की भांति हेय नहीं कहा जा सकता। साधक के लिए पुण्य उसी प्रकार उपादेय है, जिस प्रकार कि संवर एवं निर्जरा। पुण्य की उपादेयता को

आपेक्षिक दृष्टि से समझना होगा। इसकी उपादेयता संसारी जीवों की अपेक्षा से है, सिद्धों की अपेक्षा से नहीं। जब तक जीव मोहकर्म के अधीन है तब तक कषाय की हानि रूप विशुद्धिभाव अर्थात् पुण्य उसके लिए उपादेय है। संसारी प्राणी के लिए कषाय में कमी आना, भावों में विशुद्धि आना, आत्मा का पवित्र होना कदापि हेय नहीं हो सकता।

दु:ख-मुक्ति रूप साध्य के लिए पुण्य भी एक साधन है। इसलिए वह उपादेय है। यदि पुण्य तत्त्व को उपादेय नहीं माना जाए तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। संक्लेश से विशुद्धि में आना साधना का अंग है, जो पुण्य रूप ही है। जैन दर्शन में पुण्य से उपलब्ध होने वाली मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वज्र ऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान आदि पुण्य प्रकृतियों के बिना मोक्ष स्वीकार नहीं किया जाता। अत: इनकी प्राप्ति के लिए भी पुण्य तत्त्व की उपादेयता असंदिग्ध है।

पुण्य के हेय मानने का एक परिणाम यह भी हुआ कि दया, अनुकम्पा, करुणा, सहानुभूति जैसे सदगुणों को भी पुण्य का कारण मानकर हेय समझा जाने लगा, जिससे इन गुणों का महत्त्व ही समाप्त हो गया। पाप हेय है, पुण्य नहीं। **प्रशस्त योग को पुण्य एवं अप्रशस्त योग को पाप कहा जाता है। इस प्रशस्त योग को उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञानावरणादि घाती कर्मों को क्षय करने वाला बताया गया है-'पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ।' (उत्तरा० २९ ७) अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र का लक्षण बताया गया है-** 'असुहादो विणिवित्तिं, सुहे पवित्तिं च जाण चारित्तं।' असंयम घातक है, इसलिए उसे छोड़ने एवं संयम में प्रवृत्ति करने के लिए आगम स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है-

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।

- उत्तरा० ३१.२

पुण्य एवं पाप तत्त्व की गणना नौ तत्त्वों में होती है। नौ तत्त्वों का प्रतिपादन स्थानांग (नवम स्थान), उत्तराध्ययन (२८. १४), पंचास्तिकाय (गाथा १०८) एवं गोम्मटसार जीवकाण्ड (गाथा ६२९) में स्पष्टरूपेण हुआ है। किन्तु उमास्वाति ने पाप एवं पुण्य का समावेश आस्रव तत्त्व में करके सात ही तत्त्वों का प्रतिपादन

किया है। इससे उनके न चाहते हुए भी पुण्य एवं पाप तत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई। यथा-पुण्य को भी पाप की भांति हेय मान लिया गया। आचार्य कुन्द-कुन्द ने पाप को लोहे की बेड़ी कहा तो पुण्य को सोने की बेड़ी। इस प्रकार पुण्य को भी पाप की भाँति मुक्ति में बाधक समझा गया।

पुस्तक के लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुण्य को पाप की भाँति हेय की श्रेणि में नहीं रखा जा सकता है। लेखक का यह मन्तव्य है कि जिस प्रकार मोक्ष की साधना में संवर एवं निर्जरा उपयोगी है, उसी प्रकार पुण्य भी उपयोगी है। लेखक ने **पुण्य को तत्त्व को रूप में भी निरूपित किया है तो कर्म के रूप में भी।** पुण्य तत्त्व को वे साधना की दृष्टि से उपयोगी मानते हैं तो पुण्य कर्म के उत्कृष्ट अनुभाग को केवलज्ञान के प्रकटीकरण में भी आवश्यक मानते हैं। **पुण्य कर्म की प्रकृतियाँ अघाती होती हैं, अतः इनसे जीव के ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं हो सकता।**

पुण्य को लेखक ने सर्वार्थसिद्धि में प्राप्त लक्षण 'पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा' के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाला स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रज्ञापना सूत्र, धवला टीका एवं कर्मग्रन्थों में प्रयुक्त संक्लेश एवं विशुद्धि शब्दों को भी आधार बनाया है। विद्यमान कषाय में हानि (कमी) होना विशुद्धि है एवं उसमें वृद्धि होना संक्लेश है। विशुद्धि की अवस्था में आत्मा में पवित्रता आती है तथा संक्लेश की अवस्था में आत्मा का पतन होता है। अतः श्री लोढा सा० ने विशुद्धि को पुण्य एवं संक्लेश को पाप कहा है। **'कषाय की मन्दता पुण्य है, एवं मन्द कषाय पाप है'** नामक लेख में लेखक ने स्पष्ट किया है कि विद्यमान कषायों में कमी होना जहाँ पुण्य है, वहाँ अवशिष्ट रहे कषाय तो पाप रूप ही होते हैं।

पाप त्यात्य है, पुण्य नहीं, इस तथ्य की पुष्टि आगमों के उन वाक्यों से होती है, जिनमें सर्वत्र पाप को ही त्याज्य निरूपित किया गया है। सर्वत्र पाप कर्मों को क्षय करने को संकेत किया गया है, पुण्य कर्मों के क्षय का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। **'तवसा धुणइ पुराणपावगं'** (दशवै० ९.४.४) **'संवरेण कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ'** (उत्तरा० २९.५५) आदि वाक्यों में पाप कर्मों के आस्रव-निरोध या उनके क्षय करने का ही संकेत प्राप्त होता है, पुण्य कर्मों के आस्रव-निरोध एवं उनके क्षय का नहीं।

'तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप' प्रकरण में लेखक ने प्रतिपादित किया है कि आस्रव, संवर, निर्जरा आदि तत्त्वों का आधार पाप कर्म है, पुण्य नहीं। जब आस्रव त्याज्य होता है तो **पुण्य का आस्रव त्याज्य नहीं होता, पाप का ही आस्रव त्याज्य होता है। संवर भी पाप प्रवृत्ति या सावद्य प्रवृत्ति का ही किया जाता है, शुभ प्रवृत्ति का नहीं। इसी प्रकार साधना के द्वारा निर्जरा भी पाप कर्मों की ही की जाती है, पुण्य कर्मों की नहीं। पुण्य कर्म अघाती होते हैं, अतः वे लेशमात्र भी आत्मगुणों को हानि नहीं पहुँचाते।** लेखक का तो 'कर्म सिद्धान्त और पुण्य-पाप' प्रकरण में यह भी मन्तव्य है कि अघाती कर्म की पाप प्रकृतियों से भी जीव के किसी गुण का घात नहीं होता है तब पुण्य प्रकृतियों को जीव के लिए घातक या हेय मानना नितान्त भ्रान्ति है। इस प्रकरण में पुण्य-प्रकृतियों के सम्बन्ध में विशेष सूचनाएँ दी गई हैं, यथा-

(१) जब तक पुण्य कर्म=प्रकृतियों को द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतुःस्थानिक नहीं होता है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है और यह चतुःस्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवलज्ञान नहीं होता है। (पृष्ट ३९)

(२) देवद्विक पंचेन्द्रिय जाति आदि ३२ पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध उसी भव में मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते हैं। (पृष्ठ ३८)

(३) चौदहवें अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारों अघाती कर्मो की ८५ पुण्य-पाप प्रकृतियों की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होने में बाधा उपस्थित नहीं होती। (पृष्ठ ४४)

(४) मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय की अवस्था में ही साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एवं केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति सम्भव है।

(५) चारो अघाती कर्मों की मनुष्यायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, यशकीर्ति आदि १२ पुण्य प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय तक रहता है। (पृष्ठ ४१)

पुण्य-पाप का सम्बन्ध अनुभाग बन्ध से है। जब परिणामों में विशुद्धि होती है तो पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है तथा पाप प्रकृतियों के अनुभाग में कमी होती हैं। इससे पुण्य एवं पाप के परस्पर विरोधी होने को बोध होता है।

एक विशेष बात यह है कि पुण्य एवं पाप दोनों कर्मों का स्थिति बन्ध कषाय से होता है। अतः परिणामों में विशुद्धि होने पर दोनों की स्थिति का अपवर्तन (ह्रास) होता है। विशुद्धिभाव होने पर पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होता है, पापस्रव का कथंचित् संवर होता है, आदि तथ्यों को निरुपण 'पुण्य-पाप का परिणाम' लेख में किया गया है। एक विशेष बात यह कही गई है कि पुण्य के अनुभाग में वृद्धि स्थितिबन्ध के क्षय में हेतु होती है।

'पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय के उदय से' प्रकरण में पुण्योपार्जन एवं पापोपार्जन की विस्तृत चर्चा करने के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि **(१) क्रोध कषाय के क्षय (कमी) से सातावेदनीय (२) मान कषाय के क्षय से उच्चगोत्र (३) माया कषाय के क्षय से शुभ नामकर्म और (४) लोभ कषाय में कमी होने से शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है।** इसके विपरीत इन चारों कषायों में वृद्धि से क्रमशः (१) असाता वेदनीय (२) नीचगोत्र (३) अशुभ नामकर्म और (४) अशुभ आयु का बन्ध होता है।

जितना पुण्य बढ़ता है अर्थात् विशुद्धिभाव बढ़ता है उतना ही पाप कर्मों का क्षय होता है। क्षायोपशमिक, औपशमिक एवं क्षायिकभाव शुभभाव हैं। इनसे कर्मों का बन्ध नहीं होता है। कर्मों का बंध औदयिकभाव से ही होता है। इस प्रकार का प्रतिपादन 'पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि क्षय की प्रक्रिया में किया गया है।

लेखक का यह सुदृढ़ मन्तव्य है कि मुक्ति में पुण्य सहायक है एवं पाप बाधक है। पुण्य आत्मा को पवित्र करता है, बद्ध कर्मों की स्थिति का अपकर्षण करता है, इसलिए वह मुक्ति में सहायक है, जबकि पाप कर्म विशेषतः घाती कर्म मुक्ति में बाधक है। लेखक का यह भी कथन है कि पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी भी प्रकार की साधना से सम्भव नहीं है। पुण्य और पाप की चौकड़ी के अन्तर्गत श्री लोढा सा० ने असातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाले कर्मबन्ध को पापानुबन्धी पाप बताया है उन्होंने धवला टीका के आधार पर सातावेदनीय के उदय में संक्लेश भावों से होने वाले कर्मबन्ध को पापानुबन्धी पुण्य एवं विशुद्धिभावों से होने वाले कर्मबन्ध को पुण्यानुबन्धी पुण्य बताया है।

पुण्य शुभयोग रूप होता है। जयधवल टीका में कहा गया है कि **यदि शुभ एवं शुद्ध परिणमों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों को क्षय हो ही नहीं सकता - 'सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो'** (जयधवल पुस्तक, पृष्ठ ५) इसी ग्रन्थ में अनुकम्पा एवं शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रव का एवं अदया और अशुद्ध उपयोग को पापास्रव का कारण कहा है। **अनुकम्पा से पुण्यास्रव भी होता है तो कर्मक्षय भी होता है,** क्योंकि पुण्यास्रव विशुद्धिभाव से होता है एवं विशुद्धिभाव कर्मक्षय का भी हेतु है।

पुण्य को लेखक ने धर्म के रूप में प्रतिपादित करते हुए कहा है कि विशुद्धिभाव रूप पुण्य अथवा सद् प्रवृत्तिरूप पुण्य धर्म है। सकारात्मक अहिंसा को भी वे धर्म एवं पुण्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं। 'क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म' में क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिकभाव को मोक्ष का हेतु होने से धर्म एवं पुण्य के रूप में निरूपित किया गया है।

पुण्य तत्त्व को आत्म-विकास का और पुण्य कर्म को भौतिक विकास का सूचक बताते हुए लोढा सा० ने प्रतिपादित किया है कि पुण्यतत्त्व का सम्बन्ध आत्म-गुणों के प्रकट होने से है, जो आध्यात्मिक विकास को द्योतित करता है तथा पुण्य कर्म का सम्बन्ध पुण्य तत्त्व के फल रूप में मिलने वाले इन्द्रिय, गति आदि सामग्री एवं सामर्थ्य की उपलब्धि से है जो भौतिक विकास को इंगित करता है। आध्यात्मिक विकास एवं भौतिक विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। संसारी अवस्था में प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता है उतना ही उसका भौतिक विकास स्वत: होता जाता है।

लेखक के अनुसार सद्गुणों का होना ही सम्पन्नता है एवं दुर्गुणों को होना ही विपन्नता है। सद्गुण रूप सम्पन्नता पुण्य का एवं दुर्गुण रूप विपन्नता पाप का फल है।

कृति के अन्त में पुण्य-पाप विषयक ११८ ज्ञातव्य तथ्य दिए गए हैं जो लेखक के व्यापक अध्ययन एवं मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करने के साथ पाठक को नई दिशा प्रदान करते हैं।

पुण्य-पाप तत्त्व का आगम एवं कर्म-सिद्धान्त के आलोक में किया गया प्रतिपादन मौलिक-चिन्तन एवं तार्किक कौशल से परिपूर्ण है। पं० श्री लोढा सा० आगम एवं कर्मसिद्धान्त के विशेषज्ञ होने के साथ प्रखर समीक्षक एवं साधक भी हैं। उन्होंने आत्मिक-विकास क्रम के आधार पर पुण्य तत्त्व एवं पुण्य कर्म दोनों की उपयोगिता सिद्ध की है।

प्रो. सागरमल जैन ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर जहाँ इस कृति को सुगम बनाया है वहाँ इसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है। प्रो. जैन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि पुण्य न बन्धनकारी है और न हेय, अपितु उसके साथ रहा हुआ कषाय, ममत्व, आसक्ति या फलाकांक्षा बन्धनकारी है, जो त्याज्य है।

आशा है विद्वद्वर्य पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा की यह कृति सभी जैन सम्प्रदायों में अध्ययन का विषय बनेगी एवं इससे विचारों को नई दिशा मिलेगी।

❑❑❑

आस्रव-संवर तत्त्व

आस्रव-संवर तत्त्व का स्वरूप और विवेचन

आस्रव-जिससे कर्म आवे, उसे आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार तालाब में जल आने का मार्ग या नाली आस्रव कहलाती है, इसी प्रकार कर्म, मन-वचन-काया के योग द्वारा आते हैं। इसलिये योगों को आस्रव कहा गया है। यथा-

कायवाङ्-मनःकर्म योगः। स आस्रवः।

- तत्त्वार्थ सूत्र अ.६ सूत्र १-२

अर्थात् काय, वचन और मन की क्रिया (प्रवृत्ति) योग है। वह (योग ही) आस्रव है। मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों में स्पंदन होता है। यह स्पंदन ही आस्रव है। आत्म-प्रदेशों में स्पंदन होने से वहाँ स्थित आकाश से कर्म-वर्णणाएँ आकर्षित होती हैं और उनका आत्मा से संयोग हो जाता है, वे जुड़ जाती हैं। इस जोड़ को योग व आस्रव कहा जाता है।

आस्त्रव दो प्रकार का है -

'शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य।'

- तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सूत्र ३-४

अर्थ- आस्रव दो प्रकार के हैं - (१) पुण्यास्रव और (२) पापास्रव।

शुभ योग पुण्य का आस्रव है और अशुभ योग पाप का आस्रव है।

शुभ-अशुभ आस्रवों के लक्षण

'तत्र कायिको हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्मचर्यादिषु प्रवृत्ति-निवृत्तिसंज्ञः। वाचिकः परुषाक्रोशपिशुनपरोपघातादिषु वचस्सु प्रवृत्ति-निवृत्तिसंज्ञः। मानसो मिथ्याश्रुत्यभिघातेर्ष्यासूयादिषु मनसः प्रवृत्ति-निवृत्तिसंज्ञः।'

तत्त्वार्थसूत्र, ६-७ राजवार्तिक टीका

अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि में प्रवृत्ति अशुभ कायास्रव है तथा निवृत्ति शुभ कायास्रव है। कठोर शब्द, गाली, चुगली आदि पर को आघात पहुँचाने वाले वचनों की प्रवृत्ति वचन का अशुभास्रव है और इनसे निवृत्ति वचन का शुभास्रव है। मिथ्याश्रुति, ईर्ष्या, मात्सर्य, षड्यन्त्र आदि मन की दुष्प्रवृत्ति मन का अशुभास्रव है और इन दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्ति मन का शुभास्रव है। आशय यह है कि अशुभ-योग (पाप प्रवृत्तियाँ) अशुभास्रव (पापास्रव) का हेतु है और शुभ योग (पाप प्रवृत्तियों की निवृत्ति-निरोध) शुभास्रव (पुण्यास्रव) का हेतु है और पापास्रव का निरोध ही संवर भी है। अतः जहाँ शुभास्रव - शुभ योग है वहाँ संवर है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पाप-प्रवृत्तियाँ पापास्रव की हेतु और इनकी निवृत्ति-निरोध (संवरण) पुण्यास्रव का हेतु है।

व्रत या संयम धारण करना संवर का समन्वित या क्रियात्मक रूप है। संयम में सम्यक्त्व, विषय-कषाय से विरक्ति, शुभता, सजगता आदि समन्वित हैं, अतः संयम संवर का द्योतक है।

प्रकारान्तर से आस्रव और संवर के बीस-बीस भेद भी प्रसिद्ध हैं, वे इस प्रकार हैं-

आस्रव के बीस भेद

(१ से ५) **पाँच आस्रव**- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, (६ से १०) **पाँच अविरति**- हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह, (११ से १५) **पाँच इन्द्रियों का असंयम** - श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय, इनका संयम न रखना, (१६ से १८) **तीन योग**- मन, वचन, काय योग की अशुभ प्रवृत्ति, १९ - भाण्ड, उपकरण आदि अयतना से उठाना - रखना, और २० - सूचीकुशाग्र (सुई - दूब की नोक जितनी लघु) वस्तु मात्र का अयतना से लेना और रखना।

आस्रव के ४२ भेद

आस्रव तत्त्व के बयालीस भेद इस प्रकार हैं, यथा-

इंदिय कसाय अव्वय जोगा, पंच चउ चउ पंच तिन्नि कमा।
किरियाओ पणवीसं, इमाउ ताओ अणुक्कमसो।।

अर्थ- पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियाएँ ये आस्रव के बयालीस भेद हैं।

इन्द्रियाँ पाँच हैं- (१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण (४) चक्षु और (५) श्रोत्र। यहाँ इन्द्रियों से अभिप्राय इन्द्रियों के विषयों के भोग से है। इन्द्रिय-विषयों में राग, द्वेष रूप प्रवृत्ति ही आस्रव है। कषाय चार है- (१) क्रोध (२) मान, (३) माया और (४) लोभ। इनके कारण से होने वाला आस्रव ४ प्रकार का है।

अव्रत पाँच हैं- (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन और (५) परिग्रह। इन पाप प्रवृत्तियों से होने वाला आस्रव ५ प्रकार का है।

योग तीन है- (१) मन योग, (२) वचन योग और (३) काय योग। इन तीनों की अशुभ प्रवृत्ति अशुभ योग से होने वाला आस्रव ३ प्रकार का है।

क्रियाएं पच्चीस हैं - इनके नाम एवं संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१) कायिकी क्रिया, (२) आधिकरणिकी क्रिया, (३) प्रादोषिकी क्रिया, (४) पाारितापनिकी क्रिया, (५) प्राणातिपातिकी क्रिया, (६) आरम्भिकी क्रिया, (७) पारिग्रहिकी क्रिया, (८) माया प्रत्ययिकी क्रिया, (९) मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया, (१०) अप्रत्याख्यानिकी क्रिया, (११) दृष्टिकी क्रिया, (१२) स्पृष्टिकी क्रिया, (१३) प्रात्ययिकी क्रिया, (१४) समन्तनुपातिकी क्रिया, (१५) नैशस्त्रिकी क्रिया, (१६) स्वहस्तकी क्रिया, (१७) वैदारणिकी क्रिया, (१८) आज्ञाव्यापादिकी क्रिया, (१९) अनाभोग क्रिया, (२०) अनवकांक्षा प्रत्ययिकी क्रिया, (२१) प्रायोगिकी क्रिया, (२२) समादानिकी क्रिया, (२३) प्रेमिकी क्रिया, (२४) द्वेषिकी क्रिया, (२५) ईर्यापथिकी क्रिया।

संवर के बीस भेद

(१ से ५) **पाँच संवर** - सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग (६ से १०) **पाँच विरति**- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (११ से

१५) **पाँच इन्द्रियों का संयम** - श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का संयम (१६ से १८) **तीन शुभ योग** - मन, वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति, (१९) **भाण्ड, उपकरण** आदि यतना से उठाना व रखना, (२०) **सुचीकुशाग्र अर्थात् छोटी से छोटी वस्तु को यतना से लेना और रखना संवर है।**

संवर के ५७ भेद

समिई गुत्ती परीसह जइधम्मो भावणा चरिताणि।

पण-ति-दुवीस-दस-बार पंच भेएहिं सगवन्ना॥

अर्थ - **पांच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषह, दश यतिधर्म, बारह भावना और पाँच चारित्र ये संवर के सत्तावन भेद हैं।**

पाँच समिति

साधना का क्रियात्मक रूप है- समिति-गुप्ति का पालन करना। भगवान ने भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशक ६ एवं ७ में फरमाया कि साधक आठ प्रवचन माता (पांच समिति-तीन गुप्ति) का जघन्य ज्ञान का आराधक साधक भी केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेता है।

गृहत्यागी साधक को चलने, फिरने, उठने, बैठने, खड़े रहने, खाने, पीने, बोलने आदि की प्रवृत्ति करना होता है। अतः ऐसी प्रवृत्ति साधक इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे पाप कर्म का बंध नहीं हो अर्थात् यतनापूर्वक कल्याणकारी प्रवृत्ति करना समिति है। कहा भी है:-

जयं, जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ।।७।।

- दशवैकालिक अ.४

अर्थात् - साधक यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़े रहे, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोये, यतनापूर्वक भोजन करता हुआ, यतनापूर्वक बोलता हुआ साधक पापकर्म का बंध नहीं करता है अर्थात् साधक की सह प्रवृत्तियाँ समिति कही गई हैं, ये पांच हैं, यथा:-

पाँच समितियाँ- साधक की सद् प्रवृत्तियाँ समिति कही जाती हैं, ये पाँच हैं, यथा -

(१) ईर्यासमिति- किसी भी जन्तु को क्लेश न हो, इसलिए सावधानीपूर्वक चलना।

(२) भाषा समिति- सत्य, हितकारी, परिमित और संदेह रहित वचन बोलना।

(३) एषणा समिति - जीवन यात्रा में आवश्यक निर्दोष साधनों को जुटाने के लिए सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना।

(४) आदान-निक्षेपण समिति- वस्तु मात्र को भलीभाँति देखकर, प्रमार्जित करके उठाना या रखना।

(५) उत्सर्ग समिति- शरीर के मल-मूत्र आदि अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन जीवरहित स्थान में देखभाल कर एवं परिमार्जित करके करना।

अर्थात् साधक चलना-फिरना, बोलना, भोजन करना आदि जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्वक एवं सजगता से करे।

तीन गुप्ति

सम्यग्योगानिग्रहो गुप्तिः - (तत्त्वार्थ सूत्र ८४)

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया रूप योग का सभी प्रकार से निग्रह करना अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं, यथा-

तीन गुप्तियाँ- मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से रोकना गुप्ति है। ये तीन हैं-

(१) मनोगुप्ति- मन को अशुभ संकल्पों, विचारों व दुश्चिंतन से रहित रखना।

(२) वचन गुप्ति - वचन का दुष्प्रयोग न करना अथवा मौन धारण करना।

(३) कायागुप्ति- शरीर की प्रवृत्तियों का नियमन तथा निश्चलन करना।

समिति में सत्क्रिया के प्रवर्तन की मुख्यता है और गुप्ति में असत्क्रिया के निषेध की मुख्यता है।

सारांश यह है कि '**असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं**'

- उत्तराध्ययन ३१.२

अर्थात् असंयम में निवृत्ति एवं संयम में प्रवृत्ति करना ही चारित्र है।

बाईस परीषह - संयम-मार्ग से च्युत न होना एवं कर्मों के क्षय के लिए आत्म-साधना में उत्पन्न हुई बाधाओं को समभावपूर्वक सहन करना परीषह-जय है। संयम में उत्पन्न इन बाधाओं को परीषह कहा है। इसके बाईस भेद हैं-

(१) क्षुधा, (२) पिपासा, (३) शीत (४) उष्ण, (५) दंशमशक, (६) नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृण-स्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

दश यतिधर्म- 'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है। इसका अर्थ है जो धारण किया जाता है। धारण करने योग्य स्वभाव ही होता है। अतः स्वभाव को धारण करना, विभाव को मिटाना ही धर्म है। जैसे-जैसे विभाव मिटता जाता है वैसे-वैसे दोष व दुःख मिटते जाते हैं, निर्दोषता एवं प्रसन्नता बढ़ती जाती है। यह ही धर्म का स्वरूप है।

स्थानांग सूत्र स्थान १० में धर्म के दश प्रकार कहे हैं-

दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते जं जहा-

खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे

तवे चियाए बंभचेर वाये।। - ठाणांग दश

धर्म दश प्रकार का है, यथा - (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) मुक्ति, (५) तप, (६) संयम, (७) सत्य, (८) शौच, (९) अकिंचनत्व और (१०) ब्रह्मचर्य।

(१) क्षमा- सहनशील रहना अर्थात् क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी उद्विग्नता न हो, हृदय शान्त रहे, क्रोध पर विवेक से विजय पाना, क्रोध न करना क्षमा है।

(२) मार्दव - चित्त में मृदुता तथा व्यवहार में विनम्रता होना मार्दव गुण है। जाति, कुल, ज्ञान, तप, लाभ, ऐश्वर्य आदि किसी का गर्व व मद न होना, मान न करना मार्दव है।

(३) आर्जव - मन, वचन और काया की सरलता होना, इनमें एकता होना, निष्कपट होना आर्जव गुण है अर्थात् माया को जीतना, आर्जव है।

(४) मुक्ति - समस्त दोषों व बंधनों का कारण विषय-सुख का प्रलोभन है। लोभ का त्याग करना, लोभ न करना मुक्ति है।

(५) तप - इच्छाओं का निरोध करना, दोषों व पापों का क्षय करना, कर्म-क्षय की साधना करना तप है॥ इसके अनशनादि बारह भेद हैं।

(६) संयम - मन, वचन और काया की दुष्प्रवृत्तियों का निग्रह करना संयम है। पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच हिंसादि अव्रत का निषेध, चार कषायों पर विजय और तीन अशुभ योगों की निवृत्ति ये १७ प्रकार के संयम हैं।

(७) सत्य - असत्य को त्यागना और सत्य का आचरण करना, हित-मित-प्रिय बोलना सत्य है।

(८) शौच - मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को पवित्र रखना शौच है।

(९) अकिंचनत्व - किसी भी वस्तु में ममत्व बुद्धि न रखना, परिग्रह रहित होना अकिंचनत्व है।

(१०) ब्रह्मचर्य - अब्रह्म का त्याग करना, काम-भोग से विरति होना, आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

बारह भावनाएँ - जिसका मन से बार-बार चिंतन किया जावे, वह भावना है। भावना बारह हैं - (१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशुचि, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) लोक, (११) बोधि दुर्लभ और (१२) धर्म भावना। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

(१) अनित्य भावना - इन्द्रियों के विषय, धन-यौवन और शरीरादि सभी अनित्य हैं, इस प्रकार चिन्तन करना अनित्य भावना है। इससे आसक्ति मिटती है और विरक्ति उत्पन्न होती है।

(२) अशरण भावना - धन-वैभव, ज्ञातिजन आदि संसार में कोई भी शरणदाता (रक्षक) नहीं है। मृत्यु, बीमारी आदि से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। ऐसा चिन्तन करना अशरण भावना है। इससे स्वालम्बन आता है।

(३) संसार भावना - यह चतुर्गतिक संसार दु:ख से भरा है। इस संपूर्ण संसार के सभी प्राणी दु:खी हैं, कहीं भी सुख नहीं है। इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना, संसार भावना है। इस चिन्तन से व्यक्ति की सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति मिटती है।

(४) एकत्व भावना - मेरी आत्मा अकेली है, सभी संयोग वियोग में बदलने वाले हैं। इस भावना से आत्म-प्रतीति दृढ़ होती है।

(५) अन्यत्व भावना - शरीर, कुटुम्ब, जाति, धन-वैभव आदि से मैं अलग हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मै इनका नहीं हूँ ऐसी भावना करना। इस प्रकार की भावना करने से भेद विज्ञान दृढ़ होता है।

(६) अशुचि भावना - यह शरीर अशुचिमय है, रक्त आदि निन्द्य और घृणास्पद वस्तुओं से भरा है, इसकी उत्पत्ति भी घृणित पदार्थों से हुई है, इस प्रकार का चिन्तन करना। इससे शरीर के प्रति ममत्व क्षीण होता है।

(७) आस्रव भावना - आस्रव के अनिष्टकारी व दु:खद परिणामों पर चिन्तन करना। कर्मों का आगमन किन-किन कारणों से होता है, उन पर विचार करके उनके कष्टदायी रूप का चिन्तन करना। इससे असंयम से अरुचि होती है।

(८) संवर भावना - दु:खद पापास्रवों को रोकने-निरोध करने का एवं सम्यक्त्व प्राप्ति आदि उपायों का चिन्तन करना। इससे संयम की रुचि जागृत होती है।

(९) निर्जरा भावना - कर्मों को क्षय करने के उपायों का, उनके स्वरूप का बार-बार अनुचिन्तन करना। इससे तप करने का सामर्थ्य आता है।

(१०) लोक-स्वरूप भावना - तत्त्व-ज्ञान की विशुद्धि के लिए विश्व के वास्तविक स्वरूप का बार-बार चिंतन करना। इससे लोकातीत होने की, लोक से सम्बन्ध तोड़ने की भावना जागृत होती है।

(११) बोधि-दुर्लभ भावना - सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र इन रत्नत्रय रूप बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है, इस प्रकार बार-बार विचार करना। इससे संवेग जागृत होता है।

(१२) धर्म-भावना - श्रुतधर्म, चारित्रधर्म आदि का अथवा रत्नत्रय रूप धर्म का बार-बार चितंन करना। इससे विभाव से विरक्ति तथा स्वभाव में अनुरक्ति होती है।

चारित्र पाँच हैं:-

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २८ गाथा ३२-३३ में पांच चारित्र कहे हैं:-

(१) सामायिक चारित्र - प्राणातिपात आदि पाप रूप सावद्य योगों (प्रवृत्तियों) का त्याग करना, समभाव में रहना सामायिक चारित्र है।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र - प्रथम दीक्षा लेने के पश्चात्, विशेष शुद्धि के लिए दोषों का छेदन कर पुनः दीक्षा लेना, जिसे बड़ी दीक्षा लेना कहते हैं, छेदोपस्थानीय चारित्र है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र - विशेष प्रकार के तप प्रधान आचार पालन करना, परिहार विशुद्धि चारित्र है।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र - जिसमें अन्य सब कषायों के उदय का विच्छेद होकर केवल संज्वलन लोभ रूप सूक्ष्म कषाय का उदय रहता है, वह सूक्ष्म संपराय चारित्र है।

(५) यथाख्यात चारित्र - सर्वकषायों के उदयरहित अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना यथाख्यात चारित्र है।

चारित्र का आधार विरति है। विरति का अर्थ है- इन्द्रियों के विषयों में रति-अरति न करना अर्थात् पाँच इन्द्रियों के तेवीस विषयों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रति रति-अरति (राग-द्वेष) न करना विरति है, इसे ही वैराग्य कहा है। आत्म-निरीक्षण द्वारा इन विकारों को दुःखद अनुभव कर इनकी पुनरावृत्ति न करने का दृढ़ संकल्प लेने रूप व्रत ग्रहण करना, दोषों को त्यागने का व्रत लेना। दोषों रमण करने रूप आचरण ही कर्म-बंध (संस्कार-अंकित) होने का कारण है। अतः कर्म-बंध से मुक्त होने का उपाय है- विषयों से विरमण करना- विषयों में रमणता का त्याग करना। मुख्य क्रियात्मक प्रवृत्ति रूप दोष पाँच हैं- १. प्राणातिपात, २. मृषावाद, ३. अदत्तादान, ४. मैथुन और ५. परिग्रह। इन दोषों से विरमण का दृढ़ संकल्प लेना ही व्रत है, यथाः-

१. प्राणातिपात विरमण, २. मृषावाद विरमण, ३. अदत्तादान विरमण, ४. मैथुन विरमण और ५. परिग्रह विरमण। ये विरमण या विरति रूप व्रत दो प्रकार के हैं- १. देशविरति रूप अणुव्रत और २. सर्वांश में विरतिरूप महाव्रत। महाव्रत में प्राणातिपात विरमण आदि दोषों का मन, वचन और काया से करने, कराने एवं अनुमोदन करने का सर्वथा, सर्वदा (आजीवन) त्याग करना होता है। ऐसे महाव्रतधारी श्रमण कहलाते हैं। ये गृहत्यागी होते हैं।

जो साधक गृहत्याग कर महाव्रत धारण करने रूप उत्कृष्ट त्याग नहीं कर सकते। ऐसे गृहस्थ साधक अहिंसा आदि पांच व्रतों को मर्यादित रूप में स्वीकार करता है, ये पांच अणुव्रत कहे गए हैं, वह गृहस्थ अणुव्रतधारी श्रावक कहा जाता

है। दिशा में जाने की मर्यादा (सीमित) करना, भोग-परिभोग को सीमित करना एवं अनर्थ दंड का त्याग करना, इन तीनों का आजीवन व्रत लेना तीन गुण व्रत कहे गये हैं। आध्यात्मिक प्रगति में सहायक चार शिक्षा व्रत हैं- १. सामायिक, २ देशव्रत, ३. पोषध एवं ४. अतिथि संविभाग ये श्रावक के बारह व्रत हैं।

दर्शनगुण एवं सम्यग्दर्शन

सत्य का साक्षात्कार होना सम्यग्दर्शन है। **सम्यग्दर्शन की उपलब्धि स्वानुभव से होती है, केवल चिन्तन या ज्ञान से नहीं।** जीव-अजीव, जड़-चेतन भिन्न-भिन्न हैं, यह ज्ञान एक बालक से लेकर नौ पूर्वधर ज्ञानी को भी होता है। कौन बालक नहीं जानता है कि कलम, कागज, कमीज, कमरा, किताब, कलश आदि जड़ हैं और मैं चेतन जीव हूँ। इसी प्रकार नौ पूर्वधारी मिथ्यात्वी जीव भी जो तत्त्वों के ज्ञान को खूब जानता है, जीव-अजीव तत्त्वों पर सैकड़ों भाषण दे सकता है व सैकड़ों ग्रंथ लिख सकता है, परन्तु जीव-अजीव के भेद व भिन्नता का इतना ज्ञान होने पर भी उसे सम्यग्दर्शन हो, यह आवश्यक नहीं है। कारण कि इस **बौद्धिक ज्ञान का प्रभाव बौद्धिक स्तर पर ही होता है, आध्यात्मिक स्तर पर नहीं।** आध्यात्मिक स्तर पर प्रभाव तभी होता है, जब साधक अन्तर्यात्रा कर आन्तरिक अनुभूति के स्तर पर देह से अपने को अलग अनुभव करता है जिससे निज चैतन्य स्वरूप का दर्शन होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

केवल जीव-अजीव या जड़-चेतन को भिन्न-भिन्न जान लेने या मान लेने से, ऐसा चिंतन करते रहने से या अपने को ऐसा निर्देश देने (आत्म-सम्मोहन) मात्र से सम्यग्दर्शन होना संभव नहीं है। इन सबसे सम्यग्दर्शन के लिए प्रेरणा मिल सकती है, परन्तु सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तो तभी संभव है जब साधक अंतर्मुखी होकर स्व-संवेदन करता है तथा देहातीत बन कर जड़ देह से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप का दर्शन करता है।

आशय यह है कि जड़-चेतन की भिन्नता पर चिन्तन व चर्चा करके आत्म-निर्देशन देकर अपने को भेद-विज्ञानी व सम्यग्दृष्टि मान लेना भूल है, अपने आपको धोखा देना है। अतः अंतर्मुखी होकर स्व-संवेदन करते हुए जब तक देहातीत चिन्मय-चैतन्य अवस्था की अनुभूति न हो जाय, तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिये सतत पुरुषार्थ करते रहना चाहिये। वस्तुतः दर्शन अनुभूति का विषय है ज्ञान का नहीं। फिर चाहे वह दर्शन सम्यग्दर्शन रूप हो अथवा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट

दर्शन गुण रूप हो। ये दोनों ही दर्शन विकल्पात्मक ज्ञान के विषय न होकर निर्विकल्प स्व-संवेदन रूप अनुभव के विषय हैं। भेद-विज्ञान से संबंधित चिंतन व चर्चा अन्तर्मुखी बनने में सहायक होती है, परन्तु भेद-विज्ञान का अनुभव तो अंतर्मुखी होने पर निज स्वरूप के दर्शन से ही संभव है। यही अनुभव सम्यग्दर्शन है।

दर्शनगुण के विकास से सम्यग्दर्शन

यह नियम है कि जितनी-जितनी निर्विकल्पता बढ़ती जाती है उतना-उतना दर्शन गुण का विकास होता जाता है अर्थात् चिन्मयता का , निज स्वरूप का अनुभव (बोध) होता जाता है। जितना-जितना निज स्वरूप का अनुभव होता जाता है तथा सत्य प्रकट होता जाता है, उतना-उतना सत्य का दर्शन (अनुभव) होता जाता है। सत्य के दर्शन से, सत्य के साक्षात्कार से अविनाशी चैतन्य निज स्वरूप का अनुभव देहातीत स्थिति के स्तर पर हो जाता है। तब देह (जड़) से चेतन की भिन्नता का स्पष्ट अनुभव या दर्शन होता है। यही ग्रंथिभेद है, यही भेद विज्ञान है, यही सम्यग्दर्शन है। अतः सम्यग्दर्शन के लिए दर्शन गुण (स्व-संवेदन) का विकास अनिवार्य है। दर्शन गुण का विकास निर्विकल्पता से ही संभव है। निर्विकल्पता वहीं संभव है, जहाँ समभाव है अर्थात् आन्तरिक स्थिति या अनुभूति के प्रति कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव न होकर केवल द्रष्टाभाव है।

अभिप्राय यह है कि समत्व भाव में निर्विकल्पता आती है। निर्विकल्पता से स्व- संवेदन, चिन्मय-स्वरूप 'दर्शन' गुण प्रकट होता है। दर्शन गुण से निज अविनाशी चेतन स्वरूप आत्मा देह से भिन्न है, इस सत्य का अनुभव होता है। यही जड़-चिद् ग्रन्थि का भेदन है, यही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से दर्शन-मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व मोहनीय कर्म प्रकृति के उदय का अभाव हो जाता है। अतः दर्शन गुण दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम का हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दर्शन गुण और सम्यग्दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का प्रत्येक आचरण दर्शन गुण को प्रकट करने वाली निर्विकल्पता को पुष्ट करने वाला होता है।

सारांश यह है कि मन जितना निर्विकल्प होता जाता है उतना दर्शन (चिन्मयता) गुण प्रकट होता जाता है उतना ही मन शान्त होता जाता है। मन की शान्त स्थिति का भी एक रस है, यह शान्तरस भी दर्शन का रस है। इस शान्त रस में रमण न करने से इसके प्रति समत्वभाव बनाये रखने से, द्रष्टा बने रहने से दर्शनावरणीय का आवरण

और हटता है, जिससे ग्रन्थि-भेदन का प्रत्यक्षीकरण तथा आत्म-साक्षात्कार होता है। फलस्वरूप अंत:करण में जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाती है अर्थात् 'विषय भोग ही जीवन है' यह मिथ्या मान्यता (मिथ्यात्व) बौद्धिक चिंतन स्तर पर तथा आंतरिक (चैतन्य के) स्तर पर मिट जाती है। यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि भोग का सुख, सुख नहीं है, प्रत्युत उत्तेजना, आकुलता, पराधीनता एवं जड़ता उत्पन्न करने वाला होने से दु:ख रूप है। अत: भोग जीवन नहीं है। निर्विकल्प एवं निर्विकार होने पर जो निज-रस आता है वह अक्षय-अखंड एवं स्वाधीन होता है। इस प्रकार सत्य के साक्षात्कार के आधार पर भोग के सुख में दु:ख और त्याग में सुख अनुभव करता है इस प्रकार जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाना ही सम्यग्र्शन है।

दर्शन है निर्विकल्प होना, और निर्विकल्प होने से चित्त शान्त होता है। शान्तचित्त में, समता भरे चित्त में यथार्थता का, चिन्मयता का अनुभव होता है जो सम्यग्दर्शन है और इससे विवेक रूप सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है।

इस दृष्टि से दर्शनगुण का विकास ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में, दर्शनमोह के क्षय में हेतु है और सम्यग्दर्शन 'सम्यग्ज्ञान' की उत्पत्ति में हेतु होता है। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण सम्यक् चारित्र है, जिसका फल मुक्ति के रूप में प्रकट होता है।

दर्शनोपयोग (निर्विकल्पता) सम्यक् दर्शन की उपलब्धि में तथा दर्शनमोह के क्षय में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में सहायक होता है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के अनुरूप आचरण करने (चारित्र पालन) से दर्शन व ज्ञान गुण के आवरण का क्षय होता है, जिससे दर्शन व ज्ञान गुण प्रकट होते है। इस प्रकार दर्शनोपयोग व दर्शन मोहनीय के क्षय करने में सहायक होता है। इस प्रकार दर्शनोपयोग, सम्यग्दर्शन, दर्शनगुण परस्पर में पूरक व सहायक हैं। आगे जाकर, अंत में पूर्ण दर्शन, पूर्ण ज्ञान अथवा अनंतदर्शन अनंत ज्ञान के रूप में प्रकट होकर ये साधक के जीवन के अभिन्न अंग बन जाते हैं। फिर साधक-साधना-साध्य एक रूप होकर सिद्धत्व को प्राप्त हो जाते हैं। सिद्धत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सिद्धि है, सफलता है, पूर्णता है।

सम्यक् चारित्र का स्वरूप एवं साधना के तीन रूप

वह क्रिया या आचरण जिससे लक्ष्य या साध्य की उपलब्धि हो, उसे चारित्र या साधना कहा जाता है। प्राणिमात्र का साध्य है मुक्ति प्राप्त करना, दु:खों का

आत्यन्तिक अन्त करना व चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति करना। समस्त दु:खों का मूल कारण है पराधीनता अर्थात् पर की अधीनता या पर का बंधन। अत: बन्धनों से मुक्ति पाना ही दु:खों से मुक्ति पाना है। यह ही मोक्ष प्राप्त करना है, यही मुक्ति प्राणी का साध्य है।

'चारित्र' शब्द 'चर्' धातु से बना है। 'चर' का अर्थ है चलना, गति करना, चरना (खाना), अभ्यास करना, आचरण करना, क्रिया या प्रवृत्ति करना, व्यवहार करना।

आचरण दो प्रकार का होता है :- सदाचरण और दुराचरण। अथवा सद्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्ति, सदाचरण या सत् आचरण वह है जो आचरण सत् की ओर बढाये, अविनाशी को प्राप्त कराए। दुराचरण या दुष्प्रवृत्ति वह है जो असत् जड़ या नश्वर पुद्गल की ओर बढाये। संक्षेप में कहें तो जो प्रवृत्ति, अभ्यास, अनुष्ठान, क्रिया, असत्, नश्वर, अनित्य की ओर प्रेरित करे, बढाये, संसार भ्रमण कराये, दोष उत्पन्न करे, जिसका फल दु:ख रूप मिले वह दुष्प्रवृत्ति है, दोष है, पाप है, अकर्त्तव्य है। इसके विपरीत जो प्रवृत्ति या आचरण, अनुष्ठान, अभ्यास, पुरुषार्थ सत्-सत्य, अविनाशी, अमरत्व की ओर बढाये, जिसका फल शांति, मुक्ति (स्वाधीनता) प्रीति (परमानंद की प्राप्ति हो वह सच्चारित्र या सम्यक चारित्र है। यह सम्यक् ज्ञान का क्रियान्वयन है। प्रकारान्तर से कहें तो जिससे मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति हो, बंधन से छुटकारा हो वह सम्यक् चारित्र है।

बन्ध का स्वरूप :

बन्धन से मुक्त होना ही मुक्ति है। अत: सर्वप्रथम बन्धन के स्वरूप को समझना आवश्यक है। वस्तुत: यह बन्धन बाहरी न होकर हमारी ही क्रियाओं व इच्छाओं से निर्मित बन्ध है, जिसे जैन दर्शन में 'कर्मबन्ध' कहा है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हम जो भी क्रिया, कार्य या विचार की प्रवृत्ति करते हैं उसके प्रभाव का बिंब, चित्र या रूप हमारे अवचेतन मन पर अंकित हो जाता है। इसे साधारण भाषा में 'संस्कार पड़ना' कहते हैं तथा जैन दर्शन में 'कर्म बन्ध' होना कहा जाता है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप संस्कार की संरचना अनवरत होती रहती है तथा इन संस्कारों का अन्त:करण में संचय होता रहता है, जो भविष्य में उपयुक्त समय आने पर एवं अनुकूल निमित्त मिलने पर उदय होकर प्राणी को अपना परिणाम भोगने के लिए विवश करते हैं। परामनोविज्ञान ने प्रयोगों के आधार पर सिद्ध कर

दिया है कि हमारी प्रत्येक परिस्थिति पूर्व संचित किसी न किसी संस्कार रूप इच्छा व कार्य का ही परिणाम होती है।

संस्कार संरचना के उपर्युक्त रूप को जैन दर्शन की भाषा में 'कर्म' कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन की यह मान्यता कि पदार्थों की प्राप्ति एवं परिस्थितियों के निर्माण में 'कर्म-फल' ही कारण है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट होता है। जैसे जैन दर्शन में कर्म को पुद्गल, अचेतन भौतिक पदार्थ माना जाता है उसी प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान भी इसे भौतिक रूप में स्वीकार करता है। आधुनिक मनोविज्ञान विचार व विचारों की तरंगों का रूप, रंग, आकृति आदि तो मानता ही है साथ ही इन तरंगों की प्रेषण व ग्रहण-क्रियाओं को भी स्वीकार करता है। विचारों की इसी प्रेषण व ग्रहण विधि को 'टेलीपैथी' कहा जाता है। टेलीपैथी के प्रयोग में एक व्यक्ति द्वारा हजारों मील दूर सागर में निमग्न पनडुब्बी में बैठे व्यक्ति को विचारों द्वारा संदेश भेजने में रूस व अमेरिका इन दोनों देशों ने पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। टेलीपैथी की महत्ता इससे विशेष बढ़ जाती है कि जहाँ पनडुब्बी में रेडियो तरंगें भी पहुंचने में असमर्थ हैं वहाँ विचारों की तरंगें पहुँचने में समर्थ हैं। इसका कारण है विचार तरंगों का रेडियो की विद्युत् तरंगों से भी अति सूक्ष्म होना।

ऊपर कथित संस्कारों या कर्मों का अंतस्तल पर अंकित होना ही 'कर्म का बन्धन' होना है। जीव में रागादि भावों से आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है। राग रूप कषाय की आकर्षण शक्ति से कर्म परमाणुओं (कार्मण वर्गणा) का खिंचाव होता है और वे आत्मा से संपृक्त हो जाते हैं। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के अनुरूप ही आत्मा में उनका रूप अंकित होता है, क्योंकि प्रवृत्ति प्राणी की प्रकृति का अनुगमन करती है। अत: बंध के इस रूप को 'प्रकृतिबंध' कहा गया है। प्रकृतिबंध में प्रयुक्त कार्मण वर्गणाओं की मात्रा को 'प्रदेशबंध' कहा जाता है। इन दोनो कर्मबंधों का सम्बन्ध मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों से है। परन्तु कर्मों के इन भौतिक दलिकों को खींचकर लाने वाला एवं उन्हें आत्मा में अवस्थित करने वाला है-कषायभाव। कषाय या रागभाव की तरतमता के अनुसार ही रस के अनुभव की तरतमता होती है व आत्मा के साथ स्थित रहने का समय निर्भर करता है। रसानुभूति की इस तरतमता को 'अनुभागबंध' 'रसबंध' या 'अनुभाव बंध' कहा गया है और आत्मा के साथ कर्मों के अवस्थित रहने के समय को 'स्थितिबंध' कहा है। सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तन, संक्रमण, निधत्ति, निकाचना आदि कर्मों के सभी रूपों का वर्तमान मनोविज्ञान के संदर्भ में व्यावहारिक व प्रायोगिक रूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

अब विचार यह करना है कि कर्मबंध का परिणाम क्या होता है तथा कर्मबंध किन कारणों से होता है ? कर्म-बंध का परिणाम है- कर्मों के अनुरूप उनका फल भोगना, क्योंकि कर्म फल देने पर नीरस व निःसत्त्व हो जाते हैं, वे निर्जरित हो जाते हैं, कर्मफल भोगने के लिए पराश्रय आवश्यक है। पराश्रय प्राणी को पराधीनता में आबद्ध करता है जिसका परिणाम अंततोगत्वा दुःख ही होता है। आगे कर्म-बंध के कारण एवं निवारण पर वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया जा रहा है।

कर्म-बंध पराधीनता है। कर्मबंधन से मुक्ति ही पराधीनता से मुक्ति है। यह ही वास्तविक मुक्ति है। जिन कारणों व कार्यों से कर्म क्षय होते हैं व कर्मों का बंध रुकता है, वे साधन हैं, और जिन कारणों व कार्यो से कर्म बंध होता है वे असाधन हैं। असाधन दो प्रकार के होते हैं:- १. पाप और २. आश्रव। साधन तीन प्रकार के हैं:- (१) संवर (संयम) (२) निर्जरा (तप) और (३) पुण्य।

१ पाप - 'पातयति आत्मानं इति पापं' अर्थात् जो आत्मा का पतन करे, वह पाप है। पतन के कारण होते हैं भारीपन व आकर्षण शक्ति। कषाय के आकर्षण से कर्म-पुदगलों के दल खिंचकर आते हैं और आत्मा से संयुक्त हो जाते हैं जिससे आत्मा भारी हो जाता है, फलतः आत्मा का आध्यात्मिक क्षेत्र में पतन होता है। अतः आत्मा के अधःपतन की कारण कषाय या आसक्ति युक्त मन, वचन, काया की दुष्प्रवृतियाँ हैं। पाप की ये प्रवृतियाँ हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, संग्रहवृत्ति, क्षोभ, अहंत्व, वंचना, प्रलोभन, राग, द्वेष, कलह, विग्रह, संघर्ष, परदोष दर्शन, संकीर्णता, स्वार्थपरता, भोगरुचि, घृणा, विषय-कषाय, मिथ्यादर्शन आदि रूपों में व्यक्त होती है। पाप का प्रारम्भ सुखद एवं परिणाम दुःखद होता है। पापजनित सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ता है तथा पापजनित सुख भी आकुलतायुक्त होने से दुःख रूप ही होते हैं अतः पाप प्राणी का अहित करने वाला होने से अशुभ है। इसलिए पापकारी प्रवृत्तियों को अशुभयोग कहा गया है। अशुभयोगों में प्रधानता अशुभभावों की होती है। इसलिए पापों को अशुभभाव भी कहा जाता है।

२ आश्रव- जिन कार्यों, कारणों व हेतुओं से कर्म आते हैं, उन्हें आश्रव कहते है। पाप रूप प्रवृत्तियाँ तो आश्रव हैं ही, साथ ही मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग ये कर्म बंध के पाँच हेतु भी आश्रव ही कहे गये हैं। पाप प्रवृत्तियाँ तथा कर्मबंध के हेतु 'आश्रव' ही प्राणी को पराधीन बनाने वाले हैं तथा अहित व अकल्याण करने वाले हैं, उसे दुःखी बनाने वाले है' अतः असाधन हैं।

असाधन के त्याग में ही साधन-निर्माण संभव है। साधना के तीन अंग हैं- (१) संवर (२) निर्जरा, तप और (३) पुण्य, शुभयोग। आगे इन पर क्रमशः प्रकाश डाला जा रहा है।

१. संवर

'निरुद्धासवो संवरो' (उत्तरा. २९/११) आश्रव का निरोध करना संवर है अर्थात् कर्मबंध के हेतुओं से अपने को बचाना व बंध के कारणों का अन्त करना संवर है। संवर के दो रूप हैं - (१) बंध के कारणों को संकुचित व निर्बल करते हुए उनका अंत करना और (२) बंध के कारणों को मुक्ति के कारणों में रूपान्तरित कर उनका अन्त करना। संवर का प्रथम रूप साधना का निषेधपरक निवृत्तिरूप है और दूसरा रूप साधना का विधिपरक-क्रियात्मक प्रवृत्ति रूप है, परन्तु यह प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिए ही होती है।

कर्मबंध के पाँच हेतु हैं: -(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) अशुभयोग। इनको निवारण करने के साधन हैं- (१) सम्यक्त्व (२) विरति, (३) अप्रमाद-सजगता (४) अकषाय या कषाय मंदता और (५) शुभयोग। यहाँ इन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

सम्यक्त्व - विवेक विरोधी विश्वास मिथ्यात्व है अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है उसे वैसी मानना मिथ्यात्व है। 'पर' को 'स्व' मानना सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। 'पर' वह है जो आत्मा से भिन्न है, सदा साथ न रहे। इस दृष्टि से धन, धाम, धरा आदि वस्तुएँ तो 'पर' हैं ही, शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि आदि भी 'पर' हैं। इन्हें 'मैं' मानने से इनमें आत्म-भाव, अपनत्व, ममत्व एवं जीवनबुद्धि होती है। प्राणी इनके होने में ही अपना जीवन मानने लगता है और इनके नाश में अपना नाश मानने लगता है। फलतः वह इनके अधीन हो जाता है अर्थात् पराधीन हो जाता है। 'पर' में आत्मत्व, ममत्व व जीवनबुद्धि होने से प्राणी मोह में आबद्ध हो जाता है। अपना भान भूल जाता है जिससे अहंता-ममता, विषय-वासना, कषाय, कामना आदि समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है जो समस्त बन्धनों व दुःखों की कारण है।

मिथ्यात्व का हटना, विवेक का आदर करना अर्थात् जो वस्तु या तत्त्व जैसा है उसे वैसे ही यथार्थ रूप में समझना व विश्वास करना, सम्यक्त्व है। तन, मन, धन, जन आदि पर पदार्थों से जीवन बुद्धि हटते ही वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है,

जिससे 'स्वरूप' की अनुभूति होती है। स्वरूप की अनुभूति में ही शांति, समता, स्वाधीनता व परमानन्द की उपलब्धि निहित है।

विरति - विवेक के अनादर के कारण, पर पदार्थों के भोग में जीव को सुख की प्रतीति होती है। सुख की प्रतीति होने से पदार्थों के प्रति रति (राग) और अरति (द्वेष) भाव उत्पन्न होता है। यही रति या राग रूप सुख-लोलुपता, वासनाओं एवं कामनाओं को जन्म देती है, जिनके अधीन हो, बेचारा प्राणी उनकी पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है। उसकी यही रागात्मक वृत्ति एवं इस वृत्ति की पूर्त्ति हेतु की गई प्रवृत्ति अविरति है। यही असंयम है। असंयम अविरति का ही क्रियात्मक रूप है।

सम्यक्त्व प्राप्ति से साधक इस तथ्य को जान लेता है कि पर पदार्थ मेरे से भिन्न हैं और मेरा सुख पर पदार्थों के अधीन नहीं है, 'पर' पदार्थों से सुख की प्राप्ति यथार्थ सुख न होकर सुख की प्रतीति मात्र है, सुखाभास है। पर पदार्थों से सुख की प्राप्ति होती है, इस मान्यता के हटते ही साधक का पर के प्रति विराग भाव उत्पन्न हो जाता है, फिर उसे अपना हित व सुख भोगों, वासनाओं, कामनाओं के त्याग में अनुभव होने लगता है। फलतः वह भोगों, वासनाओं, कामनाओं, पापों को त्यागने, संकुचित, सीमित व संयमित करने हेतु व्रत धारण करता है। व्रत विरतिभाव का क्रियात्मक रूप है, इसी को संयम कहते हैं।

विरति के दो रूप हैं- (१) पाप रूप अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग, यह 'विरति' संवर साधना का निषेध परक रूप है। (२) दूसरा रूप विधि परक है। इसमें अणुव्रत, महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा आदि समितियों का पालन करना, अनित्य, अशरण आदि भावनाओं का चिंतन करना आदि साधना की प्रवृत्तियाँ हैं। ये प्रवृतियाँ राग घटाने एवं वृत्तियों से अतीत व शुद्धावस्था की प्राप्ति में हेतु हैं इसलिए साधना की अंग हैं। विरति से राग घटता है। राग के घटने से साधक में निराकुलता, शांति व स्वाधीनता के भावों को बल मिलता है तथा स्थिरता प्राप्ति में वृद्धि होती है। विरति या व्रत धारण करना संवर साधना का प्रधान क्रियात्मक व विधिपरक रूप है। अतः यह व्यवहार में संवर का पर्यायवाची बन गया है।

अप्रमादः- भोगों की सुख-लोलुपता में प्रमत्त होना, विकारों को त्यागने के लिए उद्यत न होना, भविष्य पर टालना प्रमाद है। प्रमत्तता से प्राणों में जड़ता आती है, सजगता नहीं रहती। फलतः उसमें साध्य की प्राप्ति के प्रति उदासीनता, शिथिलता आ जाती है, जिससे साधना की प्रगति रुक जाती है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के

सुख में अर्थात् पर के संग-जनित विषय-कषाय के सुख में आसक्त रहना प्रमत्तता या प्रमाद है।

विरतिभाव से संसार की असारता, अनित्यता, अशरणता आदि वैराग्य भावों को उत्पत्ति होती है। जिससे साधक की कर्म एवं राग आदि दोषों से जनित दु:खों पर दृष्टि जाती है और वे दोषजनित दु:ख उसे असह्य लगते हैं। यह असह्यता ही साधक को सजग बनाती है और दोषों व विकारों के निवारण के लिए कटिबद्ध करती है। पापों, दोषों की निवारक रूप साधना को भविष्य पर न टाल, वर्तमान में ही करना, साधना की गति को तीव्र करने के लिए पूर्ण सामर्थ्य से तत्पर होना अप्रमाद है।

पापों, दोषों या विकारों का अंशमात्र विद्यमान रहते हुए भी जीवन में सुख का अनुभव करना, पराधीनता में आबद्ध रहना है, जिसके परिणाम स्वरूप प्राणी को भयंकर दु:ख भोगना पड़ता है। जिस प्रकार प्रत्येक बीज में अगणित वृक्ष विद्यमान हैं जो अनुकूल निमित्त पाकर प्रकट हो जाते हैं, इसी प्रकार पाप या कषाय के एक सूक्ष्म अंश में भी समस्त पाप, विकार विद्यमान हैं जो अनुकूल निमित्त मिलने पर प्रकट हो सकते हैं। अत: पाप, कषाय, विकार या असाधन का अंश मात्र भी विद्यमान रहते उनके नाश का उपाय न करना अपना घोर अहित करना है, यह महाभूल है। इस प्रकार प्रमाद साधक का महाशत्रु है। साधना में सतत सजग, अनवरत रत रहने रूप अप्रमाद ही साधक का परम कर्त्तव्य है। साधक को भगवान महावीर का यह सूत्र सदैव स्मरण रखना चाहिए :- **'समयं गोयम! मा पमायए'** अर्थात् हे गौतम! हे साधक! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अकषाय :- जो भाव कर्मों का कर्षण (आकर्षण) करे वह कषाय है। कषाय का मूल है राग या आसक्ति। आसक्ति आत्मा से भिन्न पदार्थ से होती है, अत: वह पर के संग में आबद्ध करती है, पराधीन बनाती है। पराधीनता ही बंधन है। आसक्ति ही क्रोध, क्षोभ, मान, माया, प्रवंचना, लोभ, संग्रह वृत्ति आदि दोषों के रूप में प्रकट होती है। आसक्ति में पर के प्रति आकर्षण होता है। अत: आसक्ति से कर्म आदि पर-पदार्थ खिंचकर आत्मा से उसी प्रकार संबंधित हो जाते हैं जिस प्रकार चुंबक के आकर्षण से लोहा खिंचकर चुंबक से संबंधित हो जाता है। आसक्ति से ही आत्म-स्वरूप से विमुखता एवं आत्मविस्मृति होती है।

वैराग्य की तीव्रता से सजगता आती है। सजगता से राग, कषाय या आसक्ति जनित आकुलता असह्य हो जाती है, जिससे साधक कषाय रहित होने का प्रयत्न करता है। कषाय रहित होना व कषाय की तीव्रता कम करना संवर है।

शुभयोगः - मन, वचन, काया के योगों की पाप रूप प्रवृतियाँ अशुभ योग हैं। योग पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के माध्यम हैं व नवीन कर्म बांधने के साधन भी हैं। अशुभयोगों से, दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ संस्कारों रूप पाप कर्मों का बंध होता है। जो दु:ख का हेतु होने से असाधन रूप है एवं त्याज्य है।

संवर और निर्जरा की क्रियात्मक साधना, 'चारित्र पालना', मन, वचन, काया के योगों की प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। मन, वचन, काया के योगों के अभाव में संवर और निर्जरा की विधिपरक साधना, साधुचर्य्या संभव ही नहीं है। अत: मन, वचन, काया के जिन योगों से संयम पालन हो, तप हो, अर्थात् संवर-निर्जरा हो, वे शुभयोग हैं। शुभयोग विषय-कषाय की तीव्रता को कम करने वाले और वैराग्य वृत्ति को बढ़ाने वाले होने से संवर हैं।

व्रत या संयम धारण करना, संवर का समन्वित या क्रियात्मक रूप है। संयम में सम्यक्त्व, विषय-कषाय से विरक्ति, शुभयोग एवं सजगता समन्वित है, अत: 'शुभयोग' संवर का द्योतक है।

३. पुण्य : शुभयोग

साधना का तीसरा अंग 'पुण्य' या शुभयोग है। 'पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करे, वह पुण्य है। आत्मा मैली होती है कषाय के कलुष से । अत: जिससे कषाय में मंदता आवे, वह पुण्य है। पुण्य का आधार है-आत्मीय भाव। आत्मीय भाव से प्राणी पर-पीड़ा से पीड़ित होता है, जिससे उसके हृदय में करुणा भाव उदित होता है जो सेवाभाव में परिणत हो जाता है। अन्न, जल, वस्त्र, पात्र आदि देकर पर-पीड़ा दूर करना तथा मन, वचन, काया से हितकर व्यवहार कर, सेवा करना पुण्य है। 'शुभ : पुण्यस्य' सूत्र के अनुसार शुभ प्रवृत्तियाँ अथवा शुभयोग ही पुण्य का कारण है।

अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप हैं और शुभ प्रवृत्तियाँ पुण्य हैं। सुखभोग की लालसा ही समस्त अशुभ प्रवृत्तियों की जननी है जो स्व-पर के लिये अहितकर है तथा असाधन रूप है। सुखभोग की लालसा ही स्वार्थभाव को जन्म देती है। स्वार्थभाव से भावित कर्म से हिंसा, झूठ, शोषण, दुराचार, संग्रह वृति, विषमता, संघर्ष, वैर,

द्वेष आदि बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। सुखभोग की लालसा का अन्त होते ही स्वार्थभाव, सर्वात्मभाव में रूपान्तरित हो जाता है और क्रिया रूप में सेवाभाव या सर्वहितकारी प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो स्वार्थभाव जनित अशुभ प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण होकर वे आत्मीयता, सहृदयता, सदाचार, समता, शांति, प्रीति में परिणत हो जाती हैं।

शुभयोग साधना में आदि से लेकर अन्त तक विद्यमान रहता है। शुभयोग की भूमिका में ही साधना के संवर और निर्जरा अंग पनपते हैं। संवर-निर्जरा से पुण्य पोषित होता है और पुण्य से संवर-निर्जरा पोषित होते हैं। इस प्रकार परस्पर पोषित होते हुए साधना की चरम सीमा अर्थात् कैवल्य अवस्था में पुण्य भी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। दान, शील, तप और भावना रूप साधना के चार अंगों में दान या पुण्य का प्रथम स्थान है। दान या सेवा का उदय होता है-आत्मीय भाव के विकास से। आत्मीय भाव का विकास होता है स्वार्थभाव गलने से अर्थात् सुख भोग की लालसा घटने से, शास्त्रीय शब्दों में कषाय या राग के मंद पड़ने से।

कषाय की मंदता या पतलापन ही साधना का प्रारम्भ है। कषाय की मंदता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों पुण्य व शुद्ध भावों की वृद्धि होती जाती है अर्थात् आत्मीय भाव व्यापक बनता जाता है और कषाय का अन्त हो जाने पर पुण्य चरम सीमा पर पहुँच जाता है तथा आत्मीय भाव सर्वात्मभाव का रूप ले लेता है। साधनावस्था में पुण्य की वृद्धि और आत्मीयता का विकास साथ-साथ होते है। आत्मीयता का विकास ही आत्मा का विकास है, जैसे चन्द्रिका चन्द्र के विकास की प्रतीक है। आत्मीयभाव का क्रियात्मक रूप ही शुभयोग है।

शुभ योग के अभाव में साधना संभव नहीं है। कारण कि सदेह अवस्था में मन, वचन, काया के योगों की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है। योग प्रवृत्ति का रुकना ही मृत्यु है। अतः देह के रहते प्रवृत्ति अनिवार्य है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है- शुभ और अशुभ। शुभ प्रवृत्ति का अभाव अशुभ प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसका साधना में कोई स्थान नहीं है। अतः साधनावस्था में शुभ प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है। संवर और निर्जरा का पोषण भी कषाय की मंदता अर्थात् शुभप्रवृत्ति या शुभयोग से ही होता है। यदि शुभयोग नहीं हो तो अशुभयोग होगा जिसमें संवर-निर्जरा संभव नहीं है। वस्तुतः शुभयोग, संवर-निर्जरा साधना का आधार है। कारण कि जैसे प्राण के न रहने पर जीवन का अन्त हो जाता है उसी प्रकार शुभ

योग के न रहने पर संवर-निर्जरा का अन्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि शुभ योग साधना का अनिवार्य अंग है और केवली में भी प्रवचन, विहार आदि में शुभ योग की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है।

चित्त शुद्धि के लिए भी शुभ प्रवृत्तियों का बड़ा महत्व है। चित्त की अशुभवृत्तियों का नाश व अशुभ कार्यों का त्याग स्वतः नहीं होता है। इसके लिए चित्त की अशुभवृत्तियों को शुभवृत्तियों में रूपान्तरित करना होता है। शुभ वृत्तियों का प्रगटीकरण शुभप्रवृत्तियों में होना आवश्यक है। शुभप्रवृत्तियों में ही जीवन का सर्वांगीण विकास निहित है। जिस प्रकार रबर का गुब्बारा हवा भरने से जैसे-जैसे फूलता जाता है अर्थात् बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे उसका पतलापन बढ़ता जाता है और चरम सीमा पर पहुँचने पर वह फट जाता है। यही उदाहरण शुभभाव पर भी चरितार्थ होता है। जैसे-जैसे शुभ भावों की वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही उनमें कषाय का पतलापन बढ़ता जाता है और जब शुभ भाव या शुभ प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है तो वह कषाय रहित हो जाती है जिससे शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है।

जिस प्रकार अशोधित विष, शरीर में विकार उत्पन्न करता है, स्वस्थता का घात करता है, परन्तु उसी विष को शोधित कर दवा के रूप में लेने पर शरीर का विकार दूर करता है, स्वस्थता प्रदान करता है। इसी प्रकार अशुभ कामनाएँ आत्मा में विकार उत्पन्न करती हैं और अहित करती हैं, परन्तु उनका शोधन कर उन्हें शुभ में परिवर्तित कर दिया जाता है तो वे हितकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेती हैं जिससे आत्मा के विकार दूर होकर स्वस्थता (स्व-स्थ-अवस्था) की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि शुभ योगों की प्रवृत्तियाँ मुक्ति प्राप्ति में हेतु हैं, साधना का अंग हैं।

यह नियम है कि जिस साधन-सामग्री से हम पुण्य या सेवा करते हैं उसकी ममता मिट जाती है। जिन व्यक्तियों की हम सेवा करते हैं उनकी आसक्ति हट जाती है। ममता व आसक्ति दूर हो जाने से उनसे सम्बन्ध विच्छेद हो जाता हैं, जिससे पराश्रय छूट जाता है तथा स्वाधीनता रूप मुक्ति की उपलब्धि होती है।

पुण्य के अभ्युदय से ही प्राणी की आध्यात्मिक साधना की भूमिका तैयार होती है। पुण्योदय से प्राणी अपनी इन्द्रियों का विकास करता हुआ एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय बनता है; मानव भव, स्वस्थ शरीर, बल, बुद्धि आदि पाता है जिनसे उसमें साधक होने की पात्रता आती है, फिर पुण्योदय से ग्रंथि-भेद होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, संवर और तप की सिद्धि होती है तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

संवर, निर्जरा और पुण्य साधना के इन तीन अंगों में से संवर और निर्जरा रूप धर्म का फल तत्काल मिलता है, क्योंकि ये क्रियाएँ कोई 'कर्म' नहीं हैं जिसका फल बाद में उदय में आकर मिले। कर्म का फल उदय आकर बाद में मिलता है, धर्म का फल तो तत्काल ही मिलता है, कारण कि ऐसा कोई हेतु नहीं है जिससे धर्म का फल पीछे मिले। संवर और निर्जरा आत्मा के विकारों को दूर करने की क्रिया है। यह नियम है कि विकार दूर होते ही तत्काल प्रसाद मिलता है। ऐसा नहीं होता कि विकार तो अभी दूर हों और फल कभी मिले। जिस प्रकार शारीरिक विकार (रोग) जिस समय दूर होते हैं उसी समय तत् सम्बन्धी पीड़ा मिट कर शान्ति व सुख की अनुभूति होती है। यह नहीं होता कि शरीर का रोग तो आज मिटे और शान्ति कल मिले। इसी प्रकार संवर और निर्जरा से आत्मिक विकार दूर होने की तत्काल अनुभूति होती है। यदि साधक को ऐसी अनुभूति नहीं होती है तो यह निश्चित है कि उसकी संवर और निर्जरा की क्रियाएँ समीचीन नहीं हैं, उसने इन क्रियाओं के रूप में किसी सूक्ष्म राग एवं सुख लोलुपता-रूप दोष की आराधना की है।

संवर-तप की साधना, स्वाधीन साधना है, क्योंकि इसमें आत्म-विकारों को दूर करने के लिए पर के आश्रय व सहायता की अपेक्षा नहीं है। पर की सहायता अपेक्षित न होने से इन साधनाओं का किसी परिस्थिति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये वर्तमान परिस्थिति में ही की जा सकती हैं। वस्तुतः साधना वर्तमान की ही वस्तु है तथा इसे मानव मात्र करने में समर्थ व स्वाधीन है। जो साधना वर्तमान में ही की जा सकती है उसे भविष्य पर टालना घोर प्रमाद है तथा जीवन की सबसे बड़ी असावधानी व भारी भूल है।

किसी का अहित न करने एवं सबके हितचिन्तन के भाव रूप पुण्य की साधना में सब स्वाधीन हैं, परन्तु सर्व-क्रियात्मक भाव को हितकारी प्रवृत्ति का रूप देने में वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि की अपेक्षा या आवश्यकता होती है, अतः इसमें प्रत्येक साधक की अपनी सीमा है। साधक को वर्तमान में प्राप्त अपनी परिस्थिति का ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति में सदुपयोग कर उसकी दासता से छूटना है। उसे अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान नहीं करना है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना, परिस्थिति में आसक्ति बनाये रखने व परिस्थिति की दासता को पसन्द करने का द्योतक है, जो असाधन रूप है।

ऊपर संवर, निर्जरा और पुण्य, साधना के तीन रूप कहे गये हैं। ये ही साधना या चारित्र की तीन धाराएँ हैं। इन तीनों धाराओं का संगम ही साधना की त्रिवेणी है।

जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना, और सरस्वती का संगम होकर त्रिवेणी बनती है जो अपने गन्तव्य स्थल सागर को पहुँच कर विलीन हो जाती है। इसी प्रकार संवर-निर्जरा रूप गंगा-यमुना तथा पुण्य रूप सरस्वती के संगम से साधना एवं चारित्र की त्रिवेणी बनती है जो अपने गन्तव्य स्थल मुक्ति को पहुँच कर विलीन हो जाती है। जैसे त्रिवेणी-संगम में गंगा और यमुना की धाराएँ तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, परन्तु सरस्वती की धारा नहीं दिखाई देती है, उसके लिए कहा जाता है कि वह अदृश्य रूप में इन दोनों ही धाराओं में विद्यमान रहती है। इसी प्रकार संवर-निर्जरा रूप गंगा-यमुना, साधना की ये दो धाराएँ स्पष्ट प्रकट हैं और पुण्य की धारा संवर-निर्जरा रूप इन दोनों धाराओं के तल में अव्यक्त रूप से अनुस्यूत रहती है। जिस प्रकार त्रिवेणी में निमग्न होने से तत्काल शारीरिक पवित्रता और शीतलता की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार साधना की त्रिवेणी में निमग्न होने से तत्काल मानसिक और आत्मिक पवित्रता व शांति की उपलब्धि होती हैं परन्तु त्रिवेणी इनका भोग न करती हुई सतत प्रवाहमान रहती है। इसी प्रकार साधना-त्रिवेणी के योग से भौतिक एवं आध्यात्मिक ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ व निधियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु साधक की साधना अजस्र प्रवाहमान रहती है, वह इनका भोग या उपभोग नहीं करता। संवर, निर्जरा तथा पुण्य रूप साधना-त्रिवेणी की अथवा कहें तो चारित्र की आराधना कर मुक्ति पाने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। अतः मानव मात्र का कर्त्तव्य है कि वह चारित्र रूप साधना-त्रिवेणी की आराधना कर अपने जीवन को सफल बनावे, मोक्ष प्राप्त करे।

शुभयोगः संवर

तत्त्वार्थसूत्र अध्य. ६ सूत्र ३ में 'शुभः पुण्यस्य' कहा है, जिसका तात्पर्य है कि शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है। जब शुभयोग आस्रव का हेतु है, तो इसे संवर क्यों कहा जाए ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। उत्तर में कहना है कि जैनागम में आस्रव-संवर तत्त्वों का विवेचन मोक्ष-प्राप्ति की साधना की दृष्टि से किया गया है। मोक्ष-प्राप्ति में पाप ही बाधक है, पुण्य नहीं। अतः आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि तत्त्वों का विवेचन पाप को लक्ष्य में रखकर किया गया है। कारण कि प्राणी पाप से, कषाय से ही कर्मों का बंध करता है, संसार को बढ़ाता है एवं संसार में परिभ्रमण करता है। अतः पाप ही हेय व त्याज्य है, पाप के क्षय से ही वीतरागता एवं मुक्ति की उपलब्धि संभव है।

पाप का अवरोध व निरोध होने पर पुण्य स्वतः होता है। प्राणी पाप में जितनी कमी करता है, उतनी ही पुण्य में वृद्धि होती है। अशुभयोग पाप है, जिससे पाप का आस्रव व बंध होता है। अशुभयोग में कमी होने से शुभयोग होता है। जिससे अशुभ-योग-जन्य पापकर्मों के आस्रव का निरोध होता है, नवीन पापकर्मों का बंध रुकता है तथा पूर्व में बंधे पाप कर्मों का अपवर्तनरूप क्षय होता है। जैसे सातावेदनीय के आस्रव से असातावेदनीय पाप कर्म का, उच्च गोत्र से नीच गोत्र पाप कर्म का, शुभ नाम कर्म से अशुभ नाम कर्म की पाप प्रकृतियों के स्थिति एवं अनुभाग का घात होता है। इस प्रकार पुण्य के आस्रव से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध तथा पूर्व में बंधे पाप कर्मों का क्षय होता है, जिससे आत्मा मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ती है। इस प्रकार पाप के आस्रव के निरोध का हेतु होने से शुभयोग को संवर कहा है। शुभयोग से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध तो होता ही है, साथ ही घाती कर्मों का क्षय भी होता है। यथा-

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अपसत्थेहिंतो जोगे हिंतो नियत्तेइ, य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ। उत्तरा.अ. २९ सूत्र ७। साधक गर्हणा (गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करने) से अपुरस्कार (आत्म-नम्रता) पाता है। आत्म-नम्रता से अप्रशस्त योगों से निवृत होकर प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है। प्रशस्त योगों को प्राप्त अनगार ज्ञानावरणादि घाती कर्मो का क्षय करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के. २९ वें अध्ययन में तिहत्तर बोलों की पृच्छा की गई है। इनमें से साधना की प्रत्येक क्रिया से पुराने पाप कर्मों का क्षय, नवीन पाप कर्मों के बंध का निरोध एवं पुण्य कर्मों का उपार्जन होना कहा गया है। यहां इस सातवें बोल में भी कहा गया है कि साधक गर्हा (गुरु के समक्ष अपने दोष प्रकट करने) से अप्रशस्त योगों से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगों में प्रवृत्त होता है तथा शुभ योगों से घाती कर्मों का क्षय होता है। घाती कर्मों का क्षय होने से पूर्ण निर्दोषता आती है, जिससे केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक चारित्र आदि समस्त आत्मिक गुणों की उपलब्धि होती है और साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के उपर्युक्त भगवद्वचन से स्पष्ट है कि शुभ योग से अघाती पाप कर्म ही नहीं, घाती कर्म भी क्षय होते हैं एवं मुक्ति की प्राप्ति होती है।

पाणिवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण परिग्गहा विरओ।
राइभोयण विरओ, जीवो भवइ अणासवो॥

– उत्तराध्ययन सूत्र, अ. ३० गाथा २

प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रि-भोजन से विरत जीव अनास्रव (आस्रव रहित) होता है। इस गाथा में अनास्रव होने अर्थात् संवर के लिए पाप के त्याग को ही ग्रहण किया गया है, पुण्य को नहीं।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।

असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥

– उत्तराध्ययन सूत्र ३१.२

साधक एक ओर से विरति-निवृत्ति करे और एक ओर प्रवृत्ति करे। असंयम से निवृत्ति व संयम में प्रवृत्ति करे। इस गाथा में पाप-प्रवृत्ति का ही निषेध है और सद् प्रवृत्ति करने का आदेश है।

रागदोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।

जे भिक्खू रुम्भइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले॥

उत्तरा. अ. ३१, गाथा ३

पाप कर्म में प्रवृत्ति करानेवाले राग और द्वेष ये दोनों पाप हैं। जो भिक्षु इन्हें रोकता है, वह संसार सागर में परिभ्रमण नहीं करता है।

तात्पर्य यह है कि जैनागम में संवर तत्त्व में, अनास्रव में केवल पाप के आस्रव के निरोध को ही स्थान दिया गया है, पुण्य के आस्रव के निरोध को कहीं भी स्थान नहीं दिया है। प्रत्युत पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर में ग्रहण नहीं किया है। कारण कि सकषायी जीवों के पुण्य के आस्रव का निरोध होने पर पाप का आस्रव (पाप कर्मों के दलिकों में वृद्धि) नियम से होता है अतः पुण्य के आस्रव-निरोध का प्रयास करना पाप के आस्रव का आह्वान करना व आमंत्रण देना है।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के इकतीसवें अध्ययन 'चरणविधि' में इक्कीस गाथाओं में से एक से लेकर तेंतीस बोल संसार-परिभ्रमण से मुक्त होने के दिये हैं। इन सबमें पाप प्रवृत्तियों का ही निषेध किया गया है, पुण्य का निषेध कहीं नहीं किया गया है। उत्तराध्ययन के बत्तीसवें 'प्रमादस्थान' अध्ययन में एक सौ ग्यारह गाथाओं में विषय, कषाय, राग-द्वेष, मोह, माया, तृष्णा आदि पापों को ही त्याज्य बताया है। कहीं पर भी पुण्य को त्याज्य नहीं कहा है।

एदे दहप्पयारा पावकम्मस्स णासया भणिया।

पुण्णस्स य संजणया, परं पुणत्थं ण कायव्वा ॥

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०

धर्म के दस भेद, पाप, कर्म का नाश करने वाले तथा पुण्य कर्म का उपार्जन करनेवाले कहे हैं, परन्तु इन्हें पुण्य के लिए नहीं करना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि क्षमा, सरलता आदि धर्मो से पाप कर्मों का ही क्षय होता है पुण्य कर्मो का नहीं। अपितु इनसे पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है।

'विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्व-परस्थं सुखासुखम् व्यर्थस्तवार्हतः: ॥

– देवागम कारिका, १५

आचार्य श्री समन्तभद्र के मत में सुख-दु:ख अपने को हो या दूसरे को हो, वह यदि विशुद्धि का अंग हो तो पुण्यास्त्रव का और संक्लेश का अंग हो तो पापास्त्रव का हेतु है। यदि वह दोनों में से किसी का भी अंग नहीं है तो वह व्यर्थ है, निष्फल है।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।

जो परिणओ सो पुण्णो .....॥

– मूलाचार, २३४

सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति, कषायनिग्रह रूप गुणों से परिणत आत्मा पुण्य स्वरूप है। जैनागम में सम्यक्त्व, विरति, कषायनिग्रह आदि गुणों को जीव का स्वभाव व संवर कहा है। अत: जहाँ संवर है वहाँ पुण्य है। संवर पाप के निरोध व क्षय का ही हेतु है, पुण्य के निरोध व क्षय का नहीं।

शुभ योग मोक्षरूपी फल को प्रदान करने वाला है। जैसा कि कहा है-

प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।

नि:शल्यस्य यतेर्यत् तद्वज्ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥

– आवश्यक सूत्र

प्रतिक्रमण का स्वरूप बतलाते हुए इस श्लोक में कहा गया है कि शल्य रहित मुनि का मोक्षफल को प्रदान करने वाले शुभयोग में उत्तरोत्तर वर्तन करना प्रतिक्रमण है। यहाँ भी शुभयोग को मोक्षरूपी फल प्रदान कारने वाला कहा गया है।

शुभ परिणामों से कर्मक्षय की स्वीकृति वीरसेनाचार्य ने 'कसायपाहुड' की जयधवला टीका में देते हुए कहा है-

सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणु-ववत्तिदो।

- जयधवला, पुस्तक १ पृष्ठ ५

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों से यदि कर्मो का क्षय नहीं माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नहीं सकता।

शुभयोग से पुण्य प्रकृतियों का आस्रव होता भी है, किन्तु वह घातक एवं मुक्ति में बाधक नहीं हैं। इसके साथ ही शुभयोग से पापास्रव के निरोध रूप संवर एवं पापकर्म का क्षय भी होता है।

सत्प्रवृतियों का महत्व

प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रवृत्ति आस्रव है, कर्मबंध एवं संसार परिभ्रमण का कारण है। अतः दान, दया, सेवा, करुणा, वात्सल्य आदि रूप धर्म के प्रचार-प्रसार की भावना व पाँच समितियों का पालन आदि प्रवृत्तियाँ साधक क्यों करें?

इसके उत्तर में कहना होगा कि यह मानना कि प्रवृत्ति मात्र बंध का और निवृत्ति मात्र मुक्ति का मार्ग है, समीचीन नहीं है। बंध और मुक्ति निर्भर करती है कषाय की उत्पत्ति, उपस्थिति व प्रवृत्ति पर। जो प्रवृत्ति या निवृत्ति कषाय के रस से युक्त है, कषाय-उत्पत्ति की कारण है वह ही बंध की कारण है और जिस प्रवृत्ति या निवृत्ति से कषाय घटता है, मिटता है वह मुक्ति की कारण है। पुण्य, संवर और निर्जरा की जनक प्रवृत्तियाँ कषाय का मंदता करती, घटाती एवं मिटाती हैं अतः मुक्ति की हेतु हैं।

दान से परिग्रह की ममता घटने से लोभ-कषाय मंद होता है। दया, करुणा व अनुकंपा से आत्मीयता-मैत्रीभावना का विकास होता है और अहंकार गलता है। आत्मीयता या मैत्रीभावना का विकास तब ही होता है जब मोह या राग घटता है। जिसमें मोह या राग की तीव्रता होती है वह अपने ही तन, मन व परिजन में परिबद्ध हो सीमित हो जाता है। उसे दूसरे के दुःख की अनुभूति नहीं होती है। उसके प्रति संवेदना व सहानुभूति नहीं होती है। दूसरे दुःखी प्राणियों के प्रति उसमें आत्मीय भाव पैदा नहीं होता है। जिस प्रकार रबर का गुब्बारा हवा भरने से जैसे-जैसे फूलता जाता है, फैलता जाता है, वैसे ही वैसे उसका पतलापन बढ़ता जाता है और

चरम सीमा पर पहुँचने पर वह फट जाता है। यही उदाहरण दान, दया, करुणा, अनुकम्पा, सेवा, वात्सल्य, मैत्री-भाव आदि शुभ प्रवृत्तियों पर भी चरितार्थ होता है। जैसे-जैसे इन शुभ प्रवृत्तियों की वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे कषाय, राग या मोह का पतलापन बढ़ता जाता है। दान, दया, करुणा, अनुकम्पा, सेवा वात्सल्य व मैत्री निस्वार्थ आत्मीयभाव के प्रकटीकरण के ही विभिन्न रूप हैं। अहंभाव मोह का रूप है। जितना अहंभाव प्रगाढ़ होगा, वह व्यक्ति उतना अपने ही स्वार्थ में सीमित होगा, उसमें आत्मीय भाव (निस्वार्थ प्रेम) की उतनी ही कमी होगी।

आत्मीय भाव और मोह में अन्तर है। मोह में इन्द्रिय एवं मन से सम्बन्धित सुख भोग की कामना रहती है, प्रतिफल की भावना रहती है। इससे पदार्थ व व्यक्ति के साथ ममत्वभाव उत्पन्न होता है और वह इसके सम्बन्ध में आबद्ध हो जाता है। सम्बन्ध ही बन्धन है, कर्मबंध का कारण है, जो दुःख का मूल है। आत्मीय भाव में अपने सुख या सुख की सामग्री को वितरण करने की, सुख प्रदान करने की भावना रहती है। दान का प्रतिदान या प्रतिफल पाने की भावना नहीं रहती है। दान, दया, करुणा, वात्सल्य और अनुकम्पा ये ऐसे ही निःस्वार्थ आत्मीयभाव को प्रकट करने वाली सेवा की प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें अपने राग रूप सुख को घटाने एवं दूसरों के दुःख निवारण को भावना रहती है जो राग को पतला करने में सहायक हैं। इसलिए सेवा अर्थात् वैयावृत्त्य की प्रवृत्ति को आगम में निर्जरा अर्थात् कर्म क्षय का कारण कहा है।

कैसे चलना, कैसे बोलना, कैसे आहार ग्रहण करना, प्राप्त सामग्री का उपयोग कैसे करना, शरीर से निकले मूत्रादि मलों को कैसे छोड़ना आदि-पाँच समितियाँ प्रवृत्ति रूप ही हैं। ये सब शरीर से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ हैं। आगम में विधिपूर्वक की गई ये प्रवृत्तियाँ संयम या संवर कही गई हैं। कारण कि संयम पालन व मुक्ति-प्राप्ति में शरीर, इन्द्रिय व मन आदि उपकरण माध्यम रूप साधन हैं। जो मुक्ति के साधन हैं, वे साधना-मार्ग अर्थात् संवर-निर्जरा के ही कार्य हैं। शरीर और मन के विद्यमान रहते हुए इनकी कुछ न कुछ प्रवुत्ति अवश्यंभावी है। उस प्रवृत्ति को भोग में लगाना पाप है और संयम में लगाना संवर-निर्जरा है, कर्म क्षय का कारण है।

निवृत्ति मात्र मुक्ति की कारण हो, साधना का मार्ग हो ऐसी बात नहीं है। यदि कोई उपवास इसलिए करता है कि भूखे रहने से आमाशय की (जठराग्नि की) अग्नि प्रदीप्त होगी जिससे भोजन अधिक स्वाद लेकर खाया जा सकेगा तो यह

उपवास रूप निवृत्ति भोजन की प्रवृत्ति को जगाने के लिए है, अतः बंध का कारण है, मुक्ति का नहीं। बगुले का मछली पकड़ने की ताक में हलन-चलन की प्रवृत्ति न करना निवृत्ति नहीं प्रत्युत प्रवृत्ति का ही रूप है। आशय यह है कि जो निवृत्ति भोग-सुख प्राप्ति की इच्छा से की जाती है, वह बंध का कारण है। वह प्रवृत्ति ही है, निवृत्ति नहीं और न उसका साधना में कोई स्थान ही है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रवृत्ति या निवृत्ति के विषय-कषाय का पोषण होता है, वह प्रवृत्ति या निवृत्ति दोष है, बंधन है और संसार परिभ्रमण का कारण है और जिस प्रवृत्ति या निवृत्ति से विषय-कषाय घटता है, उपशम या क्षय होता है, वह निवृत्ति या प्रवृत्ति, मुक्ति का कारण संवर-निर्जरा रूप साधना होने से उपादेय है।

दया, दान, करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य, सेवा आदि प्रवृत्तियाँ निरवद्य हैं अतः चारित्र रूप साधना की अङ्ग हैं उपादेय हैं। निरवद्य प्रवृत्तियाँ कभी भी त्याज्य नहीं होती हैं केवल सावद्य प्रवृत्तियाँ प्राणातिपात, मृषावाद, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि प्रवृत्तियाँ ही त्याज्य हैं। इसीलिए व्रत सदा सावद्य अर्थात् पाप प्रवृत्तियों के त्याग का ही लिया जाता है। निरवद्य प्रवृतियों के त्याग के व्रत लेने का विधान आगमों में कहीं उपलब्ध नहीं होता है।

यह स्पष्ट है कि समस्त दोषों व दुःखों का मूल राग है। राग की उत्पत्ति का कारण विषय-सुख का भोग है। अतः जिन प्रवृत्तियों, क्रियाओं या चेष्टाओं द्वारा सुख-भोग नहीं किया जाता उनका राग अङ्कित नहीं होता। जिनका राग अङ्कित नहीं होता उनका चिन्तन नहीं होता। इनका चिन्तन मिटते ही इनसे अतीत का अर्थात् लोकातीत, इन्द्रियातीत अविनाशी अवस्था या जीवन का चिन्तन स्वतः होने लगता है। यह सार्थक चिन्तन है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को जलाकर स्वतः शान्त हो जाती है उसी प्रकार सार्थक चिंतन व्यर्थ चिंतन को खाकर स्वयं शान्त हो जाता है जिससे राग का पूर्ण रूप से सदा के लिए क्षय हो जाता है। राग का सर्वांश में क्षय होते ही, वीतराग होते ही अविनाशी मुक्त जीवन की उपलब्धि एवं अनुभूति हो जाती है। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि प्रवृत्तियों का सदुपयोग इनसे अतीत के जीवन में प्रवेश कराने में हेतु है। इन सबका सदुपयोग सेवा, संयम आदि है। अतः सेवा आदि का परिणाम इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत जीवन में प्रवेश कराना है, जिसका फल शान्ति मुक्ति एवं प्रीति की प्राप्ति है। शान्ति में अनंत सामर्थ्य वैभव व अक्षय रस-मुक्ति में अमरत्व (अविनाशीपन)

व अखण्ड-अव्याबाध रस एवं प्रीति में नित-नूतन अनंत रस है अर्थात् अक्षय-अव्याबाध-अनंत सुख की प्राप्ति है। तात्पर्य यह है कि सद्प्रवृत्ति मुक्ति वह अक्षय-अव्याबाध अनंत सुख की प्राप्ति में सहायक है बाधक नहीं।

प्राक्कथन

(लेखक की मूल पुस्तक 'आस्रव-संवर तत्त्व' पुस्तक में उद्धृत)

- कन्हैयालाल लोढ़ा

जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति प्राप्त कराना है। मुक्ति में पाप बाधक है। अतः मुक्ति-प्राप्ति के लिए पाप का त्याग करना अनिवार्य है, इसलिए जैन दर्शन में समस्त तात्त्विक विवेचन पाप को दृष्टि में रखकर ही किया गया है, पुण्य की दृष्टि से नहीं किया गया है। कर्म का शुभत्व-अशुभत्व उसके शुभ-अशुभ फल पर ही निर्भर करता है। जिस कर्म का फल अशुभ मिलता है उसे अशुभ व पाप कर्म कहा है। जिस कर्म का फल शुभ मिलता है उसे शुभ व पुण्य कर्म कहा गया है। पुण्य कर्म से जीव को किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती, आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं होता है, अतः पुण्य कर्म को अघाती कर्म कहा है यदि पुण्य कर्म से जीव को किसी भी प्रकार की हानि होती, आत्मा के स्वाभाविक गुणों का अंश मात्र भी घात होता तो इसे देश-घाती कर्म कहा जाता, अघाती नहीं कहा जाता।

कर्म सिद्धान्त में कर्म फल देने वाली शक्ति को अनुभाग या अनुभाव कहा है और इस अनुभाग के सर्जन (आस्रव) तथा बंध का कारण कषाय को कहा है। यथा **'ठिदि अणुभाग कसायदो होंति'**, (गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा २५७) अर्थात् स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से ही होता है। पन्नवणा सूत्र के १४ वें पद में आठों ही कर्म-प्रकृतियों के बंध का कारण क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय को बताया गया है। यह सूत्र पाप कर्मों पर ही लागू होता है, पुण्य कर्मों पर नहीं। कारण कि क्रोध कषाय में कमी से सात वेदनीय, मान कषाय की कमी से उच्च गोत्र, माया कषाय की कमी शुभ नाम कर्म और लोभ कषाय की कमी व क्षय से देवायु नामक पुण्य कर्म प्रकृतियों का बंध होता है। अतः समस्त पुण्य-प्रकृतियों के आस्रव का कारण कषाय की कमी व क्षय है। पाप और पुण्य कर्म का फल उनके अनुभाग से मिलता है। कर्म के अनुभाग में जितनी वृद्धि होती है उतना ही उसका फल अधिक मिलता है। कर्म अनुभाग में जितनी कमी होती है उसका फल उतना ही कम मिलता है। कर्म के अनुभाग का कारण कषाय को कहा है। कषाय की वृद्धि से

कर्म के अनुभाग में वृद्धि होती है और कषाय की कमी से कर्म के अनुभाग में कमी होती है। जैसा कि कहा है-

तिव्वो असुहसुहाणं संकेसविसोहिओ विवज्जयउ।

'कर्म-ग्रंथ भाग ५, गाथा ६३

अर्थात् अशुभ (पाप) प्रकृतियों का तीव्र रस (अनुभाग) संक्लेश (कषाय की वद्धि) से और इसके विपरीत शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का तीव्र रस (अनुभाग) विशुद्धि (कषाय की कमी) से होता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि केवल पाप प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि का हेतु कषाय है। पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि का हेतु कषाय नहीं है, अपितु इसके विपरीत है अर्थात् कषाय में जितनी कमी होती जाती है उतना पुण्य कर्मों का अनुभाग बढ़ता जाता है। यही कारण है कि समस्त सम्यग्दृष्टि जीवों पुण्य के अनुभाग का बंध, उदय व सत्ता ये सब चतुः स्थानिक ही होते हैं, इससे न्यून नहीं होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र की क्षपक श्रेणी में जब भाव पूर्ण विशुद्ध हो जाते हैं तो उसे अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन होने वाला होता है। ऐसे उत्कृष्ट साधना के साधक जीव का यही चतुःस्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। समस्त केवलज्ञनियों के उनकी पुण्य प्रकृतियों को अनुभाग सदैव उत्कृष्ट ही होता है। उनका यह अनुभाग कभी भी क्षीण व अनुत्कृष्ट नहीं होता है।

अभिप्राय यह है कि जैन दर्शन में तत्वों का विवेचन साधना को दृष्टि में रखकर किया गया है और साधना में आत्मा का पतन करने वाला पाप ही त्याज्य होता है, आत्मा के पवित्र करने वाला पुण्य त्यात्य नहीं है। अतः जैन दर्शन में आस्रव तथा संवर तत्त्व में पाप के आस्रव व संवर को ही ग्रहण किया गया है, पुण्य के आस्रव व संवर को नहीं। यही कारण है कि आस्रव के बियालीस एवं संवर के सत्तावन भेद पाप से ही सम्बन्धित है इनमें एक भी भेद पुण्य से सम्बन्धित नहीं है। इस विषय का विशेष विवेचन प्रस्तुत (आस्रव-संवर तत्त्व) पुस्तक में 'आस्रव-संवर तत्त्व का आधार', 'कषाय की कमी से पुण्यास्रव और कषाय की वृद्धि से पापास्त्रव', 'शुभ योग संवर क्यों, प्रकरणों में किया गया है। इन्हीं का विस्तृत विवेचन लेखक की 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक में देखा जा सकता है।

साधक के लिए पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं। इसीलिए जैन दर्शन में पाप के आस्त्रव के निरोध को ही संवर कहा है, पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर नहीं

कहा है। कारण कि चारित्र मोहनीय के श्रेणीकरण को छोड़कर जो आठवें गुण-स्थान से ऊपर होती है और उसका काल अंतर्मुहूर्त मात्र है- शेष आठवें गुणस्थान तक पुण्य प्रकृतियों के आस्रव का निरोध होने पर उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का आस्रव होता है। यह नियम है कि जैसे-जैसे आत्मोत्थान होता जाता है वैसे-वैसे पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती जाती है। यही कारण है कि सातावेदनीय,उच्चगोत्र, शुभआयु, आदेय, यशकीर्ति आदि शुभनाम कर्म की पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग केवलज्ञान प्राप्त करने वाले साधक के ही होता है, इससे निम्न स्तर के साधक के नहीं होता। अतः पुण्य के निरोध का संवर तत्त्व में स्थान नहीं है, पुण्य कर्म के अनुभाग का क्षय किसी भी साधना से संभव नही है, इसीलिए वीतराग केवली के पुण्य कर्म की प्रकृतियों का क्षय नहीं होता है।

मन, वचन व काया की प्रवृत्ति से आत्मा में स्पंदन होताा है जिससे कार्मण वर्गणाएँ आकृष्ट होकर आत्म-प्रदेशों में प्रवेश करती हैं, इसे ही आस्रव कहते हैं। अथवा कर्मों के आगमन के हेतुओं, विकारों की उत्पत्ति को आस्रव कहते हैं। यह आस्रव आत्मा के परिणामों से होता है। आत्मा के परिणामों में विद्यमान कषाय में वृद्धि होने को संक्लेश कहा जाता है। संक्लेश से पापास्रव होता है और आत्मा के परिणामों में विद्यमान कषाय में कमी होने से आत्मा पवित्र होती है, इसी को विशुद्धि कहते हैं। विशुद्धि से पुण्यास्रव होता है।

पापास्रव आठों ही कर्मों का होता है, परन्तु पुण्यास्रव वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों का ही होता है। ये चारों कर्म अघाती हैं। अर्थात् इनसे आत्मा के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं होता है। ये कर्म जीव के लिए हानिकारक नहीं हैं। अतः ये साधक के आत्मोत्कर्ष में बाधक नहीं हैं। इसीलिए आस्रव-तत्त्व में पुण्यास्रव को कोई स्थान नहीं दिया गया है। आस्रव के पाँच, बीस, बयालीस भेदों में पुण्यास्रव का कोई भेद नहीं हैं। ये सभी पापास्रव से, पाप प्रवृत्ति से ही सम्बन्धित हैं।

आस्रव से बीस और बियालीस भेद आस्रव के मूल पाँच भेदों के ही विस्तार हैं। आस्रव के पांच भेद हैं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग। आस्रव के निरोध से संवर होता है। इन पाँचों आस्रवों के निरोध से पांच संवर होते हैं, यथा-मिथ्यात्व आस्रव के निरोध से सम्यक्त्व संवर होता है। सम्यक्त्व की उपलब्धि के समय समस्त पाप प्रकृतियों का अनुभाग चतुःस्थानिक से घटकर

द्विस्थानिक हो जाता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतु:स्थानिक हो जाता है, जिसका घात सम्यक्त्व विद्यमान रहते कभी नहीं होता है। अविरति के निरोध से विरति (संयम) का पालन होता है। क्षपक श्रेणी में उत्कृष्ट संयम होता है। उस समय पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है।

प्रमाद साधक के आत्मोत्कर्ष में बाधक है। प्रमाद का त्याग कर क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने वाला साधक के पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग का अर्जन (आस्रव) होता है।

कषाय से ही स्थिति और अनुभाग को बंध होता है। यह बंध कषाय कम हो तो कम और कषाय अधिक हो तो अधिक होता है। अत: **'कषाय से अनुभाग का बंध होता है।' यह सूत्र पाप कर्म प्रकृतियों पर ही लागू होता है,** पुण्य कर्म के अनुभाग में वृद्धि तथा पुण्य कर्म का आस्रव कषाय की कमी से, निरोध से व त्याग से, आत्मा के पवित्र होने से होता है। क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारों कषायों के निरोध से चारों ही पुण्य कर्मों का आस्रव-अर्जन होता है। इसका विस्तार से विवेचन कषाय में कमी से पुण्यास्रव और कषाय की वृद्धि से पापास्रव'' प्रकरण में किया गया है।

मन, वचन, व तन की प्रवृत्ति रूप योग दो प्रकार का है- (१) अशुभ योग और (२) शुभ योग। अशुभ योग से पापास्रव होता है और शुभ योग से पुण्य का आस्रव होता है। परन्तु शुभ योग को आस्रव तत्त्व का हेतु न कहकर संवर का हेतु कहा है। इसका कारण यह है कि शुभ योग से अशुभ योग का निरोध होता है, जिससे पापास्रव का निरोध होता है अर्थात् पाप कर्मों का संवरण होता है। **पापास्रव के निरोध का तथा पाप कर्मों के संवर का हेतु होने से शुभयोग को संवर कहा है।** इसका विशेष वर्णन शुभयोग संवर क्यों? प्रकरण में किया गया है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व अशुभ योग के निरोध से स्वत: सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय व शुभ योग संवर होता है। इन संवरों से पुण्य का आस्रव होता है। अत: पुण्यास्रव का निरोध करना संवर का निरोध करना है। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशक ७ में कहा है कि ''यदि जीव के अशुभ कर्म बंधे हुए न हों तो उसके शुभ कर्म होते हैं। अशुभ कर्मों का उदय न होने पर शुभ कर्मों का उदय स्वत: होता है। अत: शुभ कर्मों को उदय को हेय व त्याज्य

माना जाय तो शुभ कर्मों के उदय के अभाव में उनके विरोधी अशुभ कर्मों का उदय होता है, जो हेय है।

जैन तत्त्व ज्ञान में आस्रव-तत्त्व के सम्बन्ध में यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि दोष या पाप तो प्राणी के करने से होता है, स्वतः नहीं होता है, परन्तु 'पुण्य' पाप में कमी होने से स्वतः होता है। यह अटल नियम है कि पाप परिणामों में जितनी कमी होती है उतनी ही आत्मा अधिक पवित्र होती है और उतनी ही पुण्य कर्म-प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है। आशय यह है कि पाप में कमी होने से, निरोध व त्याग होने से पुण्य का आस्रव स्वतः होता है, उसके लिए अन्य कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। अर्थात् अशुभ योग के निरोध से शुभ योग स्वतः होता है जिससे शुभास्रव स्वतः होता है। यही कारण है कि जब जीव मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण करता है तो पुण्य कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर स्वतः चतुःस्थानिक हो जाता है। चारित्र की क्षपक श्रेणी में, कषाय के क्षय के समय पुण्य का यही अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। जब तक पुण्य कर्म प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवल ज्ञान नहीं होता है, यह उत्कृष्ट अनुभाग जो मुक्ति-प्राप्ति के चरम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है। जब तक पुण्य कर्म-प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट नहीं होता है तब तक केवल ज्ञान नहीं होता है। अतः कषाय की क्षीणता व क्षय से पुण्यास्रव व पुण्य के अनुभाग में वृद्धि स्वतः होती है।

मन, वचन व काया की शुभ क्रिया या प्रवृत्ति अधिक या न्यून होने से पुण्य का अनुभाग अधिक व न्यून नहीं होती है। चारित्र की क्षपक श्रेणी में साधक की मन, वचन, काया की प्रवृत्ति अत्यल्प होती है। अतः पुण्य का अनुभाग कम होना चाहिए परन्तु कम नहीं होकर अधिक होता है। पुण्य की इस वृद्धि का कारण कषाय का क्षय है, प्रवृत्ति नहीं। कषायों के क्षय के साधना काल में ही पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग होता है जो मुक्ति-प्राप्ति में चरम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है।

पुण्य कर्म चार हैं- (१) वेदनीय कर्म (२) गोत्र कर्म (३) नामकर्म और (४) आयु कर्म। इन चारों कर्मों की पुण्य प्रकृति का उपार्जन क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के क्षय से प्रकट क्षमा, मार्दव, आर्जव और अकिंचन (मुक्ति) गुणों से होता है। इन चारों ही गुणों के आलंबन से शुक्ल ध्यान होता है।

जो केवलज्ञान, केवलदर्शन व मुक्ति का हेतु है। इन चारों ही गुणों को स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में मुक्ति के द्वार कहा है। अतः जो मुक्ति के द्वार हैं वे ही पुण्यास्रव के हेतु हैं। अतः पुण्यास्रव का निरोध करना मुक्ति के द्वार का निरोध तथा विरोध करना है।

तप, संयम की साधना से पापास्रव का निरोध एवं पाप कर्मों का ही क्षय होता है पुण्यास्रव का निरोध तथा पुण्य कर्मों का क्षय नहीं होता है। जैसा कि कहा है-

खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजय- अज्जवे-गुणे।
धुणंति पावाइं पुरे कडाइं, णवायं पावाइं ण ते करेंति।।

-दशवैकालिकसूत्र अ. ६ गाथा ६८

मोह रहित होने तथा संयम में, आर्जव, मार्दव आदि गुणों में और तत्त्व में रत साधक पूर्वकृत कर्मों का क्षय करता है व नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है। इस प्रकार साधक अपने पाप कर्मों का क्षय कर देता है। इस गाथा में संयम, तप, आर्जव आदि साधनाओं से अर्थात् कषाय की कमी से केवल पुराने पाप कर्मों का क्षय तथा नवीन पाप कर्मों का बंध नहीं होना बताया है। यदि इन साधनाओं से पुण्य कर्मों का क्षय और नवीन पुण्य कर्मों का बंध होता है तो कर्म शब्द के पहले 'पाप' विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

आशय यह है कि पुण्यास्रव के निरोध को जैन दर्शन में संवर नहीं माना है। कारण कि (१) पुण्य के आस्रव का सर्वथा निरोध सयोगी अवस्था में किसी भी जीव के संभव नहीं है। (२) पुण्य का आस्रव भावों की विशुद्धि से होता है। (३) पुण्य के आस्रव से जीव के किसी भी गुण का घात नहीं होता है। (४) पुण्य कर्म के अनुभाग का क्षय किसी भी साधना से संभव नहीं है। (५) समस्त साधनाओं से पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है। (६) आठवें गुणस्थान तक पुण्यास्रव का निरोध होने पर उसकी विरोधिनी पाप प्रकृतियों का आस्रव होता है। (७) अतः पुण्य के आस्रव का निरोध करना पाप के आस्रव का आह्वान करना है। (८) जैनागम में सर्वत्र पाप के त्याग का ही विधान है, पुण्य के त्याग का आदेश, उपदेश, निर्देश कहीं पर भी नहीं है।

साधकों को यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि पुण्य का आस्रव व अनुभाग में वृद्धि भावों की विशुद्धि के सूचक हैं। अतः पुण्य में महत्त्व भावों की

विशुद्धि का है, भावों की पवित्रता का है, पुण्य तत्त्व का है, पुण्य के आस्रव व अनुभाग की वृद्धि का नहीं। आशय यह है कि पुण्य के आस्रव से आत्मा पवित्र नहीं होती है, अपितु आत्मा के पवित्र होने से पुण्य के आस्रव व अनुभाग में वृद्धि होती है। पुण्य प्रकृतियों की उपलब्धि पाप के घटने से स्वतः होती है। अतः ये साधन-सामग्री हैं इनका सदुपयोग सेवा-साधना में करने से आत्मोत्थान होता है, और इनका उपयोग विषय-भोगों में करने के आत्मा का पतन होता है, पाप की वृद्धि होती है जो आत्मा के लिए अहितकर व त्याज्य है। सदुपयोग-दुरुपयोग करना जीव के पुरुषार्थ का निर्भर है- कर्मोदय पर नहीं।

पाप व पुण्य के आस्रव का संबंध प्रवृत्ति से है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है- (१) दुष्प्रवृत्ति और (२) सद्प्रवृति। जिस प्रवृत्ति से स्व-पर का अहित हो, हानि हो, दुःख हो, पतन हो वह दुष्प्रवृत्ति है, दुष्कर्म है, पाप है। जैसे-किसी मनुष्य के प्रति व हमारे प्रति कोई दूसरा व्यक्ति (१) कष्ट दे, मारे , (२) झूठ बोले, (३) चोरी करे (४) व्यभिचार करे (५) शोषण करे, ठगने का व्यवहार करे, (६) क्रोध करे, (७) अभिमान कर नीचा दिखावे, (८) धोखा-धड़ी करे, (९) लोभ से ठगे, (१०) भोग करे, आसक्त होवे, (११) द्वेष करे, (१२) कलह-झगड़ा करे, (१३) कलंक लगावे (१४) चुगली करे (१५) निंदा करे तो उसके इन व्यवहारों को मानव मात्र बुरा मानता है। यह ज्ञान मानव मात्र को स्वाभाविक है अतः स्वयं सिद्ध है। इसी को जैन धर्म में पाप प्रवृत्ति कहा है और इसके प्राणातिपात आदि अठारह भेद कहे हैं अर्थात् दूसरों के द्वारा जैसा व्यवहार हम अपने प्रति बुरा, अनिष्ट, हानिप्रद व दुःखद मानते हैं वैसा व्यवहार करना पाप है, पापास्रव का हेतु है। पाप त्याज्य ही होता है।

पापास्रव का मूल कारण विषय-सुखों का भोग है, सुख लोलुपता है, सुख का प्रलोभन है, 'पर' पदार्थ से सुख पाने की इच्छा है। 'पर' पदार्थ सुख-दुःख देता है, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। पर-पदार्थों के सुख-प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति करना ही असंयम है, अविरति है। पर पदार्थ के सुख-भोग में आसक्त होना, मनोज्ञ विषयों में राग अमनोज्ञ विषयों के प्रति द्वेष करना कषाय है। कषायवर्द्धक प्रवृत्ति करना अशुभ योग है। ये ही अशुभ योग मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और पापास्रव के हेतु है, संसार-भ्रमण के कारण है, समस्त दोषों व दुःखों के जनक हैं, अतः त्याज्य हैं। इसके विपरीत आत्मा स्वयं सुख-दुःख का कर्त्ता-विकर्त्ता है, अन्य

नहीं, यह सम्यक्त्व है। पर-पदार्थ से सुख-भोग के लिए प्रवृत्ति न करना, विषय-भोगों से विरत होने विरति है, संयम है। समभाव में रहना, कषाय का उपशम व क्षय करना अर्थात् अकषाय होना चारित्र है। अशुभ योगों के निरोध से, त्याग से स्वतः शुभ योग होता है। सम्यक्त्व, विरति अकषाय और शुभ योग संवर है। संवर पुण्यास्रव का हेतु है। अतः पुण्यास्रव त्याज्य नहीं है, पापास्रव ही त्याज्य है। पापास्रव के त्याग में ही आत्म-हित निहित है।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'आस्रव-संवर तत्त्व' में निम्नांकित प्रकरण पठनीय हैं-

३. सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व : एक आगमिक विश्लेषण, ४. सम्यग्दर्शन के लक्षण, ५. सम्यग्दर्शन और भेद विज्ञान, ६. व्रत बन्धन नहीं, मुक्ति है, ७. त्याग का स्वरूप एवं महत्व, ८. महत्त्व दोषों की कमी का नहीं, दोषों के त्याग का है, ९. सुख, शान्ति एवं मुक्ति का उपाय : त्याग, १०. अतिभोग को संयम व त्याग का हेतु मानना घोर भूल, ११. भोग : भव-भ्रमण का कारण, १२. वैज्ञानिक युग में श्रावक धर्म की महत्ता एवं आवश्यकता, १३. तीन मनोरथ, १४. श्रमण धर्म : समिति - गुप्ति की साधना, १५. अहिंसा के दो रूप, १६. अहिंसा और विवेक, १७. अहिंसा का सकारात्मक रूप, १८. सकारात्मक अहिंसा धर्म है, १९. परिग्रह और अपरिग्रहः एक विश्लेषण, २०. विकथा - त्याग, २१. वोसिरामि : एक विवेचन, २२. प्रत्याख्यान, वोसिरामि और मिच्छमि दुक्कडं, २३. उट्ठिए णो पमायए, २४. गति नहीं, प्रगति करें, २५. कषाय की कमी से पुण्यास्रव और कषाय की वृद्धि से पापास्रव, २६. वैर बनाम मैत्री : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, २७. करुणा और मोह में भेद, २८. करुणा विभाव नहीं, स्वभाव है, संवर है, २९. मैत्री भाव, ३०. मार्दव, ३१. शुभ योग संवर क्यों? ३२. अशुद्ध-शुद्ध भाव और शुभ - अशुभ योग का अन्तर, ३३. सामायिक : सर्व साधनाओं की भूमि, ३४. सामायिक के प्रतिज्ञा-पाठ का रहस्य, ३५. सत्प्रवृत्तियों का महत्त्व, ३६. जप - साधना, ३७. मौन - साधना, ३८. भक्ति - उपासना।

आमुख

(आस्रव-संवर तत्त्व से उद्धृत)

- धर्मचन्द जैन

बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया को जानने की दृष्टि से जैन दर्शन में नवतत्त्वों को प्रतिपादन हुआ है। नवतत्त्व हैं-जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध,

निर्जरा और मोक्ष। प्रस्तुत पुस्तक में आस्रव और संवर तत्त्व का विशेष प्रतिपादन हुआ है। जीव-अजीव और पुण्य-पाप तत्त्वों की व्याख्या श्री लोढा साहब की पुस्तकें पहले ही प्रकाश में आ चुकी हैं। जीव-अजीव तत्त्व का प्रतिपादन उन्होंने विज्ञान और जैन दर्शन के आलोक में किया है। पुण्य-पाप का प्रतिपादन आगम और कर्म सिद्धान्त को आधार बनाकर किया है। 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक वर्तमान में प्रचलित मान्यताओं में संशोधन की प्रेरणा करती है। लेखक ने आगमिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पुण्य को पाप की भाँति हेय मानना उचित नहीं है। पुण्य का उन्होंने तत्त्व एवं कर्म के रूप में प्रतिदिन किया है। **उन्होंने पुण्य तत्त्व को आत्म-विकास का और पुण्य कर्म को भौतिक विकास का सूचक बताते हुए** प्रतिपादित किया है कि कषाय की कमी अथवा विशुद्धिभाव रूप पुण्य आध्यात्मिक विकास में सहायक बनता है तथा पुण्य तत्त्व के फल रूप में अर्जित पुण्य कर्मों के द्वारा मनुष्य आयु, पञ्चेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति शरीर आदि के रूप में जो भौतिक सामग्री प्राप्त होती है, वह भैतिक विकास की द्योतक एवं सहायक है।

पुण्य अर्थात् विशुद्धि भाव की वृद्धि को उन्होंने पापकर्मों के क्षय में हेतु स्वीकार किया है। उनका यह सुदृढ़ मन्तव्य है कि मुक्ति में पुण्य सहायक है एवं पाप बाधक है। इस प्रकार मोक्ष की साधना में संवर और निर्जरा की भाँति पुण्य भी उपयोगी है।

प्रस्तुत पुस्तक आस्रव और संवर तत्त्व में लेखक ने आस्रव और संवर का निरूपण करते हुए यह मन्तव्य स्थापित किया है कि आस्रव और संवर तत्त्व का प्रतिपादन पाप को आधार मानकर किया गया है, पुण्य को आधार बनाकर नहीं। इसीलिए आस्रव को त्याज्य बताते समय पाप का ही आस्रव त्याज्य कहा गया है, पुण्य का आस्रव नहीं। उसी प्रकार संवर की साधना में पाप प्रवृत्ति या सावद्यप्रवृत्ति की ही संवर अपेक्षित होता है, पुण्य या शुभ प्रवृत्ति का नहीं। जैन दर्शन के कतिपय विद्वान् वर्तमान समय में सम्पूर्ण आस्रव को हेय एवं सम्पूर्ण संवर को उपादेय मानकर पुण्यास्रव को भी हेय की श्रेणि में स्थापित करते हैं जो कथमपि समीचीन नहीं है। जब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है तब तक पुण्य का आस्रव उपादेय ही है। मुक्ति के अनन्तर न कोई तत्त्व उपादेय रहता है न ही हेय, क्योंकि मुक्त जीव इन तत्त्वों की हेयोपादेयता से उपर उठ जाता है।

पुस्तक के लेखक आदरणीय लोढा साहब आगम एवं कर्म सिद्धान्त के विशेषज्ञ हैं। आप दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं के साहित्य का अनकेश:

पारायण कर चुके हैं। अधीत ग्रन्थों का चिन्तन-मनन करते हुए सत्य का अन्वेषण करने में समर्पित विद्वान हैं। आप मात्र बौद्धिक व्यायाम में विश्वास नहीं करते, अपितु धर्म को जीवन का उन्नायक स्वीकार करते हैं। आप सरल स्वभावी, ध्यान-साधना के अभ्यासी, सत्-असत् के विवेकी साधनाशील और जैन धर्म के हितैषी मनीषी हैं।

यह कहते हुए मन को पीड़ा होती है कि लोढा साहब के द्वारा पुण्य-पाप तत्त्व में प्रकट किए गए विचारों पर विद्वानों की कोई विशेष प्रतिक्रिया प्राप्त नहीं हुई। संभव है उनके विचार प्रभावकारी सिद्ध हुए हों, किन्तु प्रचलित मान्यता के विरोध में सत्य को स्वीकार करना एवं स्वीकारोक्ति देना सबके लिए सहज नहीं होता है।

जैन साधन-पद्धति में सूक्ष्मता एवं विशुद्धि का पदे-पदे सन्निवेश है। मूल में कर्मों का बन्धन जब तक न हो तब तब आस्रव भी विशेष अनिष्टकारी नहीं होता है। कषाय की उपस्थिति में आस्रव के अनन्तर कर्मों का बन्धन होता ही है, इसलिए आस्रव अनुपादेय है। आस्रव के समय साधक सजग हो जाय तो वह बन्धन की प्रक्रिया को शिथिल कर सकता है। कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए संवर की साधना है। आस्रव और संवर में योग की प्रधानता होती है जबकि बन्ध और निर्जरा में क्रमशः कषाय-कषायजय का प्राधान्य होता है। मन-वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है, इससे आत्मा-प्रदेशों में सम्पदन होता है तथा आकाश में विद्यमान कर्म-पुद्गल आत्मा को ओर आकर्षित होते हैं, जिसे बन्ध कहा जाता है। शुभ आस्रव को पुण्यास्रव एवं अशुभ आस्रव को पापास्रव कहा जाता है। आगमों के आस्रव के जिन २० भेदों या ४२ भेदों का उल्लेख आता है वे पापास्रव के ही भेद हैं, पुण्यास्रव के भेदों को कोई उल्लेख नहीं है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि आस्रव तत्त्व का प्रतिपादन पाप के आस्रव को ही आधार बनाकर किया गया है। संवर के २० और ५७ भेद प्रतिपादित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के 'कषाय की कमी से पुण्यास्रव और कषाय की वृद्धि से पापास्रव' प्रकरण से निरूपण करते हुए कहा है-

फलितार्थ यह है कि कषाय के क्षय से दो प्रकार के फल मिलता हैं यथा- (१) पाप कर्मों का क्षय होता है एवं (२) पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है अथवा यों कहें कि कषाय क्षय का आभ्यंतरिक फल क्षमा, सरलता, मृदुता आदि धर्मों की

उपलब्धि होना है और बाह्य फल सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ नाम आदि पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन होना भौतिक विकास एवं फल है। (पृ. ११५)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक द्वारा समय-समय पर लिखे गए आस्रव-संवर से सम्बद्ध ३९ लेख संकलित हैं। इनमें प्रारम्भ के २ लेख आस्रव और संवर तत्त्व के स्वरूप और आधार की विवेचना करते हैं तथा शेष लेखों को आस्रव और संवर के मिथ्यात्व-सम्यक्त्व आदि पाँच भेदों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। लेखों के पाँच वर्ग या खण्ड हैं- १. मिथ्यात्व-सम्यक्त्व २. अविरति- विरति ३. प्रमाद-अप्रमाद ४. कषाय-अकषाय ५. अशुभ-शुभ।

लोढा साहब की प्रतिपादन शैली प्रतिपाद्य विषय के मर्म को स्पर्श करती है एवं उसे विभिन्न युक्तियों के साथ स्पष्ट करने हेतु सन्नद्ध रहती है। आपने सम्यग्दर्शन और मिथ्यात्व का आगमिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुये मिथ्यात्व के दश प्रकार का आध्यात्मिक विवेचन किया है। उन्मार्ग को सन्मार्ग मानने के रूप मिथ्यात्व की विवेचना करते हुए आपने लिखा है-

''विषय-विकारों एवं भोगों के त्याग के लक्ष्य से की गई प्रवृत्ति सन्मार्ग है और विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए की गई प्रवृत्ति-निवृत्ति (त्याग-तप) उन्मार्ग है। उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना मिथ्यात्व है।''... ''करुणा, दया, दान, वैयावृत्य, सेवा, परोपकार, नमस्कार, मृदुता, मित्रता आदि समस्त सत्प्रवृत्तियों को पुण्य बन्ध का हेतु कहकर इन्हें संसार परिभ्रमण का कारण मानना सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। कारण कि प्रथम तो पुण्य कर्म की समस्त ४२ प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती हैं। अर्थात् इनसे जीव के किसी भी गुण का अंश मात्र भी घात नहीं होता, अतः ये अकल्याणकारी है ही नहीं। द्वितीय, कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि पुण्य का उत्कर्ष, परिपूर्ण होने के पूर्व यदि साता वेदनीय, उच्च गोत्र, आदेय, यश कीर्ति, मनुष्य गति, देव-गति आदि पुण्य-प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध नहीं होता है तो असाता वेदनीय, नीच, गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति, नरक गति, तिर्यंच गति आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध अवश्य होता है। अतः पुण्य के आस्रव का निरोध व विरोध करना पाप के आस्रव व बन्ध का आह्वान व आमन्त्रण करना है। जो घोर मिथ्यात्व है। तृतीय, दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियों से पुण्य का जितना उपार्जन होता है, उससे अनंत गुणा पुण्य के अनुभाग का सर्जन

संयम, त्याग, तप व श्रेणीकरण की साधना से होने वाली आत्मा-पवित्रता से होता है। अतः पुण्य को संसार-भ्रमण को कारण मानने वालों को संयम, त्याग, तप, श्रेणीकरण आदि मुक्ति-प्राप्ति की साधनाओं को भी संसार-भ्रमण का कारण मानना पड़ेगा, जो घोर मिथ्यात्व है। (पृष्ठ ३२-३३)

लेखक ने दर्शन गुण, दर्शनोपयोग और सम्यग्दर्शन में भेद का प्रतिपादन सम्यक् रीति से किया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में सम्यग्दर्शन और भेद विज्ञान को एकार्थवाची प्रतिपादित किया है। अविरति-विरति खण्ड में व्रत एवं त्याग का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। व्रत स्वीकार करने पर व्यक्ति संयमीबनता है जिससे आस्रव का निरोध होता है। व्रत की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने कहा है-''व्रत न लेना अपने आपको युद्ध के खुले मैदान में असुरक्षित छोड़ देना है, जहाँ पर सब ओर से प्रहार व आक्रमण की आशंका एवं भय सदा बना रहता है। व्रत दुर्ग के समान है, जिसका आश्रय ग्रहण कर व्यक्ति अपने को प्रलोभन, भय आदि अस्त्रों के प्रहारों, आक्रमणों व तूफानों सुरक्षित रख सकता है। (पृष्ठ ५५)

प्रायः दोषों की कमी होने पर व्यक्ति सन्तुष्ट देखा जाता है, किन्तु पुस्तक के लेखक का मन्तव्य है कि दोषों की कमी तो निमित्त कारणों के अभाव व दुःख के भय से भी हो सकती है, इसलिए महत्त्व दोषों की कमी का नहीं, अपितु दोषों के त्याग का है। त्याग से ही सुख, शान्ति एवं मुक्ति की प्राप्ति संभव है। आवश्यकता है अहंत्व एवं ममत्व का त्याग करने की। कतिपय चिन्तकों की यह मान्यता है कि चरम भोग के पश्चात् ऊबने के कारण उसका स्वतः त्याग कर दिया जाता है, किन्तु लोढ़ा साहब ने इस मान्य का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि अतिभोग के पश्चात् भी भोगने की कामना ज्यों की त्यों शेष रहती है। भोग भोगने से विरक्ति होती तो प्रत्येक व्यक्ति खाने-पीने, देखने-सुनने के बीसों भोग भोगता है, इस प्रकार आज तक हजारों-लाखों बार भोग भोग लिये। अतः अब तक विरक्ति हो जानी चाहिए थी। परन्तु देखा जाता है कि मनुष्य जितना अधिक भोग भोगता जाता है, उतनी उसकी भोग-वासना पुष्ट व प्रबल होती जाती है। (पृष्ठ ८१) भोग तो भव-भ्रमण का कारण है। इसके विपरीत आज के युग में श्रावक धर्म को अपनाने की महती आवश्यकता है। श्रावक धर्म में अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण नामक अणुव्रतों का पालन कर व्यक्ति अपने जीवन को समस्यारहित बना सकता है। श्रावक धर्म के पालन से हिंसा, क्रूरता, अविश्वास, शोषण, दुराचार, विषमता, संघर्ष आदि दोष घटते एवं मिटते हैं एवं अहिंसा, आत्मीयता, सहृदयता, विश्वास, प्रामाणिकता, नैतिकता, सदाचार, समता आदि सद्गुणों का पोषण, प्रचार एवं प्रसार होता है। श्रमण धर्म भी संवर एवं निर्जरा की साधना रूप धर्म है। पाँच समिति व तीन गुप्ति का पालन संवर-साधना का उत्कृष्ट रूप है। प्रसंगवश अहिंसा की व्यापक चर्चा भी पुस्तक की उपयोगिता को सिद्ध करती है। लेखक ने सकारत्मक अहिंसा को धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है। दरिद्रता और अपरिग्रह में अन्तर बताते हुए कहा है -"बाह्य-दृष्टि से दोनों एक से लगते हैं, परन्तु आभ्यन्तर रूप से व परिणाम मे महान अन्तर है। दरिद्र के पास वस्तु या धन ने होने पर भी उसके दिल में वस्तु या धन का मूल्य, धन का महत्त्व, धन की अभिलाषा एवं धन की रुचि रहती है जबकि अपरिग्रही चारों ओर वस्तुओं से घिरा होने पर भी उसने जल-कमलवत् अलिप्त रहता है। (पृष्ठ १८१) प्रत्याख्यान, वोसिरामि और मिच्छमि दुक्कडं में भेद का प्रतिपादन करते हुए लेखक ने कहा है कि प्रत्याख्यान से नवीन कर्म बंधना रुकता है, वोसिरामि से उदयमान कर्म प्रभावहीन हो जाते हैं, तथा मिच्छामि दुक्कडं से पूर्व बंधे कर्म-निष्प्राण, सत्त्वहीन व रसहीन हो जाते हैं।(पृष्ट १८१) प्रमाद को त्यागकर अप्रमाद को अपनाने की प्रेरणा करने हेतु इस प्रस्तक में दो लेख सम्मिलित हैं। कषाय - अकषाय के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख है- 'कषाय की कमी से पुण्यास्रव की गहन चर्चा करते हुए साता-असातावेदनीय, शुभ-अशुभ आयु, शुभ-अशुभ नाम कर्म और उच्च एवं नीच गोत्र के उपार्जन के हेतुओं का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण में आपने कहा है कि कषाय के क्षय के दो प्रकार के फल मिलते हैं- १. पाप कर्मों का क्षय होता है। २. पुण्य कर्म का उपार्जन होता है अथवा यों कहें कि कषाय का क्षय का आभ्यंतरिक फल, क्षमा, सरलता, मृदुता आदि धर्मों की उपलब्धि होना है और बाह्य फल सातावेदनीय, उच्च मित्र, नाम आदि का एवं शुभ प्रवृत्तियों का उपार्जन होना है। लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि पाप प्रकृतियों का क्षय और पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन अनुभाग बन्ध की न्यूनाधिकता की अपेक्षा समझना चाहिए।(पृष्ठ १९५) करुणा जीव का स्वभाव है, विभाव

नहीं। इसी प्रकार मैत्री भाव, मार्दव आदि धर्म भी साधना में सहायक हैं। समभाव की साधना सामायिक से आस्रव का निरोध रूप संवर होता है। जप साधना, मौन साधना, भक्ति उपासना और अन्य सत् प्रवृत्तियाँ भी संवर में सहायक है।

आस्रव और संवर तत्त्व के बोध के साथ आध्यात्मिक साधना के बोध हेतु भी यह पुस्तक उपादेय है।

❑❑❑

निर्जरा तत्त्व

निर्जरा तत्त्व का स्वरूप एवं भेद

कर्मक्षय की साधना निर्जरा है। निर्जरा का आधार तप है। अतः तप के भेदों को जानना आवश्यक है। अनशन, ऊणोदरी आदि तप के बारह भेद कर्म-निर्जरा के क्रमिक विकास के द्योतक हैं। निर्जरा का आशय है कर्मों का निर्जरित होना- कर्मों का झड़ना, क्षय होना, बंधनमुक्त होना। अपने से भिन्न 'पर' से सम्बन्ध जुड़ना ही बंधना है, बंधन है। बंधन उससे होता है जिससे किसी भी प्रकार के सुखभोग की आशा हो। जिससे सुख-भोग मिलता है, उसके प्रति राग होता है। किसी के प्रति राग होना ही उससे बंधना है। इसी प्रकार जिससे सुख-भोग में बाधा पड़ती है उसके प्रति द्वेष होता है। किसी के प्रति द्वेष होना भी उससे बंधना है। इस प्रकार राग-द्वेष ये दो ही बंध के कारण हैं। जिनके प्रति राग या द्वेष नहीं है उनसे इस क्षण भी जीव बंधनरहित ही है। अतः राग-द्वेष से रहित होना ही बंधन मुक्त होना है। बंधन-मुक्त होने की प्रक्रिया ही निर्जरा तत्त्व है।

बंधन मुक्त होने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय है नये बंधन न बांधना। इसे संवर कहा है। क्योंकि बंधन वहीं होता है, जहाँ राग (अटेचमेंट) है। विषय-भोग के सुखों में आसक्ति होना राग है। नये विषय-भोगों की कामना करना तथा कामना पूर्ति के सुख का भोग करना नवीन राग को जन्म देना है यह ही नये बंधन को पैदा करना है। राग या विषय-सुखों के भोगों से ही समस्त विकार, दोष व पाप उत्पन्न होते हैं व टिकते हैं। अतः नवीन विषय-भोगों के राग की उत्पत्ति न करना, नये विकार, दोष व पाप न करना नवीन बंधन को रोकना, संवर है। पुराने बंधनों को

तोड़ना, नष्ट करना, क्षय करना निर्जरा है। पुराने बंधनों को तोड़ने के लिए अंतःकरण (कार्मण या कारण शरीर) में, सत्ता में विद्यमान एवं उदयमान भोग-वासनाओं का क्षय करना है अर्थात् त्यागना है। त्याग के दो रूप हैं। प्रथम रूप है नवीन वासनाओं, दोषों को उत्पन्न करने का त्याग करना इसे संवर कहा है। इस त्याग से नवीन सम्बन्ध उत्पन्न होना अर्थात् नवीन बंध होना बंद हो जाता है। त्याग का दूसरा रूप है- उदयमान वासनाओं को, भोगेच्छाओं को त्यागना अर्थात् जो भोग भोगते आए हैं, उनके प्रति राग-आसक्ति (Attachment) को तोड़ना, घटाना- क्षय करना, इसी को निर्जरा (तप) कहा है।

निर्जरा का स्वरूप : अकाम-सकाम निर्जरा

पूर्व संचित कर्मों का क्षय होने रूप निर्जरा के दो प्रकार है:- १. अकाम निर्जरा-कर्मों के स्वतः उदय में आने से अथवा किसी निमित्त से उदय में आने से, उन कर्मों को भोगने से होने वाली निर्जरा, इसे सविपाक व अकाम निर्जरा कहा जाता है। २. सकाम निर्जरा- उदय में लाए बिना ही तप से कर्मों को क्षय करने से होने वाली कर्म निर्जरा, इसे अविपाक व सकाम निर्जरा कहते हैं। यहाँ इन दोनों प्रकार की निर्जराओं के स्परूप पर विचार करते हैं।

अकाम निर्जरा

कर्म का फल भोगना ही कर्म का उदय है। फलरहित कर्म निष्फल है। कर्म का फल उसके रस से मिलता है। अतः कर्मोदय में रस की ही प्रधानता है, स्थिति व प्रदेश के उदय की नहीं। रसोदय को ही अनुभाग उदय, अनुभाव उदय अथवा विपाक उदय कहा है। रस (सुख) लेना ही भोग भोगना है। जब भोग में प्रवृत्ति होती है तब प्रवृत्ति से शक्ति क्षीण होती है तथा भोगजन्य रस या सुख वास्तविक सुख नहीं होता है, सुखाभास होता है। अतः कर्म के भोग (उदय) से जन्य सुख प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है और क्षीण होते-होते अन्त में रसहीन हो जाता है। रस का क्षीण होना, रसहीन होना, कर्म के उदय का न रहना है, कर्म का क्षय व निर्जरा होना है। इसे उदाहरण से समझें- जैसे किसी व्यक्ति ने ताजमहल देखा, उस बहुत सुन्दर लगा व हर्ष-सुख हुआ। धीरे-धीरे वह रस क्षीण होता गया और कुछ समय के पश्चात् वह रस या सुख बिल्कुल न रहा और वह व्यक्ति वहाँ से चलने की तैयारी करने लगा। उसे देखने में रस आना, रस का भोग करना, कर्म का, राग का, रति का उदय था। वह रस अब नहीं रहा और, रस न रहना ही उदय न रहना है।

यह निय है कि जो उदय होता है वह अस्त होता है। उदय का व्यय होता है। कर्म के उदय का रस प्रतिक्षण क्षीण होता है, अत: कर्म की यह निर्जरा निसर्ग से प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण हो रही है। कर्म का जो भी उदय होता है, वह निर्जरित ही होता है। इस निर्जरा को निर्जरा तत्त्व में ग्रहण नहीं किया है। क्योंकि इस निर्जरा के साथ भोग लगा हुआ है। भोग से नवीन कर्मों का बंध होता है। अत: ऐसी निर्जरा होने को कोई अर्थ नहीं है। इसका कोई महत्त्व नहीं है। अर्थहीन और महत्त्वहीन होने से साधना में इसका स्थान नहीं है। जीव के द्वारा बिना कामना किए स्वत: ही होने से इस निर्जरा को 'अकाम निर्जरा' कहते हैं तथा यह निर्जरा कर्म का विपाक अर्थात् उदय होने पर होती है, अत: इसे 'सविपाक निर्जरा' भी कहते हैं। यह अकाम सविपाक निर्जरा छ: कायों में प्रत्येक जीव के प्रतिक्षण होती है।

सकाम निर्जरा

दूसरे प्रकार की निर्जरा है पूर्व संचित कर्मों को उदय में लाये बिना ही अर्थात् बिना फल भोगे की निर्जरित कर देना। इसके लिए कर्म-बंध की प्रक्रिया को समझाना होगा। भोग से ही कर्म बंधते हैं, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के माध्यम से अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के निमित्त से अनुकूलता में सुखी होना, प्रतिकूलता में दु:खी होना भोग है। जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के निमित्त से सुख भोगा जाता है, हर्ष होता है उसके प्रति हर्ष, रति व राग उत्पन्न होता है और उसके साथ रागात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार जिन निमित्तों से दु:ख भोगा जाता है क्षोभ होता है, उनके अरति व द्वेष उत्पन्न होता है उसके साथ द्वेषात्मक संबंध स्थापित हो जाता है। किसी के साथ संबंध स्थापित होना, सम्बन्ध जुड़ना ही बंध है। सम्बन्ध जुड़ना ही बंध है। सम्बन्ध स्थापित हुए बिना बंध नहीं होता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक प्राणी की इन्द्रियों के समक्ष अगणित विषय-वस्तुएं उपस्थित होती रहती है। वह कान से अगणित शब्द सुनता है, नयन से अगणित वस्तुएँ देखता है। उन सुनाई देने वाले शब्दों और दिखाई देने वाली वस्तुओं में से जिनक प्रति आकर्षण होता है, राग होता है व हर्ष होता है, उनसे वह प्रभावित होता है। इस प्रभा का उके अन्त:करण, कार्मण(कारण) शरीर पर अंकित हो जाना, कर्म बंध होना है। परन्तु जिन शब्दों व वस्तुओ के प्रति कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं करता है, उदासीन रहता है, राग-द्वेष नहीं करता है, रति-अरति, हर्ष-शोक नहीं करता है, उससे सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है, उनका प्रभाव नहीं पड़ता है, उनसे कर्म बंध नहीं होता है। अत: कर्म-बंध का कारण राग-द्वेष अर्थात् रति-

अरति है। इसके विपरीत जहाँ रति-अरति नहीं है, विरति जहाँ रति-अरति नहीं है, विरति है वहाँ कर्म-बंध नहीं है। विरति वहीं होती है जहाँ उदयमान कर्मों में, निमित्तों में रति-अरति, राग-द्वेष, हर्ष-क्षोभ-शोक नहीं है, समभाव है। विषयों के प्रति रति-रुचि, हर्ष राग का जनक है और अरति, अरुचि, शोक, क्षोभ, खिन्नता द्वेष के जनक हैं। राग-द्वेष न होना ही समभाव है। विरति अर्थात् संयम, संवर, समभाव से नवीन कर्मों का बंध रुकता है और पूर्व में संचित पाप-कर्मों के अनुराग की अपकर्षण रूप निर्जरा होती है।

अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तों के संयोग (संग) में समभाव रखना विरति, संयम व संवर है और प्रतिकूलता व दुःख का स्वागत करना, उनसे प्रभावित न होना तप है। जैसे भूख लगने पर भोजन करने में स्वाद के प्रति राग-द्वेष, रति-अरति न करना, समभाव रखना संवर है, संयम है और भोजन का त्याग करना, उपवास करना, भूख के दुःख से प्रभावित न होना, शरीर से असंग होना तप है। संवर में समभाव की प्रधानता है और तप में असंगना की प्रधानता है। असंगता से तादात्म्य टूटता है, सम्बन्ध विच्छेद होता है। संबंध विच्छेद होना ही कर्मों का क्षय होना है, कर्म निर्जरा होना है, स्वाधीन होना है, मुक्त होना है, संयम व संवर से नया सम्बन्ध नहीं जुड़ता है, और तप से संबंध टूटना कर्म-क्षय (निर्जरा होना है। तप फल भोगे ही होती है। अतः इसे अविपाक निर्जरा कहा जाता है। यह निर्जरा प्राणी के पुरुषार्थ से, प्रयत्न से, साधना से होती है, अतः इसे सकाम निर्जरा भी कहा जाता है।

कर्म-निर्जरा की प्रक्रिया : तप

जिसके द्वारा पूर्व संचित कर्म क्षीण हों, उसे निर्जरा कहते हैं। निर्जरा के दो रूप हैः - (१) सविपाक निर्जरा अर्थात् प्राकृतिक रूप से होने वाली निर्जरा और (२) अविपाक निर्जरा अर्थात् साधनात्मक रूप निर्जरा।

सविपाक निर्जरा - पूर्वबद्ध एवं संचित कर्मों की परिपाक अवस्था प्राप्त होने पर, स्वतः उदय में आना और फलभोग द्वारा निर्जरित व विनष्ट होना सविपाक निर्जरा है। यह कर्मक्षय की प्राकृतिक प्रक्रिया है। सविपाक निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के कर्मोदय के रूप में निसर्गतः प्रतिक्षण हो रही है। यदि प्राणी कर्मफल के भोग में रस लेता है अर्थात् राग-द्वेष करता है तो वह नवीन कर्मबंध करता है। साधारणतः सविपाक निर्जरा में कर्म-क्षय के साथ कर्मबंध जुड़ा है। इस प्रकार

सविपाक निर्जरा में कर्म-क्षय और कर्म-बंध का चक्र निरन्तर चलता रहता है और प्राणी कभी भी बंधन मुक्त नहीं होता है। जिस प्रकार गेहूँ का बीज पौधा बनकर फल देने के पश्चात् स्वयं नष्ट हो जाता है, परन्तु अपने जैसे अनेक नये बीज पैदा कर जाता है। इस प्रकार वह बीज संतति रूप में सतत विद्यमान रहता है। इसी प्रकार सविपाक निर्जरा रूप प्राकृतिक प्रक्रिया में कर्मो का 'आत्यन्तिक क्षय' अनन्तभव व अनन्तकाल में भी संभव नहीं है। कारण कि यदि भोगने से ही कर्मों का सर्वथा नाश संभव होता तो अनन्त जीव, अनन्त काल से अनंत भवों में कर्मो का फल भोगते आ रहे हैं, उनमें से किसी एक जीव के तो कर्मों का नाश हुआ होता। अतः निर्जरा की प्राकृतिक प्रक्रिया सविपाक निर्जरा मुक्ति दिलाने में समर्थ एवं सहायक नहीं है।

अविपाक निर्जरा :- कर्मक्षय की वह प्रक्रिया, जिससे प्राणी पूर्वसंचित कर्मों को बिना फल भोगे, परिपाक काल से पूर्व ही विनष्ट कर देता है, अविपाक निर्जरा कही गई है। अविपाक निर्जरा ही साधना का अंग है। अविपाक निर्जरा को 'तप' भी कहा जाता है। '**तपसा निर्जरा च**' (तत्वार्थ सूत्र, अध्ययन ९ सूत्र ३) सूत्र के अनुसार तप में संवर तो रहता ही है और तप से निर्जरा भी होती है अर्थात् तप संवर से भी ऊपर की साधना है।

जिस प्रकार ताप से बीज भस्म हो जाता है या भस्म नहीं होता तब भी ताप से उसकी सरसता नष्ट हो जाती है जिससे वह निष्प्राण हो जाता है और फल देने में असमर्थ हो जाता है; इसी प्रकार तप से कर्म क्षीण या निष्प्राण हो जाते हैं। उनमें फल देने का सामर्थ्य नहीं रहता है। जिस प्रकार बीज मे फल देने की शक्ति उसकी सरसता में है, सरसता का अंत होते ही वह निष्प्राण हो जाता है, इसी प्रकार कर्मों में फल देने की शक्ति उनकी 'सरसता' (सुखासक्ति) अर्थात् कषाय में है। कषाय के क्षीण होते ही 'रस बंध' नष्ट हो जाता है। 'रस बंध' के नष्ट होते ही 'स्थिति बंध' नष्ट हो जाता है। इन दोनों बंधों के नाश होते ही 'प्रकृति' व 'प्रदेश' बंध का नाश हो जाता है कारण कि प्रकृति बंध को सजीव रखने वाला रसबंध है एवं प्रदेश बंध को टिकाने वाला स्थिति बंध है। इन चारों प्रकार के कर्म बंधों के क्षय होते ही कर्म खिर

जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं। फलितार्थ यह है कि बिना फल भोगे ही कर्मो के क्षय का उपाय है - कषाय का क्षय। कषायक्षय का उपाय ही निर्जरा या तप रूप साधना है। जिस प्रकार ताप से एक-एक बीज भस्म न होकर अगणित बीज एक साथ भस्म हो जाते हैं, इसी प्रकार तप से एक-एक कर्म भस्म या क्षय न होकर असंख्य कर्मों का एक साथ क्षय होता है।

कर्म-क्षय का उपाय कषाय-क्षय है और कषाय-क्षय का उपाय है कषाय को निर्जीव बनाना। कषाय सजीव रहता है राग के रस से अर्थात् रति या सुख लोलुपता से। सुख लोलुपता का कारण है सुख भोग की मधुरता। जैसे सर्प के विष के प्रभाव से मानव मोह ग्रस्त हो जाता है और सुध-बुध खोकर जड़ता को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार सुख की मधुरता से ग्रस्त व्यक्ति मोह, प्रमाद व जड़ता को प्राप्त हो जाता है जो मृत्यु तुल्य है। इतना ही नहीं, विष के सेवन से तो एक बार प्राणान्त होता है, परन्तु विषय-कषाय के सुख के भोगी को अनेक बार जन्म-मरण की असह्य वेदना सहनी पड़ती है।

सुख-लोलुपता ही समस्त दोषों, कर्म-बन्धनों व असाधनों की जननी है। सुख-लोलुपता, सुख का प्रलोभन, सुख की दासता, सुख भोग की रुचि, सुख की आशा, आसक्ति आदि सुख-भोग रूप रति या अविरति के ही विविध रूप हैं। रति न हो तो दोषों की उत्पत्ति ही न हो। दोष ही दुःख के जनक हैं। स्वभाव से ही दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है। दुःख का अन्त करने का प्रयत्न सभी करते हैं, परन्तु प्राणी फल रूप दुःख का ही अन्त करना चाहता है, दुःख के मूल 'दोषों' या रति या सुख लोलुपता का अंत नहीं करता। इससे दुःख का, बन्धन का आत्यन्तिक क्षय नहीं हो पाता है।

पराधीनताजनित सुख का भोग करते एवं सुख भोग की रुचि रहते दुःखों का अन्त करने का प्रयत्न निष्फल प्रयत्न है। जिस प्रकार शरीर में उत्पन्न रोग का लक्षण, रोग का परिणाम है, कारण नहीं। रोग के लक्षण रूप में प्रकट होने पर रोगी को दुःख व पीड़ा होती है जिसे दूर करने के लिए रोगी दवा लेता है, जिससे शरीर पर प्रकट लक्षण कुछ काल के लिए लुप्त हो जाते हैं, परन्तु शरीर के भीतर रोग या विकार तब तक ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं जब तक उनकी उत्पत्ति के कारणों का निवारण न हो। रोग की उत्पत्ति के कारण को दूर न कर लक्षण को दूर करना, रोग को दबाना मात्र है। रोग के लक्षण को दबाकर रोग को मिटा समझना

भूल है, क्योंकि रोग का वास्तविक अन्त तो विकारोत्पत्ति के कारण के अन्त से ही सम्भव है। यही सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन पर भी चरितार्थ होता है। 'दु:ख' दोषों या विकारों के परिणामरूप लक्षण है। दु:ख को वस्तु आदि सुख की सामग्री की पूर्ति कर दूर करना उसे दबाना मात्र है। इससे दु:ख का अन्त नहीं होता है। दु:ख का अन्त तो तब ही संभव है जब दु:ख के कारणभूत मूल दोषों को दूर किया जाय। दोषों को विद्यमान रखते हुए दु:ख का अन्त करने का प्रयत्न करना निष्फल प्रयास है, भूल है। इसी भूल के कारण प्राणी अब तक दु:ख से मुक्त नहीं हो सका है। फल का विनाश वास्तविक विनाश नहीं है, मूल का विनाश ही वास्तविक विनाश है। दु:ख फल है और दोषजनित सुख के भोग की रुचि या लोलुपता इसका मूल है। सुखभोग की रुचि एवं सुख-लोलुपता के अन्त में ही दु:ख के मूल का अन्त निहित है।

सुखभोग की लोलुपता के नाश में ही दु:ख का नाश निहित है। सुख लोलुपता के अन्त का उपाय है- सुख में दु:ख का दर्शन करना। सुख में दु:ख के दर्शन का उपाय है- दु:ख को सजीव बनाना। सजीव दु:ख वह है जो दु:ख इतना असह्य हो जाय कि दु:खी व्यक्ति विद्यमान दु:ख के निवारण से सन्तुष्ट न होकर, दु:ख के मूल कारण 'सुखलोलुपता' के निवारण के लिए उद्यत हो जाय। निर्जीव दु:ख वह है जो सुख की आशा से दब जाय और दु:ख रूप अनुभव ही नहीं हो। इससे दु:ख के मौलिक कारण के निवारण के प्रयत्न की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होता।

दु:ख की अनुभूति ताप है। ताप को सजीव बनााने की क्रिया तप है। तप का कार्य है दोषजनित सुखभोग की रुचि का अन्त करना। सुखभोग का आश्रय है तन और मन। तन-मन के तादात्म्य या तन-मन में जीवन बुद्धि से ही सुख-भोग की रुचि उत्पन्न होती है। अत: सुख-भोग की रुचि का अन्त करने के लिए तन-मन से तादात्म्य भाव हटाना आवश्यक है। शरीर से तादात्म्य भाव हटाने की क्रिया बाह्यतप है और मन से तादात्म्य भाव हटाने की क्रिया आभ्यन्तर तप है।

तप के भेद

तप दो प्रकार का है- बाह्य तप और आभ्यंतर तप। जिस तप से मुख्यत: देह से सम्बधित (देहात्म भाव आदि) विकार दूर हों वह बाह्य तप है और जिस तप से मन या अन्त:करण से सम्बंधित कामनाएँ, वासनएँ आदि विकार दूर हों, वह आभ्यंतर तप है। बाह्य तप के छह भेद है और आभ्यंन्तर तप के भी छह भेद हैं।

बाह्य तप

अणसणमूणोरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।

काया किलेसो, संलीणया य बज्झो तवो होइ।।

बाह्य तप के छह भेद हैं-अनशन ऊनोदरी, वृत्ति-प्रत्याखयान (भिक्षाचर्या), रस-परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता।

अनशन- आहार न करना अनशन कहा जाता है। आहार त्याग से यहाँ अभिप्राय रसना इन्द्रियाँ का आहार अन्न, जल आदि भोजन का त्याग तो है ही, साथ ही शेष इन्द्रियाँ कान, आँख, नाक, स्पर्शन के आहार या भोग-साम्रगी श्रवण, दर्शन सूंधना आदि के भोगों का त्याग भी है अर्थात् तप के संदर्भ में 'आहार' का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा भोग्य सामग्री का भोग करना और 'आहार' त्याग का अर्थ है इन भोगों का त्याग करना।

ऊनेदरी- जीवन पर्यन्त अनशन नहीं किया जा सकता। जीवन में आहार की आवश्यकता होती ही है। अतः जब आहार करना ही पड़े तो आहार या भोग्य साम्रगी का भोग जितना कम कर सकें उतना कम करना ऊनोदरी तप है।

वृत्ति-प्रत्याख्यान- जो भोजन करना पड़े उसमें भी वृत्तियों का संकोच करना चाहिए अर्थात् विविध प्रकार के रस प्रद आहार को त्यागना वृत्ति प्रत्याख्यान है। इसका दूसरा नाम भिक्षाचरी है, जिसका अर्थ है- अपनी रस की वृत्तियों की पूर्ति करने हेतु आहार नहीं लेना, भिक्षा में सहज ही जो आहार मिल जाए उसे ग्रहण करना। भिक्षावृति वृत्तियों के संकोच का सुन्दर, सहज, सुगम रूप है।

रस-परित्याग- वृत्तियों को सीमित कर जो, भोजन ले रहे हैं, उस भोजन में भी स्वाद या रस नहीं लेना। समभाव से उदासीन भाव से उसे ग्रहण करना अर्थात् इन्द्रिय विषयों को ग्रहण करते हुए उनमें राग-द्वेष न करना रस-परित्याग है।

काय-क्लेश- काया पर आने वाले गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि कष्टों से अपने को न बचाना, उन्हें स्वेच्छा से समभाव पूर्वक सहन करना काय-क्लेश तप है।

प्रतिसंलीनता-इन्द्रिय और मन के विषय भोगों गई बहिर्मुखीवृत्ति को मोड़कर पुनः अपने आत्म-स्वरूप में संलीन करना प्रतिसंलीनता है। दूसरे शब्दों में कहें तो बहिर्मुखीवृत्ति को विमुख का अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। बाह्य तप की परिसीमा की सूचक है और आभ्यन्तर तप का प्रवेश द्वार है। मन, वचन और काया

की प्रवृत्तियाँ साधक को बहिर्मुखी बनाती हैं, स्व में स्थित नहीं होने देतीं, क्योंकि प्रवृत्ति में रत या तल्लीन रहते साधक अंतर्मुखी नहीं हो सकता और अंतर्मुखी हुए बिना स्वभाव में स्थित नहीं हो सकता। अतः स्वानुभूति करने के लिए यह आवश्यक है कि मन, वचन और काया की वृत्तियाँ या प्रवृत्तियाँ जो बाह्य विषयों में तल्लीन व संलीन हो रही हैं, उन्हें बाह्य-विषयों से विमुख कर स्व में लीन किया जाय। इसे ही प्रतिसंलीनता या प्रत्याहार कहते हैं।

प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं :

1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता 2. कषाय प्रतिसंलीनता 3. योग प्रतिसंलीनता और 4. विविक्तशयनासन प्रतिसंलीनता। इन्द्रियों को विषयों में तल्लीन होने से रोकना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। कषायजन्य राग-द्वेष के प्रवाह का निरोध करना कषाय प्रतिसंलीनता है। मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्तियों का निरोध करना, इनकी गुप्ति करना योग प्रतिसंलीनता है। शयन (सुषुप्ति-गहन निद्रा) में सब क्रियाओं से रहित हो जाते हैं, उसी प्रकार जागृत में सुषुप्तिवत् होना विविक्त शयनासन है। यह जागृत-सुषुप्ति अर्थात् पूर्ण शान्त अवस्था प्रतिसंलीनता का चरम रूप है। यह आभ्यन्तर तप-साधना की भूमि है। इसके अभाव में अतंर्यात्रा अर्थात् आभ्यन्तर तप सम्भव नहीं है। आशय यह है कि 'प्रतिसंलीनता' इन्द्रिय, कषाय व योग का संवर व शील है। शील पालन से ही समाधि सम्भव है। शयनासन में पूर्ण शिथिलीकरण समाहित है। विविक्त शयनासन पूर्ण विश्राम, पूर्ण संवर है।

मन्तव्य यह है कि प्रथम तो साधक यथासम्भव प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध करे, फिर भी शारीरिक आवश्यकता व सेवा के लिए जो प्रवृत्ति करनी पड़े, पराश्रय लेना पड़े उसे यथासम्भव कम से कम करे, नवीन प्रवृत्ति का आह्वान न करे। प्रवृत्ति करने में अपना संकल्प न रखे अर्थात् कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव न आने पावे, करना होने में बदल जाये। यही बाह्य तप का कार्य है। जिस क्रिया में कर्तृत्वभाव नहीं है, संकल्प नहीं है, रस नहीं लिया जाता है, जो वासना से रहित है, उस प्रवृत्ति या क्रिया का संस्कार अंकित नहीं होता है, उससे नया कर्म नहीं बंधता है। उसका संवरण-संवर हो जाता है। प्रतिसंलीनता संवर की पूर्णता है।

उपर्युक्त छहों बाह्य तपों का कार्य विषय-भोगों की प्रवृत्तियों या अशुभ योगों के असंयम का त्याग करना है। अशुभ योगों के असंयम के त्याग से शुभ योग व संयम का पालन स्वतः होता है जो साधक के लिए आवश्यक है। कहा भी है-

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।

असंजमे णियतिं च, संजमे व पवत्तणं।। उत्तरा. ३१.२

साधक एक ओर से निवृत्ति करे और एक ओर प्रवृत्ति करे अर्थात् असंयम से निवृत्ति करे और संयम में प्रवृत्ति करे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनशन से लेकर प्रतिसंलीनता तक बाह्य तप क्रमशः भोगों को घटाते हुए पूर्ण संयमी बनने की साधना है। संयमी साधक में ही अन्तर्मुखी होने की पात्रता आती है। क्योंकि भोगों के प्रवाह में बहता हुआ चित्त शान्त नहीं होता है, समत्व भाव नहीं आता है। समत्व भाव के बिना आभ्यंतर तप संभव नहीं है। आभ्यंतर तप के लिए बाह्य तप आवश्यक है।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) ये छह आभ्यंतर तप हैं।

प्रायश्चित्त – प्रतिसंलीनता से चित्त जब शान्त हो जाता है तो उसमें अंतर्यात्रा करने की सामर्थ्य व क्षमता आ जाती है। अंतर्यात्रा करते हुए न चाहते हुए भी स्वतः व्यर्थ चिन्तन का प्रवाह चलने लगता है, विकल्प उठने लगते हैं। उस व्यर्थ चिन्तन की धारा को द्रष्टा होकर समतापूर्वक देखने से अर्थात् उसका समर्थन तथा विरोध न कर उपेक्षा करने से, असंग होने से, उसका विशोधन होता है, विशोधन होने से आकुलता-व्याकुलता रूप शल्य मिट जाता है, विशल्य करण हो जाता है अर्थात् पाप कर्मों का घात व निवारण होता है। यह कार्य आगे व्युत्सर्ग तप तक चलता है अर्थात् पाप कर्मों के विकारों का विशोधन करने के लिए आत्मावलोकन कर अपने दोषों को दूर करना प्रायश्चित्त है।

विनय-अहंभाव (अहंकार) रहित होना विनय है। चेतन जब अपने से भिन्न अन्य पदार्थ से तद्रूप होता है तब ही अहं या मैं का सर्जन होता है। जैसे चेतन जब धन, विद्या, शरीर, पद आदि पदार्थों से तद्रूप होता है तब मैं धनी हूँ , मैं विद्वान हूँ, मैं जवान हूँ , वृद्ध हूँ, असुन्दर हूँ , मैं प्रतिष्ठित हूँ, आदि 'मैं' की उत्पत्ति होती है। यदि इस मैं से आरोपित पदार्थ धन, विद्या, शरीर, पद आदि पदार्थों से अपने को पृथक् कर ले तो 'मैं' का अस्तित्व मिटकर केवल 'है' सत्, ध्रौव्य रह जाता है। सत्, अविनाशी स्व का स्वरूप है, यही परम तत्त्व परमात्मा है। आशय यह है कि 'मैं' का

स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, 'मैं' का केवल भास होता है। अंतर्यात्रा करते हुए द्रष्टा से दृश्य पृथक् है, यह अनुभव प्रत्यक्ष होता है, जिससे 'मैं' का भासमान रूप गलने व विसर्जन होने लगता है। यह अहं रहित निज स्वरूप की ओर अग्रसर होना ही विनय है। प्रतिसंलीनता और प्रायश्चित्त 'अहंभाव' मिटाने के सहायक तप हैं।

वैयावृत्त्य- विनय तप से जब 'मैं' शेष नहीं रहता है तब 'है' या चेतन तत्त्व ही रह जाता है। यह चेतनत्व सब जीवों में समान है। अतः उसे सब जीव आत्मवत्, निजस्वरूप लगते हैं फिर कोई पराया नहीं रहता है। अतः उसमें समस्त जीवों के प्रति करुणा, आत्मीयता, मैत्री व प्रमोद भाव जागृत होता है। मैत्री व प्रमोद भाव सर्व-हितकारी प्रवृत्ति करने के लिए प्रेरित करता है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही सेवा व वैयावृत्य कहा है। सेवा व वैयावृत्त्य में कर्तृत्व भाव तथा भोक्तृत्व भाव (फल की इच्छा) नहीं रहने से पाप कर्मों का बंध नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि वैयावृत्त्य से उदयमान राग गलता है, जिससे विशुद्धिकरण, विशल्यीकरण होता है एवं पाप कर्मों का क्षय होता है।

विनय तप से 'मैं' का विसर्जन हो जाने से विषयेच्छा व मेरापन-ममत्व मिट जाता है, जिससे स्वार्थपरता सर्वहितकारी प्रवृत्ति में परिणत हो जाती है। सर्व हितकारी प्रवृत्ति दोष रहित होने से पाप कर्मों का बंध नहीं होता है। सेवाभाव किसी कर्म के व कषाय के उदय से नहीं होता है, अतः सेवाभाव जीव का स्वभाव है, विभाव नहीं है। विभाव मिटाना व स्वभाव प्रकट करना ही तप का कार्य है। अतः सेवा या वैयावृत्त्य तप है। तप से कर्मों (पाप प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों) की निर्जरा होती है, पाप-कर्म-बंध नहीं होता है।

स्वाध्याय- स्वाध्याय का अर्थ है स्व का अध्ययन करना। स्व का अध्ययन से अभिप्रेत है अपने स्वभाव का अध्ययन करना। यह नियम है कि जिसका अध्ययन करना है उसमें विचरण करना आवश्यक है। अतः स्वभाव के अध्ययन के लिए स्वभाव में विचरण करना होता है। स्वभाव में विचरण विभाव में विचरण के निरोध करने से ही सम्भव है। विभाव है असत्- विनाशी, परभाव। असत् चर्चा, असत् (पर) चिन्तन, असत् (पर) चाह का त्याग करने पर ही स्वभाव का, स्व का अध्ययन करना सम्भव है। अतः अंतर्यात्रा करते समय सर्व सावद्य योगों, विभावों को त्याज्य समझकर इनसे तो असंग रहना ही है, साथ ही अन्तर्यात्रा में प्रकट होने वाली दिव्य ध्वनियों, दिव्य ज्योतियों आदि परिवर्तनशील विभूतियों में रमण न

करके इनसे भी असंग रहना है। कारण कि जहाँ 'पर' का, विनाशी का, असत् का अध्ययन है वहाँ स्व का अध्ययन सम्भव नहीं है। स्व का अध्ययन अपने स्वरूप में विचरण-रमण से ही सम्भव है। स्वभाव का ज्ञान ही श्रुतज्ञान है और स्वभाव का अध्ययन ही श्रुतज्ञान का अध्ययन है, स्वाध्याय है।

ध्यान

स्वाध्याय तप द्वारा आत्म-निरीक्षण से यह बोध होता है कि जब विषय, कषाय, राग, द्वेष आदि दोषों व दुष्प्रवृत्तियों (पापों) का सेवन किया जाता है तब चित्त में संकल्प-विकल्प, कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव पैदा होते हैं, जिससे स्वाभाविक शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता, निर्भयता, निश्चिंतता आदि आत्म-गुणों का अपहरण हो जाता है और दोषमय प्रवृत्ति के त्याग से सहज निवृत्ति होती है अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति रुक जाती है जिससे स्वतः ध्यान हो जाता है जैसाकि आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है

मा चिट्ठह, मा जंपह, मा चिंतह, किं वि जेण होई थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥

– द्रव्य संग्रह-59

हे ध्याता! तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर, न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर, इस प्रकार त्रियोग का निरोध करने से तू स्थिर हो जायेगा। तेरी आत्मा आत्मरत हो जायेगी। यही परम ध्यान है।

ध्यान पूर्णतः अन्तर्मुखी साधना है। ध्यना की प्रक्रिया के अनुसार अन्तर्मुखी हो, अपने अन्तर में देह के भीतर जहाँ चेतना व्याप्त है, वहाँ जो संवेदन रूप अनुभव हो रहा है, उसे तटस्थ भाव से देखा जाता है। वहाँ अनुकूल वेदना के प्रति राग, प्रतिकूल वेदना के प्रति द्वेष नहीं करना है। इस प्रकार राग-द्वेष रहित समभाव में रहते हुए केवल दर्शन, केवल ज्ञान करना है। अपनी ओर से कुछ नहीं करना है, न उसे बुरा मानना है, न अच्छा मानना है, न उसका समर्थन करना है और न विरोध करना है, प्रत्युत तटस्थ रहना है। इससे कर्म त्वरित गति से उदय में आते हैं। जो कर्म सघन व जड़ता युक्त होते हैं उन कर्मों की सघनता व जड़ता दूर करने का उपाय हैं, उन्हें वेधन कर धुनना। इससे सघन कर्म खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाते हैं, फिर तितर-बितर होकर निर्जरित हो जाते हैं, इससे सघनता व जड़ता मिटकर चिन्मयता आ जाती है।

कायोत्सर्ग

ध्यान के प्रभाव से सम्पूर्ण काया में जब चिन्मयता का अनुभव होता है, कहीं पर भी जड़ता का लेशमात्र भी दोष नहीं रहता है, साथ ही सूक्ष्म शरीर एवं कारण (कार्मण) शरीर में भी असंगता हो जाती है, तादात्म्य टूट जाता है तब ध्याता को अपनी काया से स्पष्ट भिन्नता का अनुभव होता है। तब वह इन सब शरीरों (कायों) से प्रभावित नहीं होता है, यही देहातीत अवस्था कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग से सूक्ष्मतम शरीर (कारण या कार्मण शरीर) में स्थित कर्म नीरस, शुष्क हो निर्जीव हो जाते हैं और तब वे जर्जरित हो जाते हैं। जर्जरित होने से झड़ जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं, खिर जाते हैं।

आभ्यन्तर तप से कषाय-क्षय

तात्पर्य यह है कि आभ्यंतर-तप प्रायश्चित्त से क्रोध कषाय का, विनय-तप से मानव कषाय का, वैयावृत्त्य तप से माया कषाय का और स्वाध्याय, ध्यान एवं व्युत्सर्ग तप से लोभ कषाय का क्षय होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी एक तप से किसी एक विशेष कषाय का ही क्षय होता है। यह नियम है कि प्रत्येक दोष के साथ अन्य समस्त दोष भी न्यूनाधिक जुड़े रहते हैं। इनमें से उस समय उदयमान क्रियाशील दोष मुख्य होता है और अन्य दोष गौण होते हैं। यही कारण है कि जब किसी भी दोष से, कषाय में कमी होती है तो अन्य दोषों व पाप कर्मों के अपकर्षण होता है और जब किसी दोष में कषाय में वृद्धि होती है तो अन्य दोषों व पाप कर्मों में उत्कर्षण होता है।

कर्म बन्ध चार प्रकार का है 1. प्रकृति बन्ध 2. स्थिति बन्ध 3. अनुभाग बन्ध और 4. प्रदेश बन्ध। इनके बन्ध के कारण योग और कषाय हैं, जैसा कि कहा है-

'जोगा पयडिपएसं ठिइअणुभागकसायाउ।' पंचम कर्मग्रन्थ गाथा 16

'जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणई' गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा 247, द्रव्य संग्रह 32, धवला पुस्तक 22 पृष्ठ 287

प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग से अर्थात् मन, वचन व काया की प्रवृत्ति से होता है और स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय राग, द्वेष, मोह से होता है। यह नियम है कि प्रवृत्ति के अनुरूप ही प्रकृति (आदत) का निर्माण होता है। जैसे शराब-गुटखा खाने से नशे की आदत पड़ती है और उसमें रस लेने से इसका प्रभाव

अंकित होता है। जिस प्रवृत्ति में जितना अधिक राग-द्वेष होता है, वह प्रकृति उतने ही अधिक काल तक टिकने वाली होती है, अर्थात् अधिक स्थितिवाली होती है और अधिक रस वाली होती है, अनुभाग बढ़ता है। रस या अनुभाग ही कर्म का फल है, उदय है, विपाक है।

यह पहले कह आए हैं कि पाप कर्म ही प्राणी के लिए अनिष्टकर हानि-कारक है। पाप कर्म की प्रकृति अशुभ प्रवृत्ति से बन्धती है और प्रवृत्ति में अशुभत्व राग-द्वेष से आताहै। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति इन्द्रियों के विषयों में होती है। विषय के प्रति विकार होता है तब पाप कर्म बन्धता है। राग-द्वेष (आसक्ति) के अभाव में विषयों से कर्म नहीं बन्धता है जैसाकि हमें आँख खोलते ही सैंकड़ों वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु इनके दृष्टिगोचर होने से कर्म नहीं बन्धता है। इन वस्तुओं में से हम जिस वस्तु के प्रति राग या द्वेष करते हैं उसी का प्रभाव हमारी आत्मा पर अंकित होता है, टिकता है, व फल देता है। प्रभाव होना प्रकृति बन्ध है, अंकित होना प्रदेश बन्ध है, टिकना स्थिति बन्ध है, और फल देना अनुभाग बन्ध है। पाप प्रवृत्तियों के ये चारों प्रकार के बन्ध राग-द्वेष व कषाय से ही होते हैं। कहा भी है-

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। स बंधः।

– तत्त्वार्थ सूत्र 8.2-3

कषायसहित जीव ही कर्मों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है। अतः पाप कर्मों का बन्ध वहाँ ही है, जहाँ कषाय है। कषाय के क्रियान्वित होने पर ही कर्म बन्धता है। कषाय मन, वचन, इन्द्रियों के माध्यम से ही क्रियान्वित होता है। अतः पाप-क्रियाओं से, प्रवृत्ति से ही कर्म बन्धता है। इन्द्रियाँ जब अपने विषय के प्रति राग-द्वेष करती हैं, तब ही वह विषय-सेवन विकार (दोष, पाप) का रूप लेता है, पाँच इन्द्रियों के तेबीस विषय हैं और दो सौ चालीस विकार हैं। ये सब विकार विषयों में राग-द्वेष करने से पैदा होते हैं, इन विकारों के उत्पन्न होने को ही विषयभोग कहा जाता है। अतः विषय भोग और कषाय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विषय भोग और कषाय ही कर्म बन्ध के हेतु हैं। भोगों के त्यागते ही और कषाय का क्षय होते ही समस्त घाती कर्मों, आत्मा के गुणों के घातक पाप कर्मों का क्षय हो जाता है। जिससे आत्मा के समस्त गुण प्रकट हो जाते हैं।

प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि बाह्य तप से अशुभ योगों का त्याग होता है जिससे अशुभ पाप कर्मों की प्रकृतियों और प्रदेश बन्ध का निरोध होता है।

नवीन पाप कर्मों का बन्ध रुकता है तथा आभ्यन्तर तप से कषायों का क्षय होता है जिससे सत्ता में स्थित पूर्व संचित पाप कर्मों के स्थिति बन्ध व अनुभाग बन्ध का घात-क्षय होता है। स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का क्षय होना ही निर्जरा होना है। इस प्रकार तप से पाप कर्मों के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग इन चारों प्रकार के बन्धों की निर्जरा होती है और उनका क्षय होता है। अघाती कर्मों की निर्जरा साधक के लिए आवश्यक नहीं है। कषाय के क्षय से अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों का पुण्य प्रकृतियों में संक्रमण होने से उन पाप प्रकृतियों की सत्ता का क्षय होता है, निर्जरा होती है। वीतराग के अघाती कर्मों का क्षय आयुष्य पूरा होने पर स्वतः हो जाता है। उस समय जैसे यथाख्यात चारित्र छूटता है वैसे ही अघाती कर्म भी छूट जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त से दोषता, विनय से अहंता, वैयावृत्त्य से ममता व जड़ता, स्वाध्याय से पराधीनता, ध्यान से चंचलता और व्युत्सर्ग से राग-तादात्म्य का नाश होकर क्रमशः निर्दोषता, निरहंकारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्विकल्पता और वीत-रागता की उपलब्धि होती है जिससे आसक्ति मिटकर, कषाय क्षीण होकर कर्म खिर जाते हैं।

मानसिक दुःखों के कारणों की खोज से ज्ञात होता है कि इन दुःखों का कारण है पाप। पाप उत्पत्ति का कारण है कर्म। कर्म का कारण है कामनाएँ। कामनाएँ उत्पत्ति का कारण है कामना पूर्ति जनित सुख लोलुपता। अतः मानसिक दुःखों का मूल कारण है कामना पूर्ति जनित सुख लोलुपता, अर्थात् कामना पूर्ति जनित सुखों के प्रति रति। कामना पूर्ति जनित सुख लोलुपता से चित्त के साथ आत्मा का तादात्म्य भाव होता है जिससे प्राणी का चित्त अशुद्ध हो जाता है।

तप साधना से साधक सुख कामना पूर्ति में नहीं, निष्काम होने में है, इस तथ्य का साक्षात्कार करता है। तप से साधक में सुखों के प्रति विरति उत्पन्न होती है। विरति से सजगता आती है। सजगता से कामना या कषाय की विद्यमानता असह्य हो जाती है, जिससे सुख लोलुपता रूप रस सूखने लगता है। रस सूखने से कषाय निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कषाय के क्षय होने से कर्म निर्जरित हो जाते हैं।

जिस प्रकार ताप से एक-एक बीज भस्म या निर्जीव न होकर अगणित बीज एक साथ निर्जीव हो जाते हैं व फल देने की शक्ति खो देते हैं, इसी प्रकार तप से असंख्य कर्म एक साथ रसहीन व निर्जीव हो जाते हैं, तथा अपनी फल देने की

शक्ति खो देते हैं। अथवा जिस प्रकार ताप के प्रभाव व जल (रस) के अभाव से पौधे पर लगे हुए प्रचुर पुष्प निर्जीव होकर फल दिए बिना ही खिर जाते हैं, इसी प्रकार तप के प्रभाव व कषाय-रस के अभाव से असंख्य कर्म निर्जीव होकर फल दिये बिना ही निर्जरित हो जाते हैं, खिर जाते हैं।

तप की साधना स्वाधीन साधना है, क्योंकि इसमें आत्म विकारों को दूर करने के लिए 'पर' के आश्रय व सहायता की अपेक्षा नहीं है। पर की सहायता अपेक्षित न होने से इस साधना का किसी परिस्थिति विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह वर्तमान परिस्थिति में ही की जा सकती है। जो इस साधना की अनुकूलता के लिए परिस्थिति विशेष का आह्वान करते हैं या प्रतिक्षा करते हैं वे साधना के वास्तविक स्व-रूप से अपरिचित हैं। वस्तुतः साधना वर्तमान की ही वस्तु है तथा इसे मानव मात्र करने में समर्थ व स्वाधीन है। जो साधना वर्तमान जीवन में ही की जा सकती है उसे भविष्य पर टालना घोर प्रमाद है तथा मानव जीवन की सबसे बड़ी असावधानी व भारी भूल है। इस भूल का त्याग कर साधक साधनारत होकर साध्य को प्राप्त कर सकता है।

बाह्यतप और आभ्यन्तर तप का कार्य

बाह्यतप की पूर्णता प्रतिसंलीनता में है और आभ्यन्तर तप की पूर्णता कायोत्सर्ग में है।

कर्मों का उन्मूलन एवं आत्यंतिक क्षय आभ्यन्तर तप से ही होता है। कारण कि बाह्य तप से तो चेतना की केवल बाहर की ओर हो रही गति का निरोध होता है, अन्तर की ओर गति नहीं होती और विषय भोगों के प्रति विद्यमान आन्तरिक सुखासक्ति नहीं मिटती। आभ्यन्तर तप से स्व की ओर गति होती है, जिससे अलौकिक रसानुभूति का आनन्द अनुभव होता है एवं भोगों के सुख में आकुलता का दुःख अनुभव होता है, जिससे भोगों की सुखासक्ति स्वतः क्षीण होती जाती है, स्व की ओर गति होती जाती है, जिसकी पूर्णता होने पर निज स्वरूप से अभिन्नता हो जाती है। शरीर, संसार, कषाय और कर्म के आकर्षण-राग का पूर्ण क्षय हो जाता है, फिर इनका पूर्व में अंकित प्रभाव शेष नहीं रहता है, इन सबसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से इनका बंध टूट जाता है। इनसे अतीत अवस्था का अनुभव हो जाता है अर्थात् व्युत्सर्ग हो जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रतिसंलीनता बाह्य तप की चरम स्थिति व पूर्णता प्राप्त करने की द्योतक है और

इससे नवीन पाप कर्मों का बंध होना बंद हो जाता है और व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप की पूर्णता का द्योतक है, जिससे सब प्रकार के बंधनों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है।

विषय-सुखों के भोग से ही समस्त दोषों (पापों) की उत्पत्ति होती है। दोषों (पापों) से दु:खों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विषय-सुखों का भोग ही समस्त दोषों, दु:खों एवं बंधनों का कारण है। बाह्य तप से विषय-भोगों की प्रवृत्ति का निरोध होता है और आभ्यन्तर तप से विषय-भोगों की वृत्ति (वासना) का क्षय (नाश) होता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के तपों से विषय-भोगों की प्रवृत्ति तथा वृत्ति का अंत हो जाता है। समस्त दोषों, दु:खों तथा बंधनों का सदा के लिए नाश हो जाता है। ध्यान व व्युत्सर्ग में दोनों प्रकार के तप समाहित हैं। अत: ध्यान व व्युत्सर्ग से ही समस्त दोष, दु:ख एवं बंधन से मुक्ति की अनुभूति होती है। प्रतिसंलीनता मुक्ति के समीप पहुँचाती है और कायोत्सर्ग मुक्ति से अभिन्न करता है।

आशय यह कि प्रतिसंलीनता तप से विषयभोग, शरीर, संसार व कर्म (प्रवृत्ति) से विमुखता होती है, नवीन रागोत्पत्ति का निरोध होता है, जिससे नवीन कर्म-अर्जन व सर्जन अवरुद्ध होता है और कायोत्सर्ग से पूर्वबद्ध आसक्ति युक्त संस्कारों (कर्म-बंधनों) का क्षय होता है, जिससे वीतरागता, सर्वज्ञता, पूर्ण चिन्मयता एवं सच्चिदानन्द (अक्षय-अखण्ड व अनन्त सुख) का अनुभव होता है। प्रतिसंलीनता में निर्विकल्प स्थिति होती है, नवीन भोग-प्रवृत्तियों का निरोध होने से चित्त शान्त होता है, सम्प्रज्ञात समाधि होती है और कायोत्सर्ग से वासना युक्त वृत्तियों का क्षय होने से निर्विकल्प बोध होता है, जिससे पूर्ण तत्त्वबोध होता है, कैवल्य की अनुभूति होती है, फिर कुछ भी जानना-देखना, पाना व करना शेष नहीं रहता है। यही सिद्धि प्राप्त करना है।

जिस प्रकार बाह्य तप द्वारा शारीरिक दु:खों को सजीव कर, उनके कारणों को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है उसी प्रकार आभ्यन्तर तप द्वारा मानसिक दु:खों को सजीव कर उनके कारणों को दूर करने की क्रिया से कर्मों की निर्जरा होती है। तन के ठोस व स्थूल होने से उसके द्वारा उदय होनेवाले कर्मों का क्षेत्र ससीम है, पर मन सूक्ष्म व तरल है, अत: तंरगायित होता रहता है। जैसे तरल जल के ताल में पवन के निमित्त से अगणित तरंगें उठा करती हैं इसी प्रकार अति तरल होने से चित्त के सागर में परिग्रह के निमित्त से वासनाओं की असंख्य तरंगें

उठा करती हैं। ये तरंगे चित्त को चंचल, अशान्त और उद्विग्न करती हैं। चित्त की चंचलता, अशान्तता, उद्विग्नता आदि वृत्तियाँ मानव को दु:ख देती हैं। मानव इन दु:खों को कामनापूर्ति के सुख की आशा से सहन करता है तथा कामनापूर्ति के सुख से इन्हें दबाता है, परन्तु इनके मूल कारण को खोजकर दूर करने का प्रयत्न नहीं करता। परिणामस्वरूप अनन्त काल से अनंत प्राणी अनंत जन्मों में अनंत कामनाओं की पूर्ति अनंत-अनंत बार कर चुके हैं, फिर भी कामना अपूर्ति का दु:ख ज्यों का त्यों विद्यमान है। अत: मानसिक दु:खों का अन्त उनके कारणों को खोजकर, तप से उनका अन्त करने से ही संभव है।

मानसिक दु:खों के कारणों की खोज से ज्ञात होता है कि इन दु:खों का आश्रय स्थान है चित्त। चित्त-उत्पत्ति का कारण है कर्म। कर्म का कारण है- कामनाएँ। कामना-उत्पत्ति का कारण है कामनापूर्ति जनित सुख लोलुपता। अत: मानसिक दु:खों का मूल कारण है - कामना पूर्ति जनित सुख लोलुपता, अर्थात् कामना पूर्ति जनित सुखों की रति। कामना पूर्ति जनित सुख लोलुपता रूप रति से रागादि विकार, विकार से कर्म, कर्म के उदय से प्राणी के चित्त में अशान्ति, चिन्ता, द्वन्द्व, खिन्नता, तनाव आदि दु:खों की उत्पत्ति होती है।

विनय, वैयावृत्य आदि आभ्यन्तर तप चित्त में स्थित चंचलता, अशान्ति, अन्तर्द्वन्द्व, तनाव आदि दु:खों को सजीव बनाते हैं अर्थात् इनको नष्ट करने के लिए विवेक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। विवेक इन दु:खों के कारण स्वरूप चित्त का तादात्म्य, कर्म, अहन्ता, ममता, मोह आदि दोषों व दोष जनित सुख लोलुपता आदि को बनाये रखने का विरोध करता है तथा सुख कामना पूर्ति में नहीं, निष्काम होने में है, इस तथ्य का साक्षात्कार कराता है। इससे साधक में सु:खों के प्रति विरति उत्पन्न होती है। विरति से सजगता आती है। सजगता कामना या कषाय की विद्यमानता को असह्य कर देती है, जिससे सुख लोलुपता रूप रस सूखने लगता है। रस सूखने से कषाय निर्जीव होकर क्षय होने लगता है। कषाय के क्षय होने से कर्म निर्जरित हो जाते हैं।

प्रायश्चित्त से दोषों की निवृत्ति का, विनय से अहंता का, वैयावृत्त्य से ममता का, स्वाध्याय से पराधीनता का, ध्यान से चित्त की चंचलता का, व्युत्सर्ग से संसर्गता का नाश होकर निर्दोषता, निरहंकारता, निर्ममता, स्वाधीनता, निर्विकल्पता,, असंगता आदि की उपलब्धि होती है, जिससे कर्म क्षीण होकर निर्जरित होते हैं।

जिस प्रकार ताप (आग) से एक-एक बीज भस्म या निर्जीव न होकर अगणित बीज एक साथ निर्जीव हो जाते हैं व फल देने की शक्ति खो देते हैं, इसी प्रकार तप से असंख्य कर्म एक साथ रस हीन व निर्जीव हो जाते हैं तथा अपनी फल देने की शक्ति खो देते है। अथवा जिस प्रकार तप के प्रभाव व जल के अभाव से पौधे पर लगे प्रचुर पुष्प निर्जीव होकर बिना फल दिये ही खिर जाते हैं, इसी प्रकार तप के प्रभाव व कषाय-रस के अभाव से असंख्य कर्म निर्जीव होकर बिना फल दिये ही निर्जरित हो जाते हैं।

तप : कर्मक्षय की साधना

साधना है सत्य का साक्षात्कार करना, जो जैसा है उसे ठीक वैसा ही यथाभूत अनुभव करना अर्थात् बिना किसी प्रकार की मिलावट, जोड़ व भ्रान्ति के वस्तुस्थिति का, सत्य का साक्षात्कार करना साधना है। साधारणत: मानव जो कार्य करते हैं वह राग-रंजित, द्वेष-दूषित तथा मोह-विमूढ़ित (मूर्च्छित) होकर करते हैं। अत: वह शुद्ध साक्षात्कार न होकर राग-द्वेष-मोह से युक्त अशुद्ध अवस्था का अनुभव होता है। इसी अशुद्ध अवस्था का निवारण करने एवं शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिये बन्ध के हेतुओं का अभाव एवं निर्जरा से कर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त करने का विधान है।

वस्तु या प्रकृति के स्वभाव को धर्म कहा जाता है - जैसे आग का स्वभाव 'उष्णता' है। यह आग का धर्म है। स्वभाव का साक्षात्कार करना ही धर्म है। अथवा यह कहें कि वस्तु या प्रकृति का वास्तविक रूप ही धर्म है और इस धर्म का साक्षात्कार या अनुभव करना ही धर्म-ध्यान है। सत्य का साक्षात्कार बुद्धिजन्य कल्पनाओं, जल्पनाओं व मान्यताओं से नहीं होता है, अपितु अनुभव से होता है, सत्य पर चलने से होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति जीवन में सत्य को स्थान देता जाता है, उस पर आचरण करता है, चरण बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसे सत्य की गहराई व सूक्ष्मता का अधिकाधिक साक्षात्कार होता जाता है। यह नियम है कि जो जितना सूक्ष्म होता है, वह उतना ही विभु व अधिक सक्षम होता है तथा अलौकिक, विलक्षण व अचिंत्य शक्तियों का भण्डार होता है। यही नियम या तथ्य ध्यान साधना पर भी घटित होता है।

ध्यान साधना में जिस सत्य का साक्षात्कार होता है उस पर चलने से प्रकृति के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सत्यों (सिद्धान्तों, धर्मों व शक्तियों) का प्रत्यक्ष

साक्षात्कार होने लगता है और अन्त में अपने में विद्यमान अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। फिर वह सर्वथा बंधनमुक्त होकर सदा के लिये भव-भ्रमण व दुःख से छुटकारा पा जाता है।

वस्तुतः ध्यान या साधना कोई रहस्य, जादू या चमत्कार नहीं है, प्रत्युत्त सत्य के साक्षात्कार के क्रमिक विकास का सरल, ऋजु व सुगम मार्ग है। इसमें न तो कोई छिपाने की बात है और न कुछ जोड़ने की बात है, न भाषा ज्ञान की आवश्यकता है। केवल अपने ही अन्तरंग में विद्यमान दर्शन व ज्ञान की अनुभूति करने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना है। वस्तुतः ध्यान अपनी ही अनुभूति से अपनी भ्राँतियों (मिथ्या मान्यताओं) को मिटाते हुए पूर्ण सत्य, शुद्ध दर्शन व शुद्ध ज्ञान को प्रकट करने का मार्ग है, प्रक्रिया है, जिस पर चलने में मानव मात्र समर्थ व स्वाधीन है। भले ही वह किसी जाति का हो, किसी भी देश का हो, कोई भी व्यवसाय करने वाला हो, किसी भी आयु का हो, किशोर हो, युवा हो, वृद्ध हो, विद्वान् हो, निरक्षर हो, धनवान हो, निर्धन हो, स्त्री हो, पुरुष हो।

ध्यान साधना से किस प्रकार कर्म क्षय होकर दुःख से मुक्ति मिलती है, इस पर प्रकाश डाला जा रहा है।

चित्त की स्थिरता

चित्त को स्थिर करने का प्रारम्भिक उपाय है चित्त को श्वास के आवागमन पर लगाना। इससे चित्त का भटकना रुक जाता है, चित्त स्थिर हो जाता है। फिर श्वास पर स्थिर चित्त को शरीर की त्वचा (चमड़ी) पर लगाया जाता है। चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता के कारण त्वचा पर होने वाली क्रियाओं (संवेदनाओं) का अनुभव होने लगता है। चित्त को आगे बढ़ाते हुए सिर से पैर तक, पैर से सिर तक सारे शरीर की संवेदनाओं को बार-बार देखने से चित्त की स्थिरता, समता व सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। निरन्तर अभ्यास करने से यह वृद्धि अधिकाधिक होती जाती है।

समता

ध्यान में शरीर के बाहरी व भीतरी भाग के सूक्ष्म स्तरों पर चित्त को लगाने से वहाँ उत्पन्न होने वाली अनुकूल-प्रतिकूल संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि चित्त उन अनुकूल संवेदनाओं में राग और प्रतिकूल संवेदनाओं में द्वेष करने लगता है, उनमें हर्ष व दुःख का भोग करने लगता है तो चित्त की स्थिरता व सूक्ष्मता खो जाती है, चित्त चंचल व स्थूल हो जाता है। परन्तु उन अनुकूल-प्रतिकूल, सुखद-

दु:खद संवेदनाओं का अनुभव करते हुए राग-द्वेष न करके केवल उनको देखते रहने से समभाव प्रगाढ़ होता है, संयम स्वयं उद्‌भूत होता है और मन, वचन व काया की प्रवृत्तियों का संवर होता है।

दर्शनावरणीय कर्म का क्षय

दर्शन है चित्त के निर्विकल्प होने पर चैतन्य (चिन्मयता) का, संवेदनशीलता का अनुभव होना। निर्विकल्पता चित्त के शान्त, स्थिर व सम होने पर होती है। ध्यान में चित्त की शान्ति, समता, स्थिरता, सूक्ष्मता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही संवेदनाओं के अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है। अर्थात् दर्शन का आवरण क्षीण होता जाता है और दर्शन या अनुभव स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम रूप में विकसित होता जाता है। हमारे शरीर में व त्वचा पर प्रत्येक स्थान व प्रत्येक अणु पर निरन्तर किसी न किसी प्रकार की क्रियाएँ चालू रहती हैं। परन्तु हमारे दर्शन (अनुभव) की शक्ति विकसित न होने से, दर्शन पर आवरण आने से उन क्रियाओं से जनित संवेदनाओं का हम दर्शन (साक्षात्कार) नहीं कर पाते हैं। ध्यान साधक का चित्त आनापान सति से निर्विकल्प होता है तब उसे पहले शरीर के बाहरी स्तर पर होने वाली संवेदनाओं का दर्शन होने लगता है। फिर जैसे-जैसे संयम या संवर या समताभाव बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे दर्शनावरण हटता जाता है जिससे शरीर में माँस, रक्त, हड्डियों में उत्पन्न होने वाली क्रियाओं, तरंगों का संवेदन या अनुभव होने लगता है। यहाँ तक कि शरीर में होने वाली रासायनिक परिवर्तन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं, विद्युत-चुम्बकीय लहरों का भी दर्शन होने लगता है। इस प्रकार दर्शन की शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तर पर प्रकट होने लगती है। फिर ध्यान-साधक का जैसे-जैसे समता, संयम, संवर का स्तर ऊँचा होता जाता है, बढ़ता जाता है; वैसे-वैसे दर्शनावरणीय कर्म की निर्जरा होती जाती है, जिससे दर्शन की शक्ति प्रकट होकर व्यक्त चित्त में उठने वाली लहरें, उससे बँधने वाले कर्म, अवचेतन मन में उठने वाली लहरें तथा उससे भी सूक्ष्म स्तर पर स्थित अपने पूर्व जीवन में संचित संस्कारों, कर्मों व ग्रन्थियों का दर्शन होने लगता है, इस प्रकार संवर व निर्जरा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो दर्शन के समस्त आवरण व पर्दे हट जाते हैं, क्षय हो जाते हैं, जिससे उसका दर्शन पूर्ण विशुद्ध 'केवल दर्शन' हो जाता है।

ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय

ज्ञान अनेक प्रकार का होता है यथा इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला शब्द, वर्ण, गंध, रस व स्पर्श का ज्ञान, चिन्तन व बुद्धिजन्य ज्ञान आदि। परन्तु इन ज्ञानों से

चेतना के स्थूल व बाहरी स्तर का ही बोध होता है, चेतना की यथार्थता जो सूक्ष्म व आंतरिक स्तर पर होती है, उसका बोध नहीं होता। यह अयथार्थ ज्ञान हितकारी व कल्याणकारी नहीं होता है, अतः इसे असम्यक् ज्ञान या मिथ्या ज्ञान कहा है।

ध्यान से जैसे-जैसे दर्शन पर आए आवरण क्षीण होते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अनुभव-शक्ति बढ़ती जाती है। उस अनुभव से होने वाला ज्ञान यथार्थ (भ्रांति-रहित) सत्य व कल्याणकारी होता है। ऐसा ही ज्ञान 'प्रज्ञा' या 'सम्यक् ज्ञान' कहा जाता है। इस यथार्थ-सत्य ज्ञान के प्रभाव से इन्द्रिय-बुद्धिजनित ज्ञान भी सम्यक् होता जाता है।

ध्यान-साधक दर्शन या अनुभव के स्तर पर प्रत्यक्ष देखता है कि केवल बाहरी स्थूल जगत् ही नहीं बदल रहा है बल्कि यह परिवर्तन सूक्ष्म लोक (जगत) में और भी अधिक शीघ्रता से हो रहा है। शरीर के उपरिभाग से भीतरी भाग में, शरीर में उत्पन्न संवेदनाओं व विद्युत चुम्बकीय लहरों में, मन में, अवचेतन मन में क्रमशः सैकड़ों-हजारों गुना अधिक से अधिक द्रुतगति से परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) हो रहा है। यहाँ तक कि लोक के सूक्ष्म स्तर पर तो यह उत्पाद-व्यय एक पल में अगणित बार प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

इस प्रकार ध्यान-साधना से जैसे-जैसे दर्शन के आवरण क्षीण होते जाते हैं, वैसे-वैसे संसार की अनित्यता का प्रत्यक्ष दर्शन (साक्षात्कार) होता जाता है। ऐसे अनित्य संसार में आत्मबुद्धि रखना, उसे अपना मानना, उससे रक्षण व शरण की आशा करना अज्ञान है। संसार में शरणभूत कुछ भी नहीं है। प्रकृति के उत्पाद-व्यय प्रक्रिया से उत्पन्न रोग, जरा, मृत्यु या वियोग से कोई किसी को नहीं बचा सकता है। इस प्रकार ध्यान-साधक संयोग में वियोग, जीवन में मृत्यु, आशा में निराशा का दर्शन करने लगता है। इससे उसमें तन, मन, धन, जन आदि समस्त परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओं के प्रति ममत्व व अहंत्व हटकर अनात्मभाव की जागृति होती है। वह अपनी अनुभूति के आधार पर यह भी जानता है कि रोग, बुढ़ापा, इन्द्रियों की शक्ति-क्षीणता, मृत्यु, अभाव, वेदना, पीड़ा आदि तो दुःख हैं ही, परन्तु संसार में जिसे सुख कहा जाता है वह भी दुःख रूप ही है। कारण कि वह सुख राग व मोहजनित होता है। राग चित्त में असंख्य लहरें या तूफान उठने का रूप है। यह राग का तूफान समता के सागर की शान्ति को भंग कर अशान्ति, आकुलता, तनाव, आतुरता व जड़ता उत्पन्न करता है व मूर्छित बनाता है। इस प्रकार वह भोगों के सुख

में दु:ख का दर्शन करने लगता है। वह देखता है कि संसार में सर्वत्र, सर्व स्थितियों एवं परिस्थितियों में दु:ख ही दु:ख है। इस प्रकार इस अनित्य, अशरण, दु:खद संसार से सम्बन्ध स्थापित करना, इससे सुख भोगना अज्ञान है, भंयकर भूल है।

ध्यान-साधक यह भी देखता है कि संसार की उत्पत्ति-विनाश स्वरूप प्रत्येक घटना कारण और कार्य के नियमानुसार घट रही है। कोई भी घटना अप्रत्याशित, आकस्मिक या अनहोनी नहीं घटती है। कारण के अनुसार कार्य होता है। कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि जो जैसा करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। अर्थात् जो भी सुखद-दु:खद स्थिति प्राप्त होती है वह अपने ही कर्म का फल है। अत: उसमें न तो शिकायत या शोक की गुंजाइश है और न हर्ष को अवकाश है। उस घटना या परिस्थिति को भला-बुरा मानना या कोसना व उसके प्रति राग-द्वेष करना अज्ञान है।

इस प्रकार सूक्ष्म दर्शन या साक्षात्कार की प्रगति से साधक की प्रज्ञा बढ़ती जाती है। उसे लोक के सूक्ष्म तथा गहन नियमों का ज्ञान अधिक से अधिक होता जाता है। उसे ग्रंथि-बंध, कर्म-विपाक, जन्म-मरण, संवर, निर्जरा, विमोक्ष आदि का प्रत्यक्ष व स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना ही विभु व शक्तिशाली होता है। इस नियम के अनुसार सूक्ष्म तत्त्वों के प्रत्यक्षीकरण से सीमित व विकृत ज्ञान विशद एवं शुद्ध होता जाता है। अंत में ज्ञान पर से सर्व आवरण हटकर व क्षय होकर असीम अनन्त निर्मल 'केवल ज्ञान' प्रकट हो जाता है।

मोहनीय कर्म का क्षय

ध्यान के अभ्यास से जैसे-जैसे समता व सूक्ष्म अनुभव की शक्ति बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे राग-द्वेष-मोह आदि से उठने वाली लहरों व संवेदनाओं का प्रत्यक्ष दर्शन (अनुभव) होने लगता है। साधक यह भी देखने लगता है कि राग-द्वेष से नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। ये ग्रंथियाँ समय पाकर उदय में आकर फल देती हैं - इनसे तन-मन, सुख-दु:ख का सर्जन होता है। जन्म-मरण व सुखद-दु:खद संवेदनाओं के प्रति प्रतिक्रिया करने से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिनसे नवीन ग्रंथियों का निर्माण होता है। फिर सुखद-दु:खद संवेदनाओं की उत्पत्ति होती रहती है और इस प्रकार उत्पत्ति-विनाश का, जन्म-मरण का यह क्रम बार-बार चलने लगता है। इस प्रकार भव-भ्रमण अनन्तकाल से चल रहा है। साधक यह भी अनुभव करने लगता है कि लहर द्वेष की उठे या राग की उठे अथवा

अन्य किसी भी प्रकार की उठे, उससे समताजनित शान्ति, सुख, स्वाधीनता, संतुष्टि लोप हो जाती है और अशान्ति, क्षुब्धता, आकुलता, आतुरता आदि दुःखों का उदय हो जाता है। इस प्रकार जहाँ वह साधक पहले राग, द्वेष, मोह, हिंसा, झूठ आदि दोषों में सुख का आस्वादन करता था वहाँ अब इनमें दुःख का अनुभव करने लगता है। साधक इस परिणाम पर पहुँचता है कि दुःख या भव-चक्र भेदन का एक ही उपाय है कि नवीन ग्रंथियों का निर्माण न हो और पुरानी ग्रंथियों का भेदन हो जाये, उदीरणा होकर उनकी निर्जरा हो जाये।

नवीन ग्रंथियों का निर्माण, पुराने कर्म के फल भोगते समय राग-द्वेष रूपी प्रतिक्रिया करने से होता है। अतः नवीन ग्रंथियों के निर्माण को रोकने का एक ही उपाय है कि पुराने कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न सुखद संवेदनाओं के प्रति राग न करे, दुःखद संवेदनाओं के प्रति द्वेष न करे अर्थात् समता (द्रष्टाभाव) में रहे। इस प्रकार समता में रहने से नवीन ग्रंथियों (कर्मों) का निर्माण रुक जाता है।

पुरानी ग्रंथियों (कर्मों) के नाश का उपाय है ग्रंथियों का भेदन करना। तन, मन, धन, जन आदि सबसे आसक्ति (राग-द्वेष) छोड़ना; यह स्थूल ग्रंथि-भेदन है। सूक्ष्म शरीर, चित्त, अवचेतन मन आदि के स्तर पर प्रकट व उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं (ग्रंथियों) का धुन-धुनकर विभाजन करना, टुकड़े-टुकड़े करना, यह सूक्ष्म ग्रंथियों का भेदन है। इस ग्रंथि-भेदन से पुराने कर्मों के समुदाय की तीव्रता के साथ उदीरणा होकर निर्जरा होती है।

इस ग्रंथि-भेदन में ध्यान (चित्त की एकाग्रता), स्वाध्याय (स्व का अध्ययन, स्वानुभव), कायोत्सर्ग से सूक्ष्मतर स्तर पर तन-मन का उत्सर्ग करना, अहंभाव का विसर्जन व व्युत्सर्ग करना होता है। इससे राग-द्वेष व मोह पर विजय प्राप्त होने लगती है अर्थात् राग, द्वेष, माया-मोह के प्रवाह का प्रभाव घटता जाता है। यह विजय साधक के उत्साह, सुख, समता, शान्ति, स्वाधीनता को बढ़ाती है, जिससे उसमें राग, द्वेष पर अधिक विजय पाने का पुरुषार्थ जगता है। इस प्रकार धर्मचक्र से वह धीरे-धीरे समता की चरम अवस्था में पहुँचकर राग, द्वेष, मोह आदि विकारों पर पूर्ण विजय पाकर वीतराग, वीतद्वेष हो जाता है। उसके मोह का पूर्ण क्षय हो जाता है, उसका कर्तृत्व व भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है।

अन्तराय कर्म का क्षय

जिससे जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पाँच स्वाभाविक उपलब्धियों, गुणों में विघ्न व बाधा उत्पन्न हो, वह अंतराय कर्म है। जीव का दान

गुण उदारता व प्रीति के सुख की उपलब्धि का सूचक है। लाभ गुण निर्लोभता से आविर्भूत संतोषरूपी संपत्ति की उपलब्धि का व्यक्तक है। भोग गुण विषय-भोग के सुखों के त्याग से अर्थात् निर्ममता से प्राप्त स्वाधीनता के अखण्ड-पूर्ण सुख के भोग की उपलब्धि का द्योतक है। उपभोग गुण विषय-सुखों के उपभोग के त्याग से अर्थात् निरहंकारता से आविर्भूत स्वाभाविक आत्मीयता व प्रियता के नित-नूतन-अनवरत अनन्तसुख के उपभोग की उपलब्धि का एवं वीर्य गुण कर्तृत्वभाव रहित होने से आविर्भूत दोषों के विनाशक सामर्थ्य गुण की उपलब्धि का सूचक है। इन पाँचों गुणों की उपलब्धि निर्दोषता से प्रकट स्वभाव की अभिव्यक्तक है। समस्त स्वाभाविक गुणों में बाधा उत्पन्न होती है विभाव से। विभाव से जीवन स्वभाव से विमुख हो जाता है। यह विमुखता ही अंतराय कर्म है।

विभाव की उत्पत्ति का मूल कारण है विषय-भोगों के सुख का प्रलोभन। विषय-सुख के इच्छुक जीव में स्वार्थपरता का दोष उत्पन्न होता है जो उदारता गुण का अपहरण कर दानान्तराय उत्पन्न कर देता है उसमें इन्द्रिय-विषयों के भोग-उपभोग की भोग्य वस्तुओं को प्राप्त व संग्रह करने की इच्छा उत्पन्न होती है जो निज स्वभाव के भोग-उपभोग के सुख का अपहरण कर भोगान्तराय-उपभोगान्तराय कर्म को उत्पन्न कर देती है। भोगी जीव अपने सामर्थ्य का उपयोग व उपभोग विषय-भोगों एवं उनकी भोग्य सामग्री की प्राप्ति में करता है, उसका यह भोक्तृत्व व कर्तृत्व भाव दोषों के त्यागने के सामर्थ्य का अपहरण कर वीर्यान्तराय कर्म को उत्पन्न कर देता है। प्रकारान्तर से कहें तो विषय-भोगों की इच्छा व उनका भोग आत्मा को बहिर्मुखी बनाता है जिससे आत्मा निज स्वभाव में रमण रूप भोग-उपभोग के सुख से विमुख व वंचित हो जाती है। निजस्वरूप के अक्षय-अखण्ड अनन्त सुख से वंचित होना ही अंतराय कर्म का उदय है। अतः जितनी-जितनी विषय-भोगों की सुख की इच्छा व दासता घटती जाती है उतना-उतना अंतराय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है। विषय-सुख का पूर्ण त्याग होते ही अंतराय कर्म का क्षय हो जाता है।

सांसारिक पदार्थों व भोगों की इच्छा उत्पन्न होते ही चित्त चंचल व चलायमान हो जाता है, जिससे चित्त की शान्ति, स्थिरता व समता भंग हो जाती है। किसी भी जीव की सभी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हैं। एक इच्छा की पूर्ति होते ही उसकी पूर्ति का सुख कुछ ही क्षणों में विलीन हो जाता है, नीरसता उत्पन्न हो जाती है। इस

नीरसता से ऊबकर सुख पाने के लिए नई इच्छा उत्पन्न होती है। इस प्रकार इच्छाओं की अपूर्त्ति से जनित अभाव सदा बना रहता है। अभाव का अनुभव होना ही अन्तराय का सूचक है। विषय-भोग के सुख में व भोगों की इच्छा में आकुलता रहती है। ध्यान-साधना से साधक अंतर्मुखी हो निर्विकल्पता के, निराकुलता के सुख का अनुभव करता है। निराकुलता के व शान्ति के सुख की अनुभूति से विषय-भोगों के आकुलता युक्त सुख में दुःख का अनुभव होता है। यह अनुभव जितना-जितना गहरा होता जाता है उतना-उतना विषय-सुखों में असह्य दुःख का अनुभव होता है और अंत में विषय-सुख का प्रलोभन व दासता सदा के लिये मिट जाती है, जिससे अंतराय कर्म का क्षय होकर अनन्तदान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग एवं अनन्तवीर्य की उपलब्धि व अनुभूति हो जाती है।

ध्यान-साधना से जैसे-जैसे राग-द्वेष-मोह घटते जाते हैं, समताभाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अनुभव के क्षेत्र में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रगति होती जाती है, तथा आंतरिक शक्तियाँ व अनुभूतियाँ विशेष रूप से प्रकट होती जाती हैं। आतंरिक शक्ति के बढ़ने से उसका पुरुषार्थ-वीर्य बढ़ता है जो उत्साह के रूप में प्रकट होता है और उद्देश्य या लक्ष्य की सिद्धि या सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

आन्तरिक शक्ति जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अधिक से अधिक सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति बढ़ती जाती है जो समत्व व प्रीति व प्रमोद के रूप में व्यक्त होती है।

ध्यान-साधना से विरतिभाव बढ़ता है जो कामनाओं, वासनाओं, कृत्रिम आवश्यकताओं को घटाता है। इनकी उत्पत्ति न होने से साधक को कामना की पूर्ति-अपूर्ति से उत्पन्न होने वाला दुःख नहीं भोगना पड़ता। संतुष्टि व तृप्तिभाव की अभिवृद्धि होती है तथा उसकी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति स्वतः हो जाती है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो प्राप्त का सदुपयोग करता है उसे उससे अधिक हितकर वस्तुओं की प्राप्ति अपने आप होती है। अभाव का दुःख उसे पीड़ित नहीं करता। उसका चित्त सदा समृद्धि से भरा होता है।

ध्यान-साधना से जैसे-जैसे राग पतला पड़ता जाता है वैसे-वैसे स्वार्थपरता, संकीर्णता घटती जाती है; सेवाभाव, करुणाभाव, परोपकार और दान की भावना बढ़ती जाती है।

जैसे-जैसे विषय-सुखों के भोग-उपभोग की दासता, राग-द्वेष, मोह क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे भोगान्तराय-उपभोगान्तराय आदि अन्तराय कर्म क्षीण होते जाते हैं और आंतरिक व आत्मिक सद्गुणों की एवं निज स्वरूप के भोग-उपभोग के सुख की अधिकाधिक अभिवृद्धि होती जाती है। पूर्ण वीतराग अवस्था में ये गुण असीम व अनन्त हो जाते हैं।

इस प्रकार ध्यान-साधना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। इन चारों का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि इनमें किसी एक कर्म के क्षीण होने का प्रभाव शेष तीन कर्मों पर भी पड़ता है और उनमें भी क्षीणता आती है।

उपर्युक्त चार घाती कर्मों के अतिरिक्त नाम, गोत्र, आयु, वेदनीय ये चार अघाती कर्म और हैं। ये कर्म शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक या बाहरी पदार्थों से संबंधित हैं। यह नियम है कि भीतरी स्थिति के अनुरूप ही बाहरी स्थितियों एवं परिस्थितियों का निर्माण होता है या यों कहें कि चेतना की सूक्ष्म शक्तियों व गुणों के न्यूनाधिकता के अनुरूप ही प्रकृति भौतिक पदार्थों, शरीर, इन्द्रिय आदि की संरचना करती है यही नाम कर्म है। नाम कर्म से उत्पन्न शरीर के टिकने की अवधि आयुकर्म है। उच्च-नीच अर्थात् दीनता व अभिमान (मद) का भाव होना गोत्र कर्म है और शरीर व चित्त आदि के माध्यम से होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाएँ वेदनीय कर्म है। इन चारों अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों की उत्पत्ति का कारण भी राग, द्वेष, मोह आदि दोष ही हैं। ये दोष जैसे-जैसे घटते व हटते जाते हैं, आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है। पाप प्रकृतियों का बंध रुकता जाता है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घाती कर्मों के क्षय होने के पश्चात् वेदनीय कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म और आयु कर्म ये चारों अघाती कर्म शेष रह जाते हैं। ये कर्म अघाती होने से जीव के किसी गुण का घात करने में समर्थ नहीं हैं। अतः इनका क्षय करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इन कर्मों की शुभ-अशुभ, प्रशस्त-अप्रशस्त प्रकृतियाँ हैं जिन्हें पुण्य-पाप प्रकृतियाँ कहा जाता है। इनमें से पुण्य-प्रकृतियों का क्षय किसी भी साधना से सम्भव नहीं है, अपितु साधना से इन पुण्य-प्रकृतियों का अर्जन होता है एवं इनके अनुभाग में वृद्धि होती है। अतः इनके क्षय की आवश्यकता भी नहीं है। शेष रही इनकी अशुभ-अप्रशस्त पाप प्रकृतियाँ। पाप प्रवृत्तियों के बंध का अवरोध कषाय की क्षीणता व क्षय से होता है।

क्रोध कषाय (क्रूरता, निर्दयता) के निवारण व क्षयोपशम से सातावेदनीय पुण्य प्रकृति का; मान कषाय के क्षयोपशम से, मद न करने से, मृदुता से उच्चगोत्र पुण्य-प्रकृति का; माया कषाय के क्षयोपशम से, ऋजुता से शुभ नामकर्म की पुण्य प्रकृतियों का; एवं लोभ कषाय के क्षयोपशम से देव, मनुष्य, आयु, पुण्य-प्रकृति का बंध होता है। इस प्रकार ध्यान आदि तप साधना से कषाय क्षय होता है जिससे अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के बंध का अवरोध होता है एवं पुण्य-प्रकृतियों का उपार्जन व उदय होता है। जिन साधकों ने ध्यानादि तप-साधना से चारों कषायों का पूर्ण क्षयकर दिया है, उनके उपर्युक्त समस्त पुण्य-प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है, क्योंकि ये शुभ (पुण्य) कर्म-प्रकृतियाँ आत्मा की शुद्धता की सूचक हैं। अतः इन्हें क्षय करने हेतु साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। आयुष्य पूर्ण होने पर ये स्वतः क्षय हो जाती हैं।

तप से सिद्धत्व की प्राप्ति

सुख जीव का स्वभाव है। सच्चे सुख का अनुभव निज स्वभाव में स्थित होने में ही है। मन, वचन और तन की किसी क्रिया के करते हुए बहिर्मुखी अवस्था रहती है, जिससे स्वभाव में स्थित होना सम्भव नहीं है। इसीलिए साधना में तन की क्रिया का निरोध करने के लिए स्थिर-निश्चल आसन में बैठना होता है। वचन की क्रिया का निरोध करने के लिए मौन का विधान है। मन की क्रिया का निरोध करने के लिए मन को अन्तर्मुखी बनाकर स्व में स्थित करना है। अन्य उपायों से किया गया मन का लय तात्कालिक लाभ पहुँचाता है। जैसे प्राणायाम से श्वास पर ध्यान लगाने से भी मन एकाग्र होता है, परन्तु जैसे ही प्राणायाम बन्द कर दिया जाता है तो मन बहिर्गामी होकर विषय-वासनाओं में भटकने लगता है। इसी प्रकार किसी आकृति-विशेष के चिन्तन, नाम स्मरण, मन्त्र, जाप, लाटक आदि करने से भी मन एकाग्र हो जाता है, उस समय वासनाएँ दब जाती हैं, परन्तु उनका नाश नहीं होता है। अतः पुनः विषय-विकारों का उदय हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मन को एकाग्र करने की क्रियाओं का उद्देश्य वासनाओं से विरक्त व देहातीत होना नहीं होता है, अपितु शरीर और मन को स्वस्थ व सशक्त बनाकर इसे अधिकाधिक विषय-सुखों का भोग करना होता है। प्रतिदिन गहरी निद्रा में यही कार्य प्रकृति से स्वतः होता है। गहरी निद्रा में मन-वचन-तन इन तीनों का लय हो जाता है जिससे सुख की अनुभूति होती है, रोगों का निवारण होता है, शक्ति का संचय व वृद्धि होती है, परन्तु इस अवस्था में जड़ता की स्थिति रहती है। अतः इससे आध्यात्मिक विकास

नहीं होता है। कारण कि इसका लक्ष्य विषय-वासनाओं से विरक्त होना, देह और मन से परे की अवस्था का अनुभव करना नहीं है प्रत्युत देह और मन को पुष्ट करना है, जबकि योग व ध्यान साधना का उद्देश्य देह और मन से अतीत हो निज स्वरूप के सच्चे सुख का अनुभव करना एवं सब दुःखों से मुक्त होना है। सब दुःखों से मुक्त होने का उपाय समभाव में रहना है, अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समता से रहना, इनके प्रति हर्ष-शोक या राग-द्वेष नहीं करना है। अथवा यों कहें कि आधि-व्याधि-उपाधि से प्रभावित नहीं होना है, इसे ही समाधि कहा जाता है। समाधि की अनुभूति तब ही सम्भव है जब साधक अपने को देह से भिन्न अनुभव करे। देह से अपने को भिन्न अनुभव करना ही कायोत्सर्ग है। प्राणी शरीर से सुख चाहता है एवं इन्द्रियों व संसार को सुख का माध्यम मानता है। सुख की प्रतीति में राग करता है और सुख में बाधा उत्पन्न होने पर दुःख की प्रतीति होती है। दुःख की प्रतीति में द्वेष उत्पन्न होता है। ये राग-द्वेष, कषाय ही समस्त दोषों की उत्पत्ति के जनक है। दोषों की उत्पत्ति के परिणामस्वरूप समस्त दुःख उत्पन्न होते हैं। कोई ऐसा दुःख है ही नहीं जिसकी उत्पत्ति का कारण कोई दोष नहीं हो। अतः कायोत्सर्ग में अपने शरीर से अतीत निज स्वरूप में स्थित होते ही इन्द्रियों एवं संसार से असंगता हो जाती है, जिसके होते ही राग-द्वेष, विषय-कषाय का क्षय हो जाता है। विषय-कषाय के क्षय होते ही समस्त दोषों से मुक्ति हो जाती है। निर्दोषता की अनुभूति हो जाती है जिससे परमतत्त्व (परमात्मा) से अभिन्नता हो जाती है। शिवत्व की अनुभूति हो जाती है और दुःखों से सदा के लिए मुक्ति हो जाती है। आत्मारहित देह शव है। देह के सम्बन्ध से रहित आत्मा शिव है। शव (देह) से असंग होते ही स्वतः शिव का संग हो जाता है। यह ही सिद्धत्व है, मुक्ति है।

प्राक्कथन

(लेखक की मूल पुस्तक 'निर्जरा तत्त्व' से उद्धृत)

-कन्हैयालाल लोढ़ा

कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जारा दो प्रकार से होती है- (१) काल पकने पर कर्मों का स्वतः उदय में आकर निर्जरित होना। इसे अकाम निर्जरा कहते हैं। (२) प्रयत्न व पुरुषार्थ द्वारा कर्म हो क्षय करना, निर्जरा करना, इसे सकाम निर्जरा कहते हैं। सकाम निर्जरा को ही निर्जरा तत्त्व में लिया गया है।

सकाम निर्जरा रूप कर्मों का क्षय तप से होता है। तप के अनशन आदि बारह भेद हैं। तप से आत्मा पवित्र होती है, जिससे पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है और उनके अनुभाग में वृद्धि होती है। पाप कर्मों का विशेषतः घाती कर्मों के अनुभाग व स्थिति का क्षय होता है, जिससे आत्म-गुण प्रकट होते हैं। अतः निर्जरा तत्त्व में पाप कर्मों की निर्जरा ही इष्ट है, पुण्य कर्मों की नहीं। कारण कि तप से पुण्य कर्मों की ३२ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है, फिर यह अनुभाग चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान के अंतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है। किसी भी साधना से क्षीण नहीं होता है अर्थात् उसकी निर्जरा नहीं होती है।

तप के १२ भेद हैं- १. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षाचर्या, ४. रसपरित्याग, ५. कायक्लेश, ६. प्रतिसंलीनता, ७. प्रायश्चित, ८. विनय, ९. वैयावृत्त्य, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान और १२. व्युत्सर्ग। (भगवती शतक २५ उ. ७ उत्तराध्ययन-३० गाथा ७ व ३० तत्त्वार्थ सूत्र ९/१९-२०)

तप के बारह भेदों में से किसी से भी पुण्य कर्म का क्षय नहीं होता है, प्रत्युत पुण्य का उपार्जन ही होता है। तप के बारह भेदों मे स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि तपों का विशेष महत्त्व है। इन सबसे पाप कर्मों का क्षय होता है, परन्तु पुण्य कर्मों का क्षय न होकर उपार्जन होता है यथा- उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ पृच्छा २८-स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

पृच्छा २०- प्रतिपृच्छना से कांक्षा मोहनीय कर्म का नाश होता है।

पृच्छा २२- साधक अनुप्रेक्षा से सात कर्मों की पाप-प्रकृतियों के गाढ़ बन्धनों को शिशिल बंध, दीर्ध स्थिति बंध को अल्प स्थिाति बंध, तीव्र अनुभाग को मन्द अनुभाग, बहुप्रदेशी को अल्प प्रदेशी करता है।

पृच्छा ४४ - वैयावृत्त्य से तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म का बंध करता है।

पृच्छा १२- कायोत्सर्ग से आत्मा-विशुद्धि व शुभ ध्यान करता हुआ सुख से विचरता है। काय गुप्ति में संवर होता है और फिर संवर के पाप के आस्रव का निरोध होता है। यहाँ संवर से पाप के आस्रव का निरोध होना बाताया है, पुण्य के आस्रव का नहीं।

जोगसच्चेणं जोगं विसोहई।। - उत्तरा अ. २९ बोल-५२

सत्ययोग से योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) की विशुद्धि होती है।

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ।

पवयण-पभावेण जीवे आगमिस्स भद्दत्ताए कम्मं निबंधइ।

-उत्तरा अ. २९ बोल २३

धर्मकथा से जीव के कर्मों की निर्जरा होती है, धर्मकथा से जीव प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना से आगामी काल के भद्रता वाले आर्थत् भविष्य में शुभ फलदायक पुण्य कर्मों का उपार्जन करता है।

धर्मकथा धर्मध्यान की तृतीय भावना है। इससे कर्मों की निर्जरा होती, है, स्थिति का क्षय होता है और शुभ कर्मों का उपार्जन (आस्त्रव) होता है। पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है।

जहा उ पावगं कम्मं रागदोससमज्जियं।

खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण।। -३०.१

भिक्षु राग-द्वेष से उपार्जित पाप कर्म का क्षय तप से जिस प्रकार करता है। उसे एकाग्रचित होकर सुनो।

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।

उस्सिंचणाए तवणाए, कर्मेणं सोसणाभवे।।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।

भवकोडि-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ।।- उत्तरा ३०.५-६

जिस प्रकार किसी बड़े तालाब में जल के आने को रोक देने पर पहले का शेष जल उलीचने एवं तपने से सूख जाता है, इसी प्रकार संयमी साधु के भी पाप कर्मों का आस्त्रव रुक जाने पर तप से करोडों भवों के कर्म निर्जरित- क्षीण हो जाते हैं।

इस गाथाओं में तप से पाप कर्मों के क्षय पापास्त्रव के निरोध का ही प्रतिपादन किया गया है, पुण्यास्रव के निरोध का नहीं।

''तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए।''

- दशवैकालिक सूत्र अ.९ उ.४ गाथा ४

मोह रहित होने में, संयम में, आर्जव, मार्दव आदि गुणों में और तप से रत साधु पूर्वकृत पाप कर्मों को क्षय करता है और नवीन पाप कर्मों का बंध नहीं करत है। इस प्रकार साधक अपने अशुभ कर्मों का क्षय कर देते हैं।

उपर्युक्त गाथा में संयम से, आर्जव आदि गुणों से अर्थात कषाय की कमी से तथा तप से केवल पुराने पाप कर्मों का क्षय एवं नये पाप कर्मों का बंध नहीं होना कहा गया है। यदि इनसे "पुण्य कर्मों का भी होना तथा पुण्य कर्मों का नया बंध नहीं होना", गाथाकार को इष्ट होता तो कर्म शब्द के पहले पाप विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नहीं होती।

पाप का आस्रव अशुभ योग से, संक्लेश भाव से, कषाय में वृद्धि होने से होता है अतः हेय व त्याज्य है। इसके विपरीत पुण्य का आस्रव शुभ योग से विशुद्धिभाव से, इसलिए कषाय में मंदता होने से, आत्मा के पवित्र होने से होता है। अतः सदैव उपादेय है। इसलिए जैनागमों में सर्वत्र पापास्त्रव के त्याग का ही विधान है, आदेश है उपदेश है। आगमों में कही पर भी पुण्यास्रव के त्याग का पाठ, उपदेश, आदेश, निर्देश नहीं है।

आभ्यंतर तपों में कायोत्सर्ग तप सर्वश्रेष्ठ तप है और कर्मों की निर्जरा व क्षय का प्रमुख हेतु है। इस तप से भी पाप कर्मों का ही क्षय होता है, पुण्य कर्मों का नहीं, जैसा कि आवश्यक सूत्र के कायोत्यर्ग के पाठ में कहा है-"पावाणं कम्माणं निग्घाएण ठाए ठामि काउसग्गं" अर्थात् साधक कहता है कि मैं पाप कर्मों के क्षय-निर्जरा के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।" यदि साधना में पुण्य कर्मों का क्षय व निर्जरा भी इष्ट होती तथा कायोत्सर्ग पुण्य कर्मों का क्षय व निर्जरा भी होती तो केवल 'कम्माणं' शब्द ही पर्याप्त होता अथवा 'सव्वाणं कम्माणं अर्थात् सब कर्मों को क्षय करने के लिए (कायोत्सर्ग करता हूँ) पाठ आता, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः कायोत्सर्ग से पुण्य कर्मों का क्षय या निर्जरा नहीं होती है और न यह साधक के लिए इष्ट ही है।

कर्म-निर्जरा के हेतु तप के भेदों में ध्यान का प्रमुख स्थान है। ध्यान से पाप कर्मों की ही निर्जरा होती है पुण्य कर्मो निर्जरा नहीं होती है, अपितु पुण्य का अनुबंध होता है, जैसा कि महर्षि श्री जिनभद्रगणि विरचित एवं श्री हरिभद्रसूरि द्वारा टीका कृत 'ध्यान शतक' ग्रंथ में वर्णित-धर्म ध्यान और शुक्ल-ध्यान के फल से भी स्पष्ट प्रकट होता है, यथा:

होंति सुहासव-संवर विणिज्जराऽमरसुहाई विउलाइं।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।। ९३।।

ते य विसेसेण सुभावादओऽणुत्तरामरसुहं च।

दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं।। १४।।

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु।

संसारकारणाइं तओ ध्रुवं ण धम्मसुक्काइं।। १५।।

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवों तासिं।

झाणं च पहाणगं तवस्स तो मोक्खहेउयं।। १६।।

अर्थात्-उत्तम धर्मध्यान से शुभास्रव (पुण्य कर्मों का आगमन) संवर (पापास्रव का निरोध) निर्जरा (संचित कर्मों का क्षय) तथा अमर (देव) सुख मिलते हैं एवं शुभानुबंधी (पुण्यानुबंध) विपुल फल मिलते हैं।। १३।।

धर्मध्यान के फल शुभास्रव, संवर, निर्जरा और अमरसुख इनमें विशेष रूप से उत्तरोत्तर वृद्धि होना प्रारंभ के दो शुक्ल ध्यान (पृथवक्त्व वितर्क सविचार और एकत्व वितर्क अविचार) का भी फल है। अंतिम दो शुक्ल ध्यान सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति और समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाति का फल मोक्ष की प्राप्ति है।। १४।।

जो मिथ्यात्व आदि अशुभ आस्रवद्वार संसार के कारण हैं वे चूंकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान में संभव नहीं हैं इसलिये यह ध्रुव नियम है कि ये संसार के कारण नहीं हैं, किन्तु संवर और निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग हैं उनका पथ तप है और उस तप का प्रधान अंग ध्यान है। अतः ध्यान मोक्ष का हेतु है। (गाथा ९५-९६)

ध्यान के अतिप्राचीन एवं प्रामाणिक ध्यानशतक ग्रन्थ के रचनाकार जैन जगत के विख्यात महार्षि श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण एवं वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि हैं। जैन धर्म की दोनों सम्प्रदायों में इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ की उपर्युक्त गाथाओं से निम्नांकित तथ्य प्रकट होते है।

गाथा ९३-९४ में श्रेष्ठध्यान- धर्मध्यान का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि धर्मध्यान से (१) आस्रव (२) संवर (३) निर्जरा (४) बंध और (५) देवसुख होता है और गाथा ९३ में इसे मोक्ष का हेतु भी कहा है। पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान जो उपशम कषाय वाले साधु के होता है तथा एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान जो क्षपक कषाय वाले साधु के होता है, इन दोनों शुक्लध्यानों का फल भी धर्मध्यान से होने वाले शुभास्रव, संवर, निर्जरा व मोक्ष का होना कहा है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आस्रव और संवर दोनों परस्पर में विरोधी है तथा निर्जरा और बंध ये दोनों भी परस्पर में विरोधी हैं। इन विरोधियों का धर्मध्यान व शुक्लध्यान में एक होना कहा गया है, यह कैसे संभव है? इसका समाधान यह है कि यहाँ आस्रव व बंध में शुभास्रव और शुभानुबंध को ही लिया ही लिया गया है, शुभ कर्मों के संवर व निर्जरा को नहीं लिया गया है। कारण कि धर्मध्यान आदि समस्त साधनाओं से आत्म-विशुद्धि होती है, आत्मा पवित्र होती है, जिससे पुण्य का आस्रव तथा पुण्य का अनुबंध होता है। जिस समय जिस पुण्य कर्मप्रकृति का आस्रव व अनुबंध होता है उस समय उसकी विरोधिनी पाप कर्मप्रकृति के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर हो जाता है तथा पाप प्रकृतियों की निर्जरा (क्षय) होती है। पुण्य का आस्रव चार अघाती कर्मों का ही होता है। इनमें से आयु कर्म को छोड़कर शेष वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म की प्रकृतियों में शुभ अथवा अशुभ दोनों में से किसी एक का आस्रव व बंध निरंतर होता रहता है। अतः जब सातावेदनी, उच्च गोत्र, शुभ गति व आनुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनाराच संहन्न, समचतुरस्त्र संस्थान, शुभ वर्ण-गंध-रस स्पर्श, शुभविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, स्थिर सुभग, आदेय और यशकीर्ति इन पुण्य प्रकृतियों का आस्रव एवं अनुबंध होता है तब इनकी विरोधिनी पाप कर्म प्रकृतियों असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ गति व आनुपूर्वी, अशुभ संहनन-संस्थान वर्ण-गंध-रस-स्पर्श, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अशुभ, अस्थिर, दुर्भाग्य, अनादेय और अयशकीर्ति के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर हो जाता है। बंध रुक जाता है तथा सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन रूप क्षय (निर्जरा) होता है। अतः समस्त साधनाओं से होने वाली आत्म-विशुद्धि से शुभास्रव-शुभानुबंध होता है और अशुभ (पाप) प्रकृतियों का संवर व निर्जरा होती है। अतः साधक के लिये पाप प्रकृतियों का संवर व इनकी निर्जरा ही इष्ट है, जब आत्म-विशुद्धि से पाप प्रकृतियों का संवर व निर्जरा होती है तब पुण्य प्रकृतियों का आस्रव व अनुबंध स्वतः ही होता है।

अतः पुण्यास्रव का निरोध व पुण्य कर्मों के अनुभाग के अनुबंध का क्षय व निर्जरा किसी भी साधक के लिए अपेक्षित नहीं है और न किसी भी साधना से संभव ही है। प्रत्येक साधना से पुण्यास्रव व पुण्यानबंध में वृद्धि ही होती है। इसलिए पुण्य के आस्रव के निरोध को संवर में और पुण्य कर्मों के अनुभाग बंध के क्षय को निर्जरा में ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि पुण्यकर्म का संवर और अनुभाव

की निर्जरा संयम, तप, त्याग आदि साधन से संभव नहीं है। यही तथ्य उपर्युक्त गाथा ९५ से प्रकट होता है। गाथा ९३-९४ में तो कहा है कि धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान से शुभास्रव होता है और इसकी अगली गाथा में यह कह दिया गया कि आस्त्रव द्वार संसार के कारण हैं इसलिये धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान से नहीं होते हैं। उससे यह स्पष्ट है कि आगम में आस्रव द्वार उन्हीं को कहा है जो संसार वृद्धि के हेतु हैं। शुभास्रव (पुण्यास्रव) संसार वृद्धि का हेतु नहीं है अपितु संसार क्षय का सूचक है, इसलिये पुण्यास्रव निरोध को संवर का हेतु मानना आगम व कर्म-सिद्धान्त के विपरीत है। साधना के क्षेत्र में केवल पाप के आस्रव के निरोध को और निर्जरा में पाप कर्मों के क्षय को ही ग्रहण किया है।

ध्यान सब तपों में प्रधान तप है, कर्मों की निर्जरा का मुख्य हेतु है। इससे पुण्य का आस्रव होता है, पुण्यकर्म का निरोध (संवर) व पुण्य के फल की निर्जरा नहीं होती है। पुण्य का आस्रव व कर्म का शुभानुबंध ये आत्म-विशुद्धि से ही होते हैं। अतः उपर्युक्त गाथाओं में इन्हें धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का फल कहा है। इनको त्याज्य व हेय नहीं बताया है। केवल पाप के आस्रव के निरोध को संवर और पाप कर्म के क्षय को निर्जरा व मोक्ष तत्त्व में समाहित किया है।

धवला टीका पुस्तक १३ गाथा २३ पृष्ठ ३८ में धर्मध्यान की चार भावनाएं प्रतिपादित हैं-(१) ज्ञानभावना (२) दर्शनभवना (३) चारित्रभावना और (४) वैराग्यभवना। इनसें से चारित्र भावना के स्वरूप व गुण के विषय में कहा गया है-

नवकम्माणायाणं पोराणाविणिज्जरं सुभायाणं।

चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ।।

- ध्यानशतक, धवल पु. १३ गाथा २६

अर्थ-चारित्रभावना से नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण (आदान) और ध्यान, ये बिना किसी प्रयत्न के (स्वतः) होते हैं।

पापाचरण (सावद्ययोग) की निवृत्ति को चारित्र कहा है। इसके ग्रहण का नाम चारित्र भावना है। इस भावना से वर्तमान में आते हुए ज्ञानावरणादि पापा कर्मों का निरोध और पूर्वोपार्जित इन्हीं पाप कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्य कर्म प्रकृयिों को ग्रहण व ध्यान की उपलब्धि, ये सब अनायास (स्वतः) होते हैं।

यहाँ चारित्र भावना से नवीन कर्मों का अनादान पाप कर्मों का ही कहा गया है, शुभ (पुण्य) कर्मों का नहीं कहा है, बल्कि यहां पुण्य कर्मों का आदान ग्रहण होना कहा है।

इसी प्रकार शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गए हैं-

अह खंति मद्दवऽज्जवमुत्तीओ जिणमदप्पहाणाओ।

आलंबणाइं जेहिं सुक्कज्झणं समारुहइ।।

-ध्यान शतक ६९, धवलटीका पुस्तक १३ गाथा ६४ पृष्ठ ८०।

अर्थ-क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये जिनमत में ध्यान के प्रधान आलंवन या अंग कहे गये हैं। इन आलंबनों का सहारा लेकर ध्याता शुक्ल ध्यान पर आरूढ होता है। लेखक ने 'पुण्य-पाप तत्त्व' पुस्तक के 'पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से' प्रकरण में तत्त्वार्थ सूत्र एवं भगवती सूत्र के उद्धरणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि क्षमा से सातावेदनीय, मार्दव से उच्च गोत्र, आर्जव से शुभ नाम कर्म और मुक्ति से शुभ आयु का शुभास्रव व शुभानुबंध होता है और इन्हीं गुणों में शुक्लध्यान होता है। अर्थात् जो शुक्लध्यान के हेतु हैं वे ही शुभास्रव, पुण्यास्रव या शुभानुबंध के भी हेतु है। शुक्ल ध्यान मोक्ष का हेतु है। अतः शुभास्रव और शुभानुबंध मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते। क्षमा, मार्दव, आर्जव व मक्ति इन गुणों की उपलब्धि क्रमशः क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के क्षय से होती है। अतः ये गुण जीव के स्वभाव हैं, धर्म हैं, परिणामों की विशुद्धि के द्योतक हैं शुद्धोपयोग हैं और इन गुणों का क्रियात्मक रूप शुभ योग है। अतः ये पुण्यास्रव के हेतु हैं। इससे जयधवल टीका में प्रतिपादित यह कथन की कि 'शुद्धोपयोग और अनुकंपा (शुभ योग) से पुण्यास्रव होता है', पुष्ट होता है। कषाय की हानि या क्षय से ही परिणामों में शुद्ध तथा योगों में शुभता आती है, जिससे ही पुण्य का आस्रव व अनुबंध होता है।

कर्म-सिद्धान्त के तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि चार घाती कर्मों की ४७ पाप कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय व सत्ता वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक चारित्र में बाधक हैं। पुण्य कर्मों की कोई भी प्रकृति वीतरागता में, शुक्ल ध्यान में या मुक्ति मार्ग में बाधक नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि पुण्य के आस्रव की हेतु दया, दान, करुणा आदि सद् प्रवत्तियों का व शुभ योग तथा समिति गुप्ति, संयम आदि का त्याग किये बिना वीतरागता, क्षायिक

चारित्र, केवलज्ञान, केवल दर्शन की उपलब्धि संभव नहीं। है। ऐसी मान्यता नितान्त निराधार है एवं कर्म-सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान व आगम-विरुद्ध है और मानवता की भी घोर विरोधी है। वास्तविकता तो यह है कि दया, दान, करुणा, अनुकंपा, सेवा सरलता, मृदुता आदि सद् प्रवत्तियों व शुभयोग से तथा समिति, गुप्ति, संयम आदि समस्त साधनाओं के पाप कर्मों के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर व निर्जरा से ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। संक्षेप में कहें तो दोष या पाप से आत्मा अशुद्ध-अपवित्र होती है। दोष या पाप प्राणी के करने से होता है, स्वत: नहीं होता है। अत: दोष के त्याग से, दोष न करने से आत्मा निर्दोष एवं पवित्र होती है जिससे पुण्य कर्मों का आस्रव एवं अनुबन्ध होता है। आशय यह है कि पुण्य कर्मों का आस्रव एवं अनुबंधस, निर्दोषता से, पाप के त्याग से स्वत: होता है। अत: साधक पर पाप के त्याग का ही दायित्व है, पुण्य का नहीं। पुण्यास्रव व पुण्यानुबंध पाप से त्याग से होता है। अत: पुण्य कर्म में भी महत्व पाप के त्याग का ही है।

इस कृति में मैंने जो निष्कर्म दिए हैं, वे जैनागम एवं कर्म-सिद्धान्त के ग्रंथों में प्रतिपादित तथ्यों के आधार पर स्थापित हैं। मैंने लेखन में तटस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण अपनाने का एवं भाषा में संयत रहने का प्रसास किया है। तथापि मेरे क्षायोपशमिक ज्ञान में कमी या भूल होना संभव है। अत: मैं उन सभी आगमज्ञ विद्वानों, तत्त्वचिंतकों एवं विचारको के सुझावों, समीक्षाओं, समालोचनाओं एवं मार्ग-दर्शन का आभारी रहूँगा, जो प्रस्तुत कृति का तटस्थ भाव से अध्ययन कर अपने मन्तव्य से मुझे अवगत करायेंगे।

विशेष जानकारी के लिए 'निर्जरा तत्त्व' पुस्तक के निम्नांकित अध्याय पठनीय हैं:-

निर्जरा तत्त्व में पापकर्मों की निर्जरा ही इष्ट है, पुण्यकर्मों की नहीं; दु:खमुक्ति का उपाय : संवर-निर्जरा; कर्म-निर्जरा की साधना : सम्यक् तप; कर्म-निर्जरा की प्रक्रिया : तप-साधना; शुभ व शुद्धभाव से कर्म क्षय होते हैं; उपवास; विनय; वैयावृत्त्य; स्वाध्याय एवं उसके आनुषङ्गिक फल; स्वाध्याय का आभ्यन्तर तपपरक अर्थ; धर्मध्यान : स्वरूप, प्रकार एवं उद्देश्य; धर्मध्यान की चार भावनाएँ; कर्म-निर्जरा एवं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया : ध्यान; ध्यान-साधना का मनोवैज्ञानिक पक्ष; स्वाध्याय, ध्यान तथा कायोत्सर्ग से कर्म-निर्जरा; ध्यानविषयक जिज्ञासाएँ और समाधान।

आमुख

(लेखक की मूल पुस्तक 'निर्जरा तत्त्व' से उद्धृत)

-धर्मचन्द जैन

पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय किये बिना मोक्ष नहीं होता। निर्जरा में कर्मों का क्षय दो प्रकार से होता है-स्वतः और पुरुषार्थतः। जब कर्म स्वयं अपने निर्धारित समय पर उदय में आते हैं, तब कर्मों की स्वतः निर्जरा होती है। यह निर्जरा सभी संसारी जीवों के नियमित रूप से होती रहती है। इस निर्जरा से मोक्ष का लक्ष्य पूर्ण नहीं होता, क्योंकि इसमें अधिक कर्मों की निर्जरा नहीं होती, साथ ही नवीन कर्मों का बन्ध भी जारी रहता है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे अकाम निर्जरा अथवा सविपाक निर्जरा कहा जाता है। दूसरे प्रकार की निर्जरा के लिए तप रूपी पुरुषार्थ अपेक्षित है। इसमें कर्म अपने उदय काल के पूर्व ही उदीर्ण होकर निर्जरित हो जाते हैं। इस निर्जरा के अन्तर्गत कर्मों के स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध का अपकर्षण या घात होता है। जिससे कर्म तीव्रता से निर्जरित होते हैं। निर्जरा की यह प्रक्रिया पुरुषार्थपूर्वक होती है, इसलिए इसे पुरुषार्थतः होने वाली निर्जरा कहा जा सकता है। जैन शब्दावली में इसे सकाम निर्जरा अथवा अविपाक निर्जरा कहा गया है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक मनीषी विद्वद्वर्ग श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत द्वितीय प्रकार की निर्जरा को ही स्थान दिया है।

कर्मों की निर्जरा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके होने पर ही चारित्र और तप सम्यक् होते हैं। तप को निर्जरा का प्रमुख साधन प्रतिपादित करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि सम्यक् ज्ञानी का तप उच्छ्वास मात्र काल में कर्मों की जितनी निर्जरा करता है उतनी अज्ञानी करोड़ों वर्षों में भी नहीं कर पाता-

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाइं वासकोडीहिं।
तं नाणी तीहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं।।

ज्ञानी (सम्यदर्शन युक्त) भी यह कर्मक्षय मन, वचन और काया की गुप्ति से युक्त होकर तप करने पर कर पाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सकाम निर्जरा में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप चारों सहायभूत हैं। सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान इस निर्जरा में आधार भूमि का कार्य करते हैं तथा सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इस निर्जरा में अनवरत वृद्धि करते हैं। कर्म ग्रन्थ,

तत्त्वार्थ सूत्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थों में गुणश्रेणि का निरूपण करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। उदाहारणार्थ देवेन्द्र सूरि विरचित पंचम कर्मग्रन्थ की निम्नांकित गाथाएं उल्लेखनीय हैं-

सम्मदरसव्वविरई अणविसंजोयदंसखवगे य।
मोहसमसंतखवगे खीणसजोगियर गुणसेढी।।
गुणसेढी दलरयणाणुसमयमुदयासंखगुणणाए
एयगुणा पुण कमसो असंखगुणनिज्जरा जीवा।।

-पंचम कर्मग्रन्थ, ८२ एवं ८३

अर्थात् सम्यक्तव, देशविरति, सर्वविरति, अनंतानुबंधी का विसंयोजन, दर्शन मोहनीय का क्षपक, चारित्र मोहनीय का उपशमक उपशान्त मोह, क्षपक क्षीणमोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली ये ग्यारह गुण श्रेणियों के स्थान हैं। कर्म के उदय समय से लेकर प्रति समय असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे कर्म दलिकों की रचना के गुणश्रेणी कहते हैं। सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति आदि गुण वाले जीव क्रमशः असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं।

सर्वप्रथम सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय स्थितिघात एवं रसघात होता है, फिर गुणश्रेणि के अनन्तर असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती है। इस निर्जरा में कर्मों के प्रदेशोदय का अनुभव किया जाता है। सम्यक्त्व के प्राप्तिकाल में एक मुहूर्त्त तक जीव प्रतिसमय असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है। इसके अनन्तर जीव जब देशविरति का पालन करता है अर्थात् अणुव्रती बनता है तब वह दूसरी गुणश्रेणि करता है। इसमें पूर्वापेक्षया असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ का विसंयोजन करता है तब भी असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है। दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों (मिथ्यात्व मोह, सम्यक्त्व मोह, मिश्र मोह) के विनाश को दर्शन मोहनीय का क्षपक कहा जाता है, यह पाँचवी गुण श्रेणि है। आठवें, नवमें और दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उपशम करते समय छठी गुणश्रेणि होती है। उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में सातवीं गुणश्रेणि होती है। क्षपकश्रेणि में चारित्र मोहनीय का क्षपण करते समय आठवीं गुणश्रेणि होती है। क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में नवमी गुणश्रेणि होती है। सयोगी केवली नामक तेरहवें गुणस्थान मे दसवीं और अयोगी केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में ग्याहवीं गुणश्रेणि होती है। इन सभी

गुणश्रेणियों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे असंख्यात गुणे कर्म दलिकों की गुणश्रेणि निर्जरा होती है। तत्त्वार्थ सूत्र में सयोगी और अयोगी में स्थान पर 'जिन' शब्द का प्रयोग हुआ है। शेष गुणश्रेणियों का उल्लेख यथावत् है-

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशम- कोपशान्त-मोह क्षपक क्षीणमोहजिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। तत्त्वार्थसूत्र ९/४७)

गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी इन्हीं गुणश्रेणियों का उल्लेख है। यहाँ यह भी कहा गया है कि ज्यों ज्यों गुणश्रेणि बढ़ती है त्यों त्यों संख्यात गुणा काल कम लगता है।

'निर्जरा' जैन धर्म-दर्शन में मोक्ष की साधना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वैदिक परम्परा में यह माना जाता है कि कृत कर्मो को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता है। किन्तु जैन-दर्शन में निरूपित निर्जरा तत्त्व इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि कर्मों को उसी रूप में भोगे बिना भी उसका क्षय किया जा सकता है। कर्मों के अनुभाग और स्थिति का घात हो जाने से उन्हें भोगना आवश्यक नहीं होता, मात्र प्रदेशोदय ही भोगा जाता है।

आत्म-प्रदेशों से कर्म-पुद्गल का पृथक् होना ही निर्जरा है- 'निर्जरणं निर्जरा, विशरणं परिशटनमित्यर्थः।'' इन कर्म-पुद्गलों का वेदना का काल भिन्न एवं निर्जरा का काल भिन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रदेशोदय के रूप में कर्म-पुद्गल का वेदन होने के अनन्तर ही वे आत्मा से पृथक होते हैं। निर्जरा के अनेक विध प्रकार हो सकते हैं। आठ प्रकार के कर्मों की निर्जरा होने से निर्जरा के आठ प्रकार भी हो सकते हैं तथा निर्जरा के प्रमुख साधन तप के आधार पर निर्जरा के १२ भेद भी प्रतिपादित है।

बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया को समझने की दृष्टि से जैन दर्शन में नवतत्त्व प्रतिपादित हैं- १. जीव, २. अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आस्त्रव, ६ संवर, ७ निर्जरा, ८. बन्ध ओर ९ मोक्ष। इनमें पुण्य, संवर और निर्जरा ये तीन तत्त्व जीव को मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

निर्जरा के लिए तप का सम्यक् आराधन आवश्यक है। तप भी बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनो के छः भेद हैं। बाह्य तप के छः भेद हैं- १. अनशन, २. ऊणोदरी, ३ भिक्षाचर्या (वृत्ति परिसख्यान) ४. रसपरित्याग, ५ कायक्लेश और ६. प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तर तप के छः भेद इस प्रकार हैं- १

प्रायश्चित, २. विनय. ३. वैयावृत्त्य, ४ स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग। ये सभी प्रकार के तप पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करने में महत्त्वपूर्ण साधन हैं तथा इनसे सकाम निर्जरा या अविपाक निर्जरा फलित होती है। पुस्तक में तप के इन सभी भेदों का कर्म-निर्जरा के परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है। बाह्य तप में अनशन (उपवास) पर पृथक अध्याय है। आभ्यन्तर तप में विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग की भी विशेष अध्यायों में चर्चा की गई है।

पुस्तक-लेखन के पीछे लेखक की गहन अन्तर्दृष्टि छुपी हुई है। निर्जरा तत्त्व पर अभी तक कोई स्वतन्त्र प्रस्तक देखने में नहीं आई। इसके पूर्व तत्त्व ज्ञान को लेकर लोढ़ा साहब की तीन पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं- १. जीव-अजीव तत्त्व, २. पुण्य-पाप तत्त्व, ३. आस्रव-संवर तत्त्व। उसी क्रम में यह 'निर्जरा तत्त्व' पुस्तक भी लेखक के गहन चिन्तन मनन और आध्यात्मिक दृष्टि का परिचय देती है। प्रायः यह माना जाता है कि मुक्ति की प्राप्ति के लिए पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों की निर्जरा आवश्यक है। परन्तु इस मान्यता पर प्रहार करते हुए लेखक ने आगम-प्रमाण के अधार पर यह भली-भांति सिद्ध किया है कि निर्जरा तत्त्व में पाप कर्मों की निर्जरा ही इष्ट है, पुण्य कर्मों की नहीं। समस्त आगम-वाक्य इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं कि तप से पाप कर्मों की ही निर्जरा होती। उदाहरण के लिए-

तवसा धुणइ पुराणपावगं जुत्तो सया तवसमाहिए।

(दशवैकालिक सूत्र ९.४४)

धुणन्ति पावाइं पुरे कडाइं। (दशवैकालिक सूत्र ३.३८)

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवें अध्ययन में भी पाप कर्मों का क्षय करने की प्रेरणा की गई है-

जहा उ पावगं कम्मं रागदोससमज्जियं।

खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण।।-उत्तरा. ३०१

लेखक ने अपने इस मन्तव्य की सिद्धि प्राक्कथन में एवं पुस्तक के द्वितीय लेख में की है। उनके मन्तव्य में बहुत बड़ा बल है। क्योंकि प्रारम्भ में क्षपकश्रेणि में आरूढ होने पर मोह, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक पाप-कर्मों का ही क्षय किया जाता है। किसी भी पुण्य कर्म का क्षय नहीं किया जाता है। केवलज्ञान होने के पश्चात् पुण्य कर्मों की बाहर प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, जो आयु

क्षीण होने के साथ समाप्त हो जाती हैं। उनकी निर्जरा के लिए किसी तप-साधना की आवश्यकता नहीं होती। यह अवश्य है कि केवलज्ञानी केवलिसमुद्घात करके अन्य कर्मों की स्थिति को भी आयुष्य के समान कर लेता है। लेखक ने स्पष्ट शब्दों में लिखा हैं- 'निर्जरा तत्त्व में पाप कर्मो की ही निर्जरा इष्ट है, पुण्य कर्मों की नहीं। पुण्य कर्मों की समस्त प्रकृतियाँ पूर्ण रूपेण अघाती हैं। इनसे जीव के किसी भी गुण का अंशमात्र भी घात नहीं होता है। अपितु क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना के समय तप से सत्ता में स्थित समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभव बढ़कर उत्कृष्ट होता है तब ही केवलज्ञान होता है। पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग मुक्ति-प्राप्ति के पूर्व क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है। केवलि-समुद्घात, योग निरोध आदि किसी भी साधना से यह अनुभाग क्षीण नहीं होता है।'' (पृष्ट-४) 'पुण्य कर्मों की निर्जरा दो ही प्रकार से हो सकती है- पुण्य कर्मों का उदय होने से उन्हें भोगकर अथवा पाप प्रवृत्ति में वृद्धि होने से। अहिंसा, संयम, तप आदि समस्त साधनाएँ दोषों को, पापों को त्यागने के लिए होती हैं। पापों के त्याग से पाप-कर्मों की ही निर्जरा होती है, पुण्य कर्मों की नहीं।'' (पृष्ट-७)

एक यह भ्रान्त धारणा प्रचलित है कि शुभ-भाव से कर्म क्षय नहीं होता, प्रत्युत कर्म बन्धन होता हैं। लोढ़ा साहब ने इस धारण पर पुस्तक के 'शुभ व शुद्ध भाव से कर्मक्षय होते हैं, लेख में प्रहार करते हुए यह प्रमाणित किया है कि शुभ व शुद्ध भावों से कर्मो का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नहीं सकता। श्वेताम्बर परम्परा में शुभ योग को संवर कहा गया है। शुभ योग जहाँ आस्रव-निरोध का कारण है, वहाँ कर्म क्षय का भी हेतु है, क्योंकि तप-साधना में भावों की शुद्धता ही मुख्य है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना तप में भी भावों की शुद्धता नहीं आती है और तप ही निर्जरा का प्रमुख साधन है।

भावों का निरुपण करते हुए उन्हें पाँच प्रकार का प्रतिपादित किया गया है- १. औपशमिक, २. क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४. औदयिक और ५. पारिणामिक। इनसें से औदयिक भावों से कर्मबन्ध होता है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों से मोक्ष होता है तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनों में हेतु नहीं है। लेखक ने यह भली-भाँति प्रतिपादित किया है कि कषाय में कमी होना शुभ भाव है। शुभ भाव की उत्पत्ति कषाय के उदय से अथवा किसी अशुभ कर्मोदय से मानना आगम-विरुद्ध है। राग को प्रशस्त या शुभ मानना कर्म-सिद्धान्त या जैनागम से मेल नहीं खाता। वीतराग देव, गुरु, धर्म व गुणीजनों के प्रति जो प्रमोद भाव होता

है वह राग नहीं, अनुराग है, प्रेम है। राग त्याज्य होता है, अनुराग नहीं। राग में आकर्षण और भोग होता है, अनुराग में प्रमोद और प्रसन्नता होती है, भोग नहीं। शुद्ध व शुभ भाव से आयी कषाय की कमी से कामना, ममता, अहंता, कर्तुत्व भाव और भोक्तृत्व भाव में कमी आती है। (द्रष्टव्य पृष्ट ४८)। कषाय की कमी रूप क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मों का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों के अनुभाग बढ़ता है। (पृष्ट ५१) लेखक ने यह दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया है पुण्य का अनुभाग किसी भी साधना से क्षय नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा है कि यदि किसी को पुण्य के अनुभाग का क्षय इष्ट ही हो तो उसका एकमात्र उपाय है- संक्लेश भाव। पाप की वृद्धि ही एकमात्र पुण्य के अनुभाग के क्षय का उपाय है अन्य कोई उपाय मेरी जानकारी में नहीं है। (पृष्ठ ५३)

लेखक ने श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों के आधार पर निरूपित किया है कि शुभ परिणामों की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है, जिससे पाप-प्रकृतियों के स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध व पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बन्ध का क्षय होता है।

लोढ़ा साहब ने उपर्युक्त मन्तव्यों की पुष्टि दशवैकालिक सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, ध्यानशतक धवलाटीका आदि कर्मग्रन्थ ग्रन्थों से की है।

❑❑❑

बंध तत्त्व

बंध तत्त्व का स्वरूप

बंध-तत्त्व में कर्मबंध से संबंधित वर्णन है। कर्म-बंध की परिभाषा करते हुए कर्मग्रन्थ के प्रथम भाग में कहा है-

''कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं।'' (गाथा 1)

जीव के द्वारा मन, वचन, काया की कषाय आदि हेतुओं से जो क्रिया की जाती है, उसे कर्म कहते हैं अर्थात् जीव द्वारा कषाययुक्त प्रवृत्तियों के कारण से जो आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन होता है, जिसके आकर्षण से आत्मा से भिन्न पुद्गल (कार्मण वर्गणा) चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्म-प्रदेशों से सम्बद्ध व एकरूप हो जाते हैं, इसे ही कर्म-बंध कहते हैं।

आशय यह है कि इन्द्रिय, मन आदि से जो क्रिया की जाती है, उससे कर्म-बंध होता है और जो क्रिया स्वत: होती है, उससे कर्म-बंध नहीं होता है। कारण कि करने में क्रिया या प्रवृत्ति का राग और सुख पाने रूप फल की इच्छा होती है अर्थात् कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव होता है, इससे उस क्रिया का प्रभाव आत्म-प्रदेशों पर, अंत:करण पर अंकित होता है और स्थित रहता है, यही कर्म-बंध है अथवा यों कहें कि इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है- 1. स्वयं के द्वारा की जाने वाली और 2. स्वत: होने वाली । उदाहरणार्थ- 1. चक्षु इन्द्रिय से किसी सुन्दर दृश्य को देखने की रुचि होना और उस सुंदरता से सुख भोगने के लिए प्रवृत्ति करना तथा सुख का भोग करना। इससे उसका प्रभाव अंकित होना, संस्कार निर्माण होना कर्म-बंध है तथा 2. नयन खोलने से अनेक दृश्यों का दिखाई देना, परन्तु उनसे सुख

न लेना, भला-बुरा न समझना, उनके प्रति राग-द्वेष न होना, उनका प्रभाव अंकित न होना बन्ध नहीं है। इसी प्रकार चक्षुइन्द्रिय से अनेक दृश्य स्वत: दिखाई देने से कर्म-बंध नहीं होता है।

कोई व्यक्ति शरीर में तेल (स्नेह) लगाकर धूल में लेटे, तो धूल उसके शरीर के चिपक जाती है, उसी प्रकार आत्म-प्रदेशों में जब राग-द्वेष से परिस्पन्द, प्रकम्पन होता है तब आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म पुद्गल सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में बन्ध होता है। जैसे दूध और पानी का, आग और लोहे के गोले का सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध होता है, बंधन होता है।

'बंधन' है- पर से जुड़ना, पराधीन होना। पराधीनता दु:ख है। अत: सर्वप्रथम बंधन के स्वरूप को समझना आवश्यक है। वस्तुत: यह बंधन बाहरी नहीं है, अपितु प्राणी की क्रियाओं व इच्छाओं से निर्मित आन्तरिक बन्धन है, जिसे जैन दर्शन में कर्म-बंध होना कहा है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हम जो भी क्रिया, काय या विचार की प्रवृत्ति करते हैं, उसके प्रभाव का बिंब, चित्र या रूप हमारे अंत:स्तल पर अंकित हो जाता है। इसे साधारण भाषा में 'संस्कार पड़ना' व जैन दर्शन में 'कर्मबंध' कहा जाता है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप संस्कार की संरचना अनवरत होती रहती है तथा इन संस्कारों का अन्तरतम में संचय होता रहता है, जो भविष्य में उपयुक्त समय आने व अनुकूल निमित्त मिलने पर अभिव्यक्त होकर प्राणी को अपना परिणाम भोगने के लिए विवश करते हैं।

प्राणी का अंत:करण या अंतस्तल एक कैमरे में लगी फिल्म के समान है। इस फिल्म में प्राणी सोचता है, विचारता है, इच्छा करता है, वेदन करता है आदि जो भी प्रवृत्ति या क्रिया करता है, उन सबके चित्र सदैव अंकित होते रहते हैं। फिल्म पर लगे हुए रासायनिक पदार्थ एवं बाहर से पड़ने वाले प्रतिबिंब, इन दोनों के संयोग से ही चित्र का निर्माण होता है। बाहर से वस्तु, घटना का अन्त:करण पर जैसा प्रतिबिंब पड़ता है, उसी के अनुरूप अन्त:करण की फिल्म पर चित्र बनता है। प्रतिबिंब जितना प्रकाशमय व स्पष्ट होता है, चित्र भी उतना ही अधिक स्पष्ट प्रकट होता है, उभरता है। अंधेरे में चित्र स्पष्ट नहीं आता है। फिल्म पर पारा आदि जैसा मंद- तीव्र रासायनिक पदार्थ लगा होता है, चित्र उतने ही अधिक व कम काल तक टिकने वाला तथा सादा व रंगीन आता है। इसी प्रकार मन, वचन तथा तन की प्रवृत्ति जैसी होती है, वैसी ही प्रकृति बनती है, जितनी अधिक प्रवृत्ति होती है, प्रकृति उतनी ही

प्रगाढ़ व घनीभूत होती है, भीतर के भावों का रस रासायनिक पदार्थों के समान है। अत: रस या कषाय जितना अधिक होता है, प्रकृति उतने ही अधिक काल तक स्थित रहने वाली होती है तथा रस या कषाय के अनुरूप ही प्रकृति शुभ-अशुभ या तीव्र-मंद फल देने वाली होती है।

इन चित्रों का निर्माण आत्म-प्रदेशों के समीपवर्ती अति सूक्ष्म पुद्गल कार्मण-वर्गणाओं से होता है। कार्मण-वर्गणाओं से निर्मित इन चित्रों को कर्म कहा जाता है। आत्मा द्वारा ग्रहण किये उन कर्मों के समुदाय को कार्मण शरीर कहते हैं। यह कार्मण शरीर प्राणी के अंत:स्थल में सदैव विद्यमान रहता है। प्राणी की शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, बल, प्राण आदि का निर्माण इसी के अनुसार होता है। यह कार्मण शरीर ही प्राणी का भाग्य विधाता है। इसी में प्राणी के सभी भले-बुरे कामों का, कर्मों का लेखा-जोखा रहता है और उसी के अनुसार भला-बुरा, शुभ-अशुभ फल मिलता है। शुभ फल को सौभाग्य तथा अशुभ (बुरे) फल को दुर्भाग्य कहा जाता है।

कर्म-बंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं

जैन-दर्शन में योग और कषाय ये दो कर्म-बंध के कारण कहे गये हैं। योग से कर्मों का प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है, ऐसा कहा गया है, सो यथार्थ ही है। कारण कि योगों की प्रवृत्ति से कर्मों की रचना (सर्जन) और कषाय से कर्मों का बंध होता है।

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि प्रवृत्ति के बिना कर्मों या दलिकों का अर्जन नहीं हो सकता और कर्मों का अर्जन ही नहीं हो तो बंध किसका होगा। अत: योगों के अभाव में बंध का अभाव होगा। इस प्रकार कर्म-बंध की मौलिक सामग्री का निर्माण योगों से होता है। परन्तु कर्म दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होना और उसका बंध होना ये दोनों एक बात नहीं है। वीतराग केवली के योगों की प्रवृत्ति है, अत: कर्म-दलिकों का अर्जन तो होता ही रहता है, परन्तु कर्म-बंध नहीं होता है।

विश्व में कर्म-वर्गणा सर्वत्र विद्यमान है और आत्माएँ भी सर्वत्र विद्यमान हैं अर्थात् जहाँ कर्म वर्गणा विद्यमान है वहाँ आत्मा भी विद्यमान है, फिर भी उन कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ बंध नहीं होता है, क्योंकि उनका आत्मा के साथ संबंध स्थापित नहीं हुआ है। कर्मों का आत्मा के साथ स्थापित या स्थित होना ही कर्म-बंध है और ये कर्म जितने काल तक स्थित रहेंगे वह ही स्थिति बंध है। इस

प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का स्थित होना और स्थिति बंध का घनिष्ठ संबंध है और स्थिति बंध होता है कषाय से। इस दृष्टि से कर्म-बंध का प्रधान कारण कषाय है। **''गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्म पयडिओ बंधसु, बंधति, बंधिस्सति तंजहा- कोहेणं, माणेणं मायाए, लोभेणं। दं. 1-24 एवं नेरइया जाव वेमाणिया।''**

-पन्नवणा पद 14, द्रव्यानुयोग पृष्ठ 1093

हे गौतम! जीवों ने चार कारणों से आठ कर्म प्रकृतियों का बंध किया है, करते हैं और करेंगे, यथा क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से। इसी प्रकार नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक 24 दण्डकों में जानना चाहिये।

वस्तुतः कषाय ही बंध का कारण है, योग नहीं। योग से केवल कर्मों के दलिकों (प्रदेशों) का अर्जन होता है, बंध नहीं। क्योंकि जिन कर्मों का स्थिति बंध नहीं होता उनका न प्रकृति बंध होता है, न प्रदेश-बंध और न अनुभाग बंध। ये तीनों प्रकार के बंध स्थिति बंध होने पर ही संभव हैं।

यह नियम है कि कषाय की वृद्धि से पूर्व संचित समस्त पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग में वृद्धि होती है तथा कषाय की कमी से स्थिति व अनुभाग में कमी होती है। निष्कर्ष यह है कि कर्मों का बंध, सत्ता, उद्वर्तन (वृद्धि), अपवर्तन (कमी), क्षय आदि कर्मों की समस्त स्थितियाँ कषाय पर ही निर्भर करती हैं। कहा भी है- **''कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव''** अर्थात् कषाय मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

कर्म सिद्धान्त के विभिन्न घटक

'कर्म' शब्द का अर्थ क्रिया है अर्थात् जीव द्वारा की जाने वाली क्रिया या प्रवृत्ति को कर्म कहते हैं। प्रवृत्ति का प्रभाव प्राणी के अंतस्तल पर संस्कार रूप में अंकित होता है। इसे ही जैनदर्शन में कर्मबंध कहा है। इस अध्याय में कर्म सिद्धान्त-विषयक विभिन्न घटकों का संक्षेप में विवेचन किया जाएगा, यथा- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश बंध, कर्म की आठ प्रकृतियाँ, कर्म-विपाक के चार प्रकार, करण-सिद्धान्त आदि।

बंध चतुष्टय

जैन धर्म में प्रवृत्ति के मानसिक, वाचिक और कायिक ये तीन प्रकार कहे हैं। जिन प्रवृत्तियों से आत्म-प्रदेशों में स्पंदन (हलचल) हो, प्रभाव पड़े अर्थात् उनसे

सम्बन्ध स्थापित हो जाय, उन प्रवृत्तियों को योग कहा है। कारण कि इससे प्राणी उस प्रवृत्ति या प्रकृति से जुड़ जाता है। योग से आत्म-प्रदेशों पर पड़ा प्रभाव, चित्र या अंकित संस्कार जिस प्रकार का है, उसे प्रकृति बंध कहते हैं। प्रवृत्तियों की प्रबलता से, सघनता से उस प्रभाव का चित्र जितना स्पष्ट अंकित होता है एवं प्रभाव जितना पुष्ट होता है, उसे प्रदेश बंध कहा जाता है। इसलिए प्रकृति और प्रदेश के बंध का कारण योग या प्रवृत्ति को बताया गया है। इन तीनों प्रवृत्तियों में जैसी तीव्र मंद रसानुभूति होती है वैसा ही तीव्र-मंद रसबंध या अनुभाग बंध होता है और उस रसानुभूति की प्रगाढ़ता जितनी अधिक होती है, उतने ही अधिक काल तक वह टिकने वाला होता है। इस काल मर्यादा को स्थिति बंध कहा है। रसानुभूति को जैन दर्शन में अनुभाग कहा है तथा जैन दर्शन में कषाय को ही स्थिति व अनुभाग बंध का कारण कहा है। इस प्रकार कर्म बंध के 1. प्रकृति बंध 2. स्थिति बंध 3. अनुभाग बंध और 4. प्रदेश बंध, ये चार प्रकार हैं।

बंध-सत्ता-उदीरणा-उदय

कर्म-बंध के ये चारों प्रकार भविष्य में फल देने से सम्बन्ध रखते हैं। किसी क्रिया या कार्य का प्रभाव आत्मा में अंकित होना कर्म-बंध है। अंतःकरण पर पड़े प्रभाव का प्रकाशन भविष्य में ही सम्भव है। प्रभाव का यह प्रकाशन ही कर्म का परिणाम है। कर्म के इस परिणाम को, कर्म-विपाक या कर्मोदय कहा गया है। यह प्रभाव का प्रकाशन अथवा उदय तदनुकूल विभिन्न कारण मिलने पर ही प्रकट होता है। जब तक प्रकट नहीं होता, तब तक वह संस्कार अंतःकरण में, अचेतन मन में, कारण शरीर में, कार्मण शरीर में अंकित रहता है, उसमें स्फुरणा नहीं होती। फिर भी संस्कार का सत्त्व विद्यमान रहता है। इसे कर्म की सत्ता कहा जाता है। निमित्त आदि किसी कारण से उस संस्कार में प्रकट या उदय होने के लिए स्फुरणा होना उदीरणा कहा जाता है और उस स्फुरणा का प्रवृत्ति रूप में प्रकट होना उदय कहा जाता है।

कर्म प्रकृतियाँ

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं- 1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयु 6. नाम 7. गोत्र 8. अन्तराय।

(1) ज्ञानावरणीय : जो ज्ञान का, विवेक का आवरण करे, वह ज्ञानावरणीय है। आवरण उसी पर होता है, जो वस्तु मौजूद है। शरीर आदि जो वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं उनका व्यय या विनाश अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार इन्द्रिय सुख, विषय सुख

क्षणिक हैं, अस्थायी हैं। हमें विनाशी वस्तु या क्षणिक सुख नहीं चाहिए, अपितु अविनाशी तत्त्व, स्थायी(शाश्वत), अक्षय, स्वाधीन सुख चाहिए, यह माँग सभी की है। जिसकी पूर्ति विनाशी के त्याग से तथा विषय सुख के त्याग से ही सम्भव है। यह सब ज्ञान सभी को है, यह निज ज्ञान है, आत्म-ज्ञान है। फिर भी हम क्षणिक सुख के नशे के मोह में मूर्च्छित होकर इस ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं करते। इस ज्ञान का अनादर, उपेक्षा करते हैं, फलतः इस ज्ञान का प्रभाव (प्रकाश) हमारे पर प्रकट नहीं होता, जिससे प्राणी विनाशी वस्तुओं के भोगों में गृद्ध रहता है। इस प्रकार जानने की शक्ति रूप ज्ञान का प्रकाशन न होना, आवृत्त रहना ज्ञानावरणीय कर्म है। इस कर्म की मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान पर आवरण रूप पाँच प्रकृतियाँ हैं।

(2) दर्शनावरणीय : स्व-संवेदन को अर्थात् निजचेतना के अनुभव को दर्शन कहते हैं। विषय भोग के मोह व आसक्ति से जड़ता आती है, जिससे स्वसंवेदन रूप निज चेतना की शक्ति (अनुभव) प्रकट नहीं होती है, आवरित हो जाती है, इसे ही दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। इसकी पाँच निद्रा एवं चार दर्शन पर आवरण रूप नौ प्रकृतियाँ हैं।

(3) वेदनीय : जो संवेदना प्रकट होती है उसमें अनुकूल संवेदना का साता के रूप में और प्रतिकूल संवेदना का असाता के रूप में वेदन (अनुभव) करना, ये वेदनीय कर्म के साता-असाता रूप दो भेद हैं।

(4) मोहनीय : इन्द्रियों के विषय-भोगों में गृद्ध व मोहित (मूर्च्छित) होना अपने अविनाशी, निर्विकार, परमानन्द स्वरूप का भान भूल जाना, उससे विमुख हो जाना मोहनीय कर्म है। इसकी अनन्तानुबंधी क्रोध, मान आदि 28 प्रकृतियाँ हैं।

(5) आयुष्य : आसुरी, पाशविक, मानवीय आदि प्रकृतियों का दृढ़तम होकर स्थायी रूप ले लेना फिर उसी प्रकार का शरीर व भव धारण करना आयु कर्म है। इसकी तिर्यंच, मनुष्य, देव और नरक चार प्रकृतियाँ हैं।

(6) नाम : शरीर, मन, वचन से संबंधित प्रवृत्तियाँ एवं प्रकृतियाँ नाम कर्म हैं। ये गति, जाति, शरीर आदि के भेदों से 93 प्रकृतियाँ हैं।

(7) गोत्र : शरीर, रूप, बल, बुद्धि, वस्तु आदि की प्राप्ति के आधार पर अपना मूल्यांकन करना अभिमान (मद) करना अर्थात् गौरव व हीनता का अनुभव करना गोत्र कर्म है, यह उच्च गोत्र व नीच गोत्र के भेद से दो प्रकार का है।

(8) अंतराय : दान (करुणा, उदारता, कृपा), लाभ (अभाव का अभाव, ऐश्वर्य, पूर्णता), भोग (निराकुल सुख का अनुभव), उपभोग (निराकुलता के सुख की प्रति क्षण अक्षय नूतन अनुभूति होना), वीर्य (सामर्थ्य या पराक्रम), इनकी अभिव्यक्ति में मोह के कारण विघ्न पड़ता है। यह विघ्न ही अंतराय कर्म है।

इन आठों कर्मों का विशद् वर्णन लेखक की बंध-तत्त्व पुस्तक में प्रत्येक कर्म के वर्णन के प्रारंभ में दिया गया है। कर्म ८ ही होते हैं। निकाचित् और सामुदायिक कर्म नहीं होते, कर्म की अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ कर्म की सामुदायिक अवस्था का वर्णन किया जा रहा है:-

सामुदायिक कर्म

सामुदायिक कर्म का अर्थ प्रचलित मान्यतानुसार अनेक जीवों के समुदाय के किसी घटना विशेष में एक साथ कर्म का बंधना तथा फिर उस बंधे हुए कर्म का एक साथ उदय में आना जिसके परिणामस्वरूप उन जीवों के समुदाय की एक साथ मृत्यु होने अथवा अन्य कोई एक-सा फल देने वाली घटना माना जाता है। परन्तु यह मान्यता जैन कर्म सिद्धान्तानुसार विचारणीय है, यथा- कर्म का बंध चार प्रकार का है। उसमें से स्थिति तथा अनुभाग बंध कषाय (राग-द्वेष-मोह) से होता है। कषाय भाव किन्हीं दो व्यक्तियों का भी समान नहीं होता। अत: किन्हीं दो व्यक्तियों का स्थिति व अनुभाग बंध भी समान नहीं हो सकता तथा पूर्व में बंधी हुई कर्म की स्थिति व अनुभाग में उस जीव के कषाय में वृद्धि व ह्रास होने से निरंतर संक्रमण होता रहता है। इस नियम के अनुसार पूर्व में बद्ध कर्म के स्थिति व अनुभाग में परिवर्तन होता रहता है। कर्म का उदय कर्म की स्थिति व अनुभाग बंध के अनुसार होता है। अत: अनेक व्यक्तियों का समुदाय तो दूर रहा, किन्हीं दो व्यक्तियों के कर्मबंध की स्थिति व अनुभाग समान नहीं हो सकते, और न किसी एक व्यक्ति की बंधी हुई कर्म की स्थिति व अनुभाग ही अन्तर्मुहूर्त तक भी एक से रहते हैं। अत: किन्हीं जीवों के समुदाय की एक सी कर्म स्थिति बंधना तथा स्थिति एक सी समान होना कैसे संभव है? कदापि नहीं। यही तथ्य अनुभाग बंध पर भी घटित होता है अर्थात् अनुभाग भी एकसा नहीं रहता। अत: एक समान फल नहीं मिल सकता।

उपर्युक्त विषय में आयु कर्म अपनी विशेषता रखता है। तदनुसार उसकी स्थिति में निरन्तर परिवर्तन नहीं होता है, परन्तु तिर्यंच, मनुष्य और देव इन तीनों आयु कर्मों की स्थिति शुभ परिणामों से बंधती है, कषाय की क्षीणता से बंधती है।

कषाय-वृत्ति सबकी समान रूप से क्षीण नहीं होती। अतः आयु कर्म की स्थिति भी दो व्यक्तियों की समान बंधने की संभावना नहीं है तथा आयु कर्म अगले एक भव के सिवाय आगे के भवों का नहीं बंधता है। अतः अनेक भव के पश्चात् किसी समुदाय के जीवों का एक साथ आयुकर्म उदय में आवे और उस कर्म के कारण आयु समाप्त होने से एक साथ दुर्घटना में मरे यह भी कर्म सिद्धान्त के अनुसार फलित नहीं होता है तथा उचित प्रतीत नहीं होता है।

यदि किसी दुर्घटना में बहुत से जीवों के समुदाय की एक साथ मृत्यु होना सामुदायिक कर्म बंध व उसके उदय का परिणाम माना जाय तो बाधा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ जब कोई व्यक्ति जमीकंद खाता है तो उसमें सुई के अग्रभाग जितने से भाग में स्थित अनन्तानंत जीवों के एक साथ आकस्मिक दुर्घटना घटती है, जिसमें अनन्तानंत जीवों की मृत्यु हो एक साथ जाती है। उन अनन्तानंत जीवों की मृत्यु का कारण सामुदायिक कर्म बंध माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसा सामुदायिक कर्म बंध अनन्तानंत जीवों ने कहाँ बांधा? कारण कि संपूर्ण पृथ्वीकाय के जीव, समस्त सागरों के जल के जीव, समस्त अग्निकाय, तेउकाय, वायुकाय के जीव, समस्त बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव मिलकर भी सामुदायिक कर्म बांधे तो उनकी संख्या असंख्यात ही रहेगी, अनन्त नहीं होगी। अतः उन अनन्त जीवों की दुर्घटना व मृत्यु का कारण सामुदायिक कर्म बंध नहीं हो सकता। अतः सामूहिक व सामुदायिक मृत्यु का कारण सामुदायिक मानना कर्म-सिद्धान्त सम्मत नहीं है।

भूकम्प, बाढ़, तूफान, दावानल व किसी भी आकस्मिक दुर्घटना में हजारों पंचेन्द्रिय जीवों की और असंख्यात एकेन्द्रिय जीवों की एक साथ मृत्यु होती है। उन जीवों के आयु कर्म का एक साथ क्षय होता है। मृत्यु के कारण में अन्य किसी कर्म प्रकृति का सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। यह नियम है कि नाटक आदि घटनाओं में सभी जीव आयु कर्म न तो 1. एक साथ बांधते हैं 2. न एक समान बांधते हैं और 3. न अनेक भव का बांधते हैं। अतः सामुदायिक क्रिया से आयु कर्म का बंध सभी जीवों का एक साथ-एक समान होना संभव ही नहीं है और न एक साथ उदय आकर क्षय होना ही संभव है। एक भव से अधिक आयुओं का बंध न होने से अगले भव में ही सब जीवों को एक साथ सामुदायिक कर्म भोगना पड़े यह भी संभव नहीं है। 4. भूकम्प, बाढ़, दावानल आदि घटनाओं में मनुष्य या पंचेन्द्रिय प्राणी ही नहीं चतुरिन्द्रिय, तेइन्द्रिय, बेइन्द्रिय, एकेन्द्रिय असंख्य जीव एक साथ मरते हैं तो क्या उनके सबका

वह सामुदायिक कर्म का उदय है? आयु कर्म वर्तमान जीवन के अन्तिम क्षण में अथवा आयु का तिहाई भाग शेष रहने पर बंधता है। किसी भी घटना में वहाँ स्थित सभी जीवों के आयु का अंतिम क्षण व आयु का तिहाई भाग शेष नहीं हो सकता। अत: समुदाय के सभी जीवों के एक साथ एवं एक समान स्थिति वाला आयुकर्म का बंध होना संभव नहीं है आयु कर्म केवल उसके आगामी एक भव का ही बंधता है, उससे आगे के भवों का नहीं बंधता है। यदि सामुदायिक कर्म का प्रचलित अर्थ स्वीकार किया जाय तो किसी घटना के समय बंधने वाले आयु कर्म को भोगने के लिए समुदाय के सभी जीवों का अगले भव में एक ही स्थान में जन्म लेना आवश्यक होगा, जो असंभव है।

जिस समय दुर्घटना घटती है उस समय मनुष्य के समुदाय के साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि हजारों त्रस जीव एवं पृथ्वी, जल आदि असंख्य स्थावर जीव भी उस दुर्घटना के कारण मरते हैं उसे सामुदायिक कर्म व उदय का फल माना जाता है तो उन अन्य जीवों का मरण भी उसी सामुदायिक कर्म के उदय का परिणाम मानना होगा, जो आगम सम्मत व युक्तिसंगत नहीं है। हमारे भोजन करते समय वनस्पति काय के अंनत जीवों, वायुकाय, पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के असंख्यात जीवों की आकस्मिक दुर्घटना से, मृत्यु हो रही है। अत: इन सब जीवों के सामुदायिक कर्म का उदय मानना होगा, जो उचित नहीं है।

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि किन्हीं दो प्राणियों का कर्म परस्पर जुड़कर उदय में नहीं आता है। कारण कि प्रतिक्षण प्रत्येक प्राणी के कर्म में उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण रूप से परिवर्तन होता रहता है। अत: प्रत्येक घटना में सभी जीवों का अपना-अपना कर्म ही उदय में आता है, वह किसी अन्य प्राणी के कर्म से जुड़कर उदय में नहीं आ सकता। यदि जुड़कर उदय में आता होता तो आगम में व कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में उसका कहीं न कहीं उल्लेख अवश्य होता । परन्तु मेरे देखने में ऐसा कहीं नहीं आया। सामुदायिक कर्म का जहाँ भी उल्लेख आया है वहाँ वह केवल आठ कर्मों में से कितने कर्मों के समुदाय का अर्थात् 8 कर्म, 7 कर्म, 6 कर्म के समुदाय का बंध होता है, इस प्रकार का उल्लेख आया है। कहीं पर भी जीवों के समुदाय का एक जुट होकर कर्म बांधने व उदय आने का वर्णन नहीं आया है। आशा है कर्म-सिद्धान्त विशेषज्ञ इस विषय पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

कर्म विपाक के प्रकार

कर्म-प्रकृतियों को विपाक (फलदान) की दृष्टि से चार भागों में बांटा गया है। 1. जीव विपाकी, 2. भव विपाकी 3. क्षेत्र विपाकी और 4. पुद्गल विपाकी।

(1) जीवविपाकी-जिन प्रकृतियों के उदय से जीव के स्वभाव पर, चेतना पर सीधा प्रभाव पड़ता है, वे प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। वेदनीय का प्रभाव जीव पर साता (सुख) और असाता (दुःख) वेदना रूप से तथा गोत्र कर्म का प्रभाव जीव पर ऊँच-नीच भाव के रूप में होता है। अतः इन दोनों कर्मों की चार प्रकृतियाँ भी जीव विपाकी कही गई हैं तथा नाम कर्म की गति की चार, जाति की पाँच, शुभ और अशुभ विहायोगति तथा त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशकीर्ति ये सात एवं इन प्रकृतियों से इतर स्थावर आदि सात तथा श्वाच्छोश्वास तीर्थंकर नाम ये 76 प्रकृतियाँ जीव को प्रभावित करती हैं, अतः ये प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं।

(2) पुद्गल विपाकी : शरीर पुद्गल से निर्मित है, अतः शरीर और शरीर से संबंधित प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी कही गई हैं। यथा- पाँच शरीर, शरीरों की अस्थियों की रचना रूप छह संहनन, शरीरों की आकृति रूप छह संस्थान, शरीरों के तीन अंगोपांग, शरीर के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श एवं शरीर से संबंधित अगुरु-लघु, निर्माण, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, साधारण, प्रत्येक, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर ये 36 प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं। इनमें घर, संपत्ति, भूमि, भवन आदि शरीर से भिन्न पुद्गल का कोई भी प्रकृति नहीं है।

(3) भव विपाकी : आयु कर्म की नरकादि चारों प्रकृतियों का विपाक भव आश्रित है। अतः ये चार प्रकृतियाँ भव विपाकी हैं।

(4) क्षेत्र विपाकी : नरकादि चारों आनुपूर्वी की ये चार प्रकृतियाँ नरकादि गति की ओर ही गति कराती हैं, गति में आबद्ध रखती हैं, अतः ये नरकादि प्रकृतियाँ स्थिति या स्थान, क्षेत्र से संबंधित होने से क्षेत्र विपाकी कही गई हैं।

प्रकृतियों के विपाक का उपर्युक्त विभाजन बड़ा ही मौलिक, व्यावहारिक व युक्तियुक्त है। इन प्रकृतियों में प्राकृतिक घटनाओं व परिस्थितियों से उत्पन्न गर्मी, सर्दी आदि ऋतुओं का होना, अकाल-सुकाल का होना, महामारी का होना एवं आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक स्थितियों व व्यवस्थाओं को, कहीं भी कर्मोदय के परिणाम के रूप में नहीं बताया गया है।

करण-सिद्धान्त : एक विवेचन

जैन-दर्शन की दृष्टि में कर्म भाग्य विधाता है। जैन कर्म-ग्रन्थों में कर्म-बंध और कर्मफल भोग की प्रक्रिया का अति विशद वर्णन है। उनमें जहाँ एक ओर यह विधान है कि बंधा हुआ कर्म फल दिये बिना कदापि नहीं छूटता है, वहीं दूसरी ओर उन नियमों का भी विधान है, जिनसे बंधे हुए कर्म में अनेक प्रकार से परिवर्तन भी किया जा सकता है। कर्म बंध से लेकर फल-भोग तक की इन्हीं अवस्थाओं व उनके परिवर्तन की प्रक्रिया को शास्त्र में करण कहा गया है। कर्म-बंध व उदय से मिलने वाले फल को ही भाग्य कहा जाता है। अत: 'करण' को भाग्य परिवर्तन की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। 'महापुराण' में कहा है-

विधि:, स्त्रष्टा, विधाता, दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति, पर्यायाःकर्मवेधसः ॥437॥

विधि, स्त्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म, ईश्वर ये कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं। अर्थात् कर्म ही वास्तव में ब्रह्मा या विधाता है।

करण आठ हैं- 1. बंधन करण 2. निधत्त करण 3. निकाचित करण 4. उद्वर्तना करण 5. अपवर्तना करण 6. संक्रमण करण 7. उदीरणा करण और 8. उपशमना करण। कर्म-सिद्धान्त विषयक गोम्मटसार कर्मकाण्ड, पंचसंग्रह, कम्मपयडि आदि ग्रन्थों में इन आठ करणों में कर्मों की आठ अवस्थाओं का वर्णन है, जिनका विवेचन वनस्पति विज्ञान एवं चिकित्सा-शास्त्रके नियमों व दृष्टान्तों द्वारा मनोविज्ञान एवं व्यावहारिक जीवन के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) बन्धन करण- कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने को बंध कहा जाता है। यहाँ कर्म का बंधना या संस्कार रूप बीज का पड़ना बंधन करण है। इसे मनोविज्ञान की भाषा में ग्रन्थि-निर्माण भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर में भोजन के द्वारा ग्रहण किया गया अच्छा पदार्थ शरीर के लिए हितकर और बुरा पदार्थ अहितकर होता है इसी प्रकार आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए शुभ-कर्म-परमाणु आत्मा के लिए सुफल- सौभाग्यदायी एवं ग्रहण किए गए अशुभ कर्म-परमाणु आत्मा के लिए कुफल- दुर्भाग्यदायी होते हैं। अत: जो दुर्भाग्य को दूर रखना चाहते हैं उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पाप प्रवृत्तियों- अशुभ कर्मों से बचना चाहिये क्योंकि इनके फलस्वरूप दु:ख मिलता ही है। और जो सौभाग्य चाहते हैं, उन्हें सेवा, परोपकार, वात्सल्य भाव आदि

पुण्य प्रवृत्तियों, शुभ कर्मों को अपनाना चाहिये। कारण कि जैसा बीज बोया जाता है, वैसा ही फल लगता है। किसी की हिंसा या बुरा करने वाले को फल में हिंसा ही मिलने वाली है, बुरा ही होने वाला है। भला या सेवा करने वाले का उसके फलस्वरूप भला ही होता है।

किसी विषय, वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि के प्रति अनुकूलता में राग रूप प्रवृत्ति करने से उसके साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध ही बंध है, बन्धन है। इस प्रकार राग-द्वेष करने का प्रभाव चेतना के गुणों पर क्या, उन गुणों की अभिव्यक्ति से संबंधित माध्यम शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि पर भी पड़ता है। अतः राग-द्वेष रूप जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसे ही कर्म बंधते हैं तथा जितनी-जितनी राग-द्वेष की अधिकता-न्यूनता होती है, उतनी-उतनी बंधन के टिकने की सबलता-निर्बलता तथा उसके फल की अधिकता-न्यूनता होती है। इसलिए जो व्यक्ति जितना राग-द्वेष कम करता है, समदृष्टि रहता है, वह पाप कर्म का बंध नहीं करता है। अतः बंध से बचना है, तो राग-द्वेष से बचना चाहिये।

नियम- 1. कर्म बंध का कारण राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति है। 2. जो जैसा अच्छा-बुरा कर्म करता है, वह वैसा ही सुख-दुःख रूप फल भोगता है। 3. बन्धे हुए कर्म का फल अवश्यमेव स्वयं को ही भोगना पड़ता है। कोई भी अन्य व्यक्ति व शक्ति उससे छुटकारा नहीं दिला सकती।

निधत्त करण

कर्म की वह अवस्था जिसमें स्थिति तथा रस में संक्रमण और उदय नहीं हो, परन्तु स्थिति और रस में घट-बढ़ (अपर्वतन-उद्वर्तन) हो सके, उसे निधत्तिकरण कहते हैं। उदाहरणार्थ मलेरिया, तपेदिक, हैजा आदि के विषाणु शरीर में प्रविष्ट हो जायें और वहाँ उनमें बाहरी प्रभाव हो हानि-वृद्धि होती रहे, परन्तु वे बाह्य में रोग के रूप में प्रकट नहीं हो तथा दवा के प्रभाव से भी उनका रूपान्तरण नहीं हो, इसी प्रकार सत्ता में स्थित जिन कर्मों का कषाय के घटने-बढ़ने से उनके स्थिति एवं अनुभाग में घट-बढ़ अपकर्षण-उत्कर्षण (अपवर्तन-उद्वर्तन) हो, परन्तु उनका अन्य सजातीय कर्म-प्रकृतियों में रूपान्तरण (संक्रमण) न हो तथा उदय भी न हो, कर्म की ऐसी अवस्था को निधत्तिकरण कहते हैं।

नियम- निधत्तकरण में संक्रमण एवं उदय (उदीरणा) नहीं होते हैं।

निकाचित करण

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा 440 के अनुसार कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय (उदीरणा), संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण आदि कुछ भी नहीं हो, कर्म जैसा बंधा है उसी अवस्था में रहे, इसे निकाचित करण कहते हैं। यथा किसी रोग के विषाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर गये हों फिर वे ज्यों के त्यों विद्यमान रहें, उनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हो, उसी तरह जिस बंधे हुए सत्ता में स्थित कर्म में उत्कर्षण आदि से कुछ भी परिवर्तन नहीं हो, कर्म की इस अवस्था को निकाचित करण कहते है। जैसे आगामी भव का बंधा हुआ आयु कर्म जो सत्ता में स्थित है उसमें अगले भव में उदय के पूर्व उत्कर्षण आदि किसी करण का नहीं होना निकाचित करण है।

नियम- निकाचित करण में उदय-उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण नहीं होते हैं।

निधत्तकरण और निकाचित करण ये दोनों ही करण अपना कुछ भी प्रभाव नहीं दिखाते हैं अर्थात् जीव को सुख-दुःख, हानि-लाभ नहीं पहुँचाते हैं, अतः निष्प्रयोजन हैं। यही कारण है कि कम्मपयडि, पंचसंग्रह आदि कर्म-सिद्धान्त के ग्रंथों में जहाँ संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उपशम आदि करणों का विशद वर्णन है और टीकाकारों ने भी इनका विस्तार से विवेचन किया है, परन्तु निधत्त और निकाचित इन दोनों करणों का कुछ विवेचन न करके केवल इतना ही कहा है कि निधत्तकरण में उदय व संक्रमण नहीं होता और निकाचित करण में उदीरणा, उदय, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन आदि करण नहीं होते हैं।

निकाचित करण होता है कर्म नहीं

कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि निकाचित कर्म होता है और उसका बंध होता है। परन्तु कर्म-सिद्धान्त में मूल कर्म आठ एवं इनकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां कही हैं। इनमें निकाचित कर्म व उसके बंध होने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। कर्म सिद्धान्त में निकाचित को एक प्रकार का करण कहा है। करण कर्म की वर्तमान अवस्था को कहा जाता है। जैसा कि कहा है-

बंधुक्कट्टणकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी॥

- गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा 437

अर्थ- (1) बंध (2) उत्कर्षण (3) संक्रमण (4) अपकर्षण (5) उदीरणा (6) सत्त्व (7) उदय (8) उपशम (9) निधत्ति और (10) निकाचना- ये दशकरण प्रत्येक कर्म प्रकृति के होते हैं।

आगे की तीन गाथाओं में इनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध होना बंध है। कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण करण है। बंध रूप कर्म प्रकृति का दूसरी कर्म प्रकृति रूप परिणमन होना संक्रमण करण है। स्थिति तथा अनुभाग में कमी होना अपकर्षण करण है। उदय से अन्यत्र स्थित कर्म को उदयावली में लाना उदीरणा है। कर्म का अस्तित्व (सत्ता) में रहना सत्त्व है। कर्म का फल देना उदय है। जो कर्म उदयावली में प्राप्त न किया जाय अर्थात् उदीरणा को प्राप्त न हो तो वह उपशम करण है। जो कर्म उदीरणा और संक्रमण को प्राप्त न हो उसे निधत्ति करण कहते हैं और जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ नहीं हों उसे निकाचित करण कहते हैं। आगे प्रकृतियों तथा गुणस्थानों में करणों की संख्या बताते हुए कहा है-

संकमणाकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊणं।
सेसाणं दसकरणा अपुव्वकरणोत्ति दस करणा॥

-गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 441

सभी चारों आयु कर्मों में संक्रमण करण के बिना शेष नौ करण होते हैं। और शेष सब कर्म प्रकृतियों के आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानपर्यन्त दस ही करण होते हैं। आगे कहा गया है कि उपशान्त कषाय पर्यन्त देवायु का भी अपकर्षण होता है अर्थात् देवायु भी निकाचित नहीं है।

कर्मसिद्धान्त में यह नियम है कि भावों की विशुद्धि से तीन शुभ आयु को छोड़कर शेष सत्ता में स्थित समस्त पाप-पुण्य कर्म प्रकृतियों की स्थिति का अपकर्षण होता है, पाप प्रकृतियों के अनुभाग का भी अपकर्षण होता है तथा पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। इसके विपरीत सत्ता में स्थित सातों कर्मों के समस्त पाप-पुण्य प्रकृतियों के स्थिति बंध का संक्लेश भावों से उत्कर्षण होता है तथा पाप प्रकृतियों के अनुभाग का भी उत्कर्षण होता है और पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का अपकर्षण होता है। इसी प्रकार आयु कर्म की चार प्रकृतियों के बिना शेष कर्म प्रकृतियां जो अभी उदय में नहीं आ रही हैं, परन्तु सत्ता में स्थित हैं,

उन सबका अपनी सजातीय कर्म प्रकृतियों में संक्रमण होकर प्रदेश उदय होता है। चारित्र की क्षपक श्रेणी के पूर्व तक किसी भी सन्नी मनुष्य के अन्तःकोटाकोटि सागर से कम स्थिति बंध नहीं होता है तथा सत्ता में स्थित कर्म-प्रकृतियों का स्थिति बंध भी अन्तःकोटाकोटि सागर से कम नहीं होता है। परन्तु अन्तर्मुहूर्त में उसे केवलज्ञान हो जाता है और उन सब कर्म प्रकृतियों की स्थिति का अपकर्षण होकर उसकी आयु के समान क्षय हो जाता है। अतः कोटाकोटि सागर तक कोई भी प्रकृति उदय में नहीं आती है, अतः कोई भी प्रकृति निकाचित नहीं हो सकती। चारों घाती कर्मों की समस्त कर्म-प्रकृतियों के स्थिति बंध का अपकर्षण होकर क्षय हो जाता है अतः इनका बंध निकाचित नहीं और अघाती कर्म की सत्ता में स्थित 85 प्रकृतियों में वेदनीय कर्म का साता वेदनीय- असाता वेदनीय में उदयमान प्रकृति में संक्रमण होता ही रहता है। नाम और गोत्र कर्म में भी शुभ प्रकृतियों में अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण निरन्तर होता रहता है। नाम और गोत्र कर्म की उदयमान प्रकृतियों की उदीरणा भी होती रहती है। इस प्रकार समस्त घातीकर्म की प्रकृतियों का, वेदनीय, नाम व गोत्र कर्म की प्रकृतियों का अपकर्षण होने से निकाचन करण संभव नहीं है। उदयमान आयु कर्म में अपूर्व गुणस्थान के पूर्व तक उदीरणा होती है अतः आयु कर्म में भी निकाचन करण संभव नहीं है। सत्ता में स्थित आयु कर्म में जब उत्कर्षण-अपकर्षण नहीं होता है तब निकाचन करण संभव है।

तात्पर्य यह है कि किसी कर्म 'प्रकृति का', उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा रूप में नहीं होता है। इसी प्रकार निधत्त व निकाचित बंध भी नहीं होता है। ये सब करण हैं अर्थात् कर्म की अवस्थाएँ हैं। जिस समय कर्मप्रकृति का स्थिति या अनुभाग घटता है उस समय वह अपवर्तन करण कहलाता है, जिस समय बढ़ता है उस समय उत्कर्षण करण कहलाता है। इसी प्रकार जिस कर्म प्रकृति में जिस समय उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण व संक्रमण ये चारों बातें नहीं होती हैं उस समय तक वहाँ उसका निकाचित करण कहलाता है। जब उसी प्रकृति में उत्कर्षण होता है तो उत्कर्षण करण कहलाता है। प्रायः सभी कर्म प्रकृतियों के स्थिति, अनुभाग व प्रदेश बंध में सतत परिवर्तन होता रहता है। परन्तु अबाधाकाल में उदीरणा करण, उद्वर्तन करण, अपवर्तन करण एवं संक्रमण करण नहीं होता है। उस समय उस प्रकृति में अन्य करण नहीं होने से निकाचना करण कहा जायेगा। एक ही कर्म प्रकृति में जिस समय अपकर्षण होता है उस समय अपकर्षण करण कहलाता है। उसी प्रकृति में फिर जिस समय उत्कर्षण होता है उस समय उत्कर्षण करण कहलाता है। उस

प्रकृति में जिस समय संक्रमण होता है उस समय संक्रमण करण कहा जाता है। इसी प्रकार जिस समय उस प्रकृति में उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण व संक्रमण ये चारों नहीं होते हैं उस समय निकाचना करण कहा जाता है। निकाचना करण का यह अर्थ या अभिप्राय यह नहीं है कि फिर उसमें कभी उद्वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण करण नहीं होगा।

उदवर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमना आदि अन्य करणों का विशद् वर्णन पुस्तक में दिया गया है। यहाँ संक्रमण करण की विशेषता का वर्णन किया जा रहा है:-

संक्रमण

संक्रमण : किसी प्रकार के विशेष परिवर्तन या रूपान्तरण को संक्रान्ति या संक्रमण कहते हैं। जैसे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र (स्थान) में चले जाना, क्षेत्र संक्रमण है। एक ऋतु के चले जाने से दूसरी ऋतु का आ जाना, काल संक्रमण है। किसी व्यक्ति से प्रेम हटकर अन्य व्यक्ति से प्रेम हो जाना भाव संक्रमण है। इसी प्रकार कर्म जगत में भी संक्रमण होता है। इसका सामान्य नियम यह है कि पूर्व में बंधी हुई कर्म प्रकृतियों का संक्रमण या रूपान्तरण वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में होता है।

जीव के वर्तमान परिणामों के कारण से जो प्रकृति पूर्व में बंधी थी, उसका न्यूनाधिक व अन्य प्रकृति रूप में परिवर्तन व परिणमन हो जाना, कर्म का संक्रमण है। संक्रमण के चार भेद हैं- 1. प्रकृति संक्रमण 2. स्थिति संक्रमण 3. अनुभाग संक्रमण और 4. प्रदेश संक्रमण।

(1) प्रकृति संक्रमण : कर्म की किसी प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन होना, प्रकृति संक्रमण है। कर्म की ज्ञानावरणीय आदि आठ मूल प्रकृतियाँ हैं। इनमें परस्पर संक्रमण नहीं होता है। इन आठों कर्मों में से प्रत्येक की विभिन्न संख्या में उत्तर प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक कर्म की इन उत्तर प्रकृतियों में ही अर्थात् सजातीय कर्म प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। अन्य जातीय कर्म प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता। यह ध्रुव नियम है। इसमें कहीं अपवाद नहीं है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्म की किसी प्रकृति का दर्शनावरणीय आदि अन्य सात कर्मों की किसी प्रकृति में संक्रमण नहीं होता। ज्ञानावरणीय कर्म की मतिज्ञानावरणीय आदि पाँचों उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है।

सजातीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण होने का जो नियम है उसके भी कुछ अपवाद हैं। जैसे दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का चारित्र मोहनीय की प्रकृतियों में संक्रमण नहीं होता तथा आयु कर्म की चारों प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता, इत्यादि।

(2) स्थिति संक्रमण : कर्मों की स्थिति में संक्रमण अर्थात् परिवर्तन होना, स्थिति संक्रमण है। वह 1. अपवर्तना 2. उद्वर्तना व 3. पर प्रकृति रूप परिणमन से होता है। कर्म की स्थिति का घटना, अपवर्तना या अपकर्षण है। स्थिति का बढ़ना, उद्वर्तना या उत्कर्षण है। प्रकृति की स्थिति का समान जातीय अन्य प्रकृति की स्थिति में परिवर्तन करना, प्रकृत्यन्तर परिणमन संक्रमण है।

(3) अनुभाग संक्रमण : अनुभाग में परिवर्तन होना, अनुभाग संक्रमण है। स्थिति संक्रमण के समान अनुभाग संक्रमण भी, 1. अपकर्षण 2. उत्कर्षण 3. पर प्रकृति रूप तीन प्रकार का है।

(4) प्रदेश संक्रमण : प्रदेशाग्र का अन्य प्रकृति को ले जाया जाना, प्रदेश संक्रमण है।

संक्रमण का सामान्य नियम यह है कि जिस प्रकृति का जहाँ तक बंध होता है उस प्रकृति का अन्य सजातीय प्रकृति में संक्रमण वहीं तक होता है। जैसे असातावेदनीय का बंध छठे गुणस्थान तक व साता वेदनीय का बंध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। अत: साता वेदनीय का असातावेदनीय में संक्रमण छठे तथा असातावेदनीय का साता वेदनीय में संक्रमण तेरहवें गुणस्थान तक होता है।

ऊपर वर्णित संक्रमण के चारों भेदों का सम्बन्ध संक्लेश्यमान एवं विशुद्ध्यमान अर्थात् पाप व पुण्य प्रवृत्तियों से है। जैसे-जैसे वर्तमान में परिणामों में विशुद्धि आती जाती है, वैसे-वैसे पूर्व में बंधी हुई पाप प्रवृत्तियों का अनुभाग व स्थिति स्वत: घटती जाती है एवं पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग (रस) स्वत: बढ़ता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे परिणामों में मलिनता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्थिति बढ़ती जाती है एवं पाप विकृतियों का अनुभाग पहले से अधिक बढ़ता जाता है और पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग घटता जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण पूर्व में बंधे हुए समस्त कर्मों के स्थिति व अनुभाग बंध में घट-बढ़ निरन्तर चलती रहती है। एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता है, जिसमें पूर्व में बंधे कर्मों की यह घट-बढ़ रुकती हो। संक्रमण-करण प्रक्रिया के इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि पूर्व उपार्जित कर्मों में सदैव

परिवर्तन चलता रहता है। सामान्यतः कोई भी बंधा हुआ कर्म एक क्षण भी ज्यों का त्यों नहीं रहता है। संक्रमण की यह प्रक्रिया प्राकृतिक विधान से प्राणिमात्र में निरन्तर चलती रहती है। परन्तु यह किसी ईश्वर, देवी, देवता, व्यक्ति आदि की कृपा-अकृपा के आश्रय से नहीं चलती है, अपितु अपने ही परिणामों के कारण, कारण-कार्य के नियम के अनुसार चलती है। इसमें मनमानी को कहीं भी कोई स्थान नहीं है। संक्रमण प्रक्रिया का 'जयधवला टीका', 'कर्म-प्रकृति' आदि ग्रन्थों में हजारों पृष्ठों में सूत्रात्मक रूप में विवेचन है। यह सब का सब मानसिक ग्रंथियों से मुक्ति पाने के उपाय के रूप में होने से बड़ी मनोवैज्ञानिक एवं मानव जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है।

पहले कह आए हैं कि पूर्व में बन्धे कर्म की प्रकृति का अपनी जातीय अन्य प्रकृति में रूपान्तरित हो जाना संक्रमण करण कहा जाता है। वर्तमान में वनस्पति विशेषज्ञ अपने प्रयत्न विशेष से खट्टे फल देने वाले पौधे को मीठे फल देने वाले पौधे के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। निम्न जाति के बीजों को उच्च जाति के बीजों में बदल देते हैं। इसी प्रक्रिया से गुलाब की सैकड़ों जातियाँ पैदा की गई हैं। वर्तमान वनस्पति विज्ञान में इस संक्रमण प्रक्रिया को संकर-प्रक्रिया कहा जाता है, जिसका अर्थ संक्रमण करना ही है। इसी संक्रमण करण की प्रक्रिया से संकर मक्का, संकर बाजरा, संकर गेहूँ के बीज पैदा किए गए हैं। इसी प्रकार पूर्व में बंधी हुई कर्म-प्रकृतियाँ वर्तमान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों में परिवर्तित हो जाती हैं, संक्रमित हो जाती हैं। अथवा जिस प्रकार चिकित्सा के द्वारा शरीर के विकार ग्रस्त अंग हृदय, नेत्र आदि को हटाकर उनके स्थान पर स्वस्थ हृदय, नेत्र आदि स्थापित कर अंधे व्यक्ति जो सूझता कर देते हैं, रुग्ण हृदय को स्वस्थ बना देते हैं तथा अपच या मंदाग्नि का रोग, सिरदर्द, ज्वर, निर्बलता, कब्ज या अतिसार में बदल जाता है। इससे दुहरा लाभ होता है- 1. रोग के कष्ट से बचना एवं 2. स्वस्थ अंग की शक्ति की प्राप्ति। इसी प्रकार पूर्व की बंधी हुई अशुभ कर्म प्रकृति को अपनी सजातीय शुभ कर्म प्रकृति में बदला जाता है और इससे उनके दुःखद फल से बचा जा सकता है।

कर्म-सिद्धान्त में निरूपित संक्रमण- प्रक्रिया को आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मार्गान्तरीकरण कहा जा सकता है। यह मार्गान्तरीकरण या रूपान्तरण दो प्रकार का है- 1. अशुभ प्रकृति का शुभ प्रकृति में और 2. शुभ प्रकृति का अशुभ प्रकृति में। शुभ (उदात्त) प्रकृति का अशुभ (कुत्सित) प्रकृति में रूपान्तरण अनिष्टकारी

है और अशुभ (कुत्सित) प्रकृति का शुभ (उदात्त) प्रकृति में रूपान्तरण हितकारी है। वर्तमान मनोविज्ञान में कुत्सित प्रकृति के उदात्त प्रकृति में रूपान्तरण को उदात्तीकरण कहा जाता है। वह उदात्तीकरण संक्रमण करण का ही एक अंग है, एक अवस्था है।

आधुनिक मनोविज्ञान में उदात्तीकरण पर विशेष अनुसंधान हुआ है तथा प्रचुर प्रकाश डाला गया है। राग या कुत्सित काम भावना का संक्रमण या उदात्तीकरण, मन की प्रवृत्ति को मोड़कर श्रेष्ठ कला, सुन्दर चित्र, महाकाव्य या भाव-भक्ति में लगाकर किया जा सकता है। वर्तमान में उदात्तीकरण प्रक्रिया का उपयोग व प्रयोग कर उद्दण्ड, अनुशासनहीन, तोड़-फोड़ करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के छात्रों एवं व्यक्तियों को उनकी रुचि के किसी रचनात्मक कार्य में लगा दिया जाता है। फलस्वरूप वे अपनी हानिकारक व अपराधी प्रवृत्ति का त्याग कर समाजोपयोगी कार्य में लग जाते हैं, अनुशासन प्रिय नागरिक बन जाते हैं।

कुत्सित प्रकृतियों को सद् प्रकृतियों में संक्रमित या रूपान्तरित करने के लिए आवश्यक है कि पहले व्यक्ति को इन्द्रिय-भोगों की वास्तविकता का उसके वर्तमान जीवन की दैनिक घटनाओं के आधार पर बोध हो। भोग का सुख क्षणिक है, नश्वर है व पराधीनता में आबद्ध करने वाला है, परिणाम में नीरसता या अभाव ही शेष रहता है। भोग जड़ता व विकार पैदा करने वाला है। नवीन कामनाओं को पैदा कर चित्त को अशांत बनाने वाला है। संघर्ष, द्वन्द्व, अर्न्तद्वन्द्व पैदा करने वाला है। सुख में दुःख अन्तर्गर्भित रहता ही है। भोगों के सुख के त्याग से तत्काल शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इस प्रकार भोगों के क्षणिक- अस्थायी सुख के स्थान पर हृदय में स्थायी सुख प्राप्ति का भाव जागृत किया जाय। भावी दुःख से छुटकारा पाने के लिये वर्तमान के क्षणिक सुख के लिए भी अपने सुख व सुख सामग्री को दूसरों की सेवा में लगाने की प्रवृत्ति होती है। दूसरों की निःस्वार्थ सेवा से जो प्रेम का रस आता है, उसका आनन्द सुख भोगजनित सुख से निराला होता है। उस सुख में वे दोष या कमियाँ नहीं होतीं, जो भोग जनित सुख में होती हैं। प्रेम के सुख का यह बीज उदारता में पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है और अन्त में सर्वहितकारी प्रवृत्ति का रूप ले लेता है।

जिस प्रकार कर्म-सिद्धान्त में संक्रमण केवल सजातीय प्रकृतियों में संभव है, इसी प्रकार मनोविज्ञान में भी रूपान्तरण केवल सजातीय प्रकृतियों में ही

संभव माना है। दोनों ही विजाती प्रकृतियों के साथ संक्रमण या रूपान्तरण नहीं मानते हैं। संक्रमण करण और रूपान्तर करण दोनों ही में यह सैद्धान्तिक समानता आश्चर्यजनक है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार पाप प्रवृत्तियों से होने वाले दु:ख, वेदना, अशान्ति आदि से छुटकारा, परोपकार रूप पुण्य प्रवृत्तियों से किया जा सकता है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण वर्तमान मनोविज्ञानवेत्ता भी कर रहे हैं। उनका कथन है कि उदात्तीकरण शारीरिक एवं मानसिक रोगों के उपचार में बड़ा कारगर उपाय है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों में असाध्य प्रतीत होने वाले महारोग उदात्तीकरण से ठीक होते देखे जा सकते हैं।

जिस प्रकार अशुभ प्रवृत्तियों का शुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण होना जीवन के लिए उपयोगी व सुखद होता है, इसी प्रकार शुभ प्रवृत्तियों का अशुभ प्रवृत्तियों में रूपान्तरण व संक्रमण होना जीवन के लिए अनिष्टकारी व दु:खद होता है। सज्जन भद्र व्यक्ति जब कुसंगति, कुत्सित वातावरण में पड़ जाते हैं और उससे प्रभावित हो जाते हैं, तो उनकी शुभ प्रवृत्तियाँ अशुभ प्रवृत्तियों में परिवर्तित हो जाती हैं जिससे उनका मानसिक एवं नैतिक पतन हो जाता है। परिणामस्वरूप उनको कष्ट, रोग, अशान्ति, रिक्तता, हीन भावना, निराशा, अनिद्रा आदि अनेक प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं।

कर्म शास्त्र के अनुसार संक्रमण पहले बंधी हुई प्रकृतियों (आदतों) का वर्तमान में बध्यमान (बंधने वाली) प्रकृतियों में होता है। अर्थात् पहले प्रवृत्ति करने से जो प्रकृति (आदत) पड़ गई-बंध गई है, वह प्रकृति (आदत) वर्तमान में जो प्रवृत्ति की जा रही है उससे अभी जो आदत (प्रकृति) बन रही है, उस आदत का अनुसरण-अनुगमन करती है तथा इन नवीन बनने वाली आदतों के अनुरूप पुरानी आदतों में परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ- पहले किसी व्यक्ति की प्रवृत्ति-प्रकृति ईमानदारी की है और वर्तमान में बेईमानी की प्रकृति का निर्माण हो रहा है, तो उसकी ईमानदारी की प्रकृति (आदत) बेईमानी की प्रकृति (आदत) में बदल जाती है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति में पहले बेईमानी की आदत पड़ी हुई है और वर्तमान में ईमानदारी की आदत का निर्माण हो रहा है तो पहले की बेईमानी की आदत ईमानदारी में बदल जाती है, यह सर्वविदित है। शरीर और इन्द्रिय भीतर से अशुचि के भण्डार हैं एवं नाशवान हैं। इस सत्य का ज्ञान किसी को है। परन्तु अब

वह शरीर व इन्द्रिय सुख के भोग में प्रवृत्त हो, मोहित हो जाता है तो उसे शरीर व इन्द्रिय सुख-सुन्दर व स्थायी प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार उसका पूर्व का सच्चा ज्ञान आच्छादित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अज्ञानरूप हो जाता है अर्थात् ज्ञान अज्ञान में रूपान्तरित, संक्रमित हो जाता है। आगे भी उसका मोह जैसे-जैसे घटता-बढ़ता जायेगा उसकी इस अज्ञान की प्रकृति में भी घट-बढ़ होती जायेगी, अपवर्तन- उद्वर्तन होता जायेगा और मिथ्यात्व रूप मोह का नाश हो जायेगा, जिससे अज्ञान का नाश हो जायेगा और ज्ञान प्रकट हो जायेगा। वही अज्ञान, ज्ञान में बदल जायेगा। इसी प्रकार क्षोभ (क्रोध) और क्षमा, मान और विनय, माया और सरलता, लोभ और निर्लोभता, हिंसा और दया, हर्ष और शोक, शोषण और पोषण, करुणा और क्रूरता, प्रेम और मोह, जड़ता और चिन्मयता, परस्पर में वर्तमान प्रकृतियों के अनुरूप संक्रमित-रूपान्तरित हो जाते हैं। किसी प्रकृति की स्थिति व अनुभाग का घटना (अपवर्तन)-बढ़ना, (उद्वर्तन) भी स्थिति, संक्रमण व अनुभाग संक्रमण के ही रूप है।

संक्रमण करण का उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टतः इस सत्य को उद्घाटित करता है कि किसी ने पहले कितने ही अच्छे कर्म बांधे हों, यदि वह वर्तमान में दुष्प्रवृत्तियाँ कर बुरे (पाप) कर्म बांध रहा है, तो पहले के अच्छे (पुण्य) कर्म बुरे (पाप) कर्म में बदल जायेंगे, फिर उनका कोई अच्छा सुखद फल नहीं मिलने वाला है। इसके विपरीत किसी ने पहले दुष्कर्म (पाप) किए हैं, बांधे हैं, परन्तु वर्तमान में वह सत्कर्म कर रहा है, तो वह अपने बुरे कर्मों के दुःखद फल से छुटकारा पा लेता है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्ति हम अपने वर्तमान जीवन काल का सदुपयोग-दुरुपयोग कर अपने भाग्य को सौभाग्य या दुर्भाग्य में बदल सकते हैं।

नियम- 1. प्रकृति संक्रमण बध्यमान प्रकृति में ही होता है। 2. संक्रमण सजातीय प्रकृतियों में ही होता है।

करण-सिद्धान्त का महत्त्व

करण ज्ञान में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वर्तमान में जिन कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो रहा है। पुरानी बंधी हुई प्रकृतियों पर उनका प्रभाव पड़ता है और वे वर्तमान में बध्यमान प्रकृतियों के अनुरूप परिवर्तित हो जाती हैं। सीधे शब्दों में कहें तो वर्तमान में हमारी जो आदत बन रही है, पुरानी आदतें बदल कर उसी के अनुरूप हो जाती है। यह सबका अनुभव है। उदाहरणार्थ-प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ले सकते हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजा थे। वे संसार को असार समझकर राजपाट और गृहस्थाश्रम का त्याग कर साधु बन गये थे। वे एक दिन साधुवेश में ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। उस समय श्रेणिक राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए उधर से निकला। उसने राजर्षि को ध्यान मुद्रा में देखा। श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन कर भगवान् से पूछा कि ध्यानस्थ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इस समय काल करें तो कहाँ जायें? भगवान् ने फरमाया कि सातवीं नरक में जायें। कुछ देर बार फिर पूछा तो भगवान् ने फरमाया- छठी नरक में जावें। इस प्रकार श्रेणिक राजा द्वारा बार-बार पूछने पर भगवान् ने उसी क्रम से फरमाया कि छठी नरक से पांचवी नरक में, चौथी नरक में, तीसरी नरक में, दूसरी नरक में, पहली नरक में जावें। फिर फरमाया प्रथम देवलोक में, दूसरे देवलोक में, क्रमशः बारहवें देवलोक में, नव ग्रैवेयक में, अनुत्तर विमान में जावें। इतने में ही राजर्षि को केवलज्ञान हो गया।

हुआ यह था कि जहाँ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र ध्यानस्थ खड़े थे। उधर से कुछ पथिक निकले। उन्होंने राजर्षि की ओर संकेत कर कहा कि अपने पुत्र को राज्य का भार संभला कर यह राजा तो साधु बन गया ओर यहाँ ध्यान में खड़ा है। परन्तु शत्रु ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया है। वहाँ भयंकर संग्राम हो रहा है, प्रजा पीड़ित हो रही है। पुत्र परेशान हो रहा है। इसे कुछ विचार ही नहीं है। यह सुनते ही राजर्षि को रोष व जोश आया। होशहवाश खो गया। उसके मन में भयंकर उद्वेग उठा। मैं अभी युद्ध में जाऊँगा और शत्रु सेना का संहार कर विजय पाऊँगा। इसका धर्म-ध्यान रौद्र ध्यान में संक्रमित हो गया। अपनी इस रौद्र, घोर हिंसात्मक मानसिक स्थिति की कालिमा से घोर अशान्ति, खिन्नता की नारकीय स्थिति के वह सातवीं नरक की गति का बंध करने लगा। ज्योंही वह युद्ध करने के लिए चरण उठाने लगा त्योंही उसने अपनी वेशभूषा को देखा तो उसे होश आया कि मैंने राजपाट का त्याग कर संयम धारण किया है। मेरा राजपाट से अब कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार उसने अपने आपको संभाला। उसका जोश-रोष मन्द होने लगा। रोष या रौद्र ध्यान जैसे-जैसे मन्द होता गया, घटता गया वैसे-वैसे नारकीय बंधन भी घटता गया और सातवीं नरक से घटकर क्रमशः पहली नरक तक पहुँच गया। इसके साथ ही पूर्व में बांधे सातवीं आदि नरकों की बंध की स्थिति व अनुभाग घटकर पहली नरक में अपवर्तित हो गये। फिर भावों में और विशुद्धि आई। रोष-जोश शांत होकर संतोष में परिवर्तित हो गया हृदय दिव्य दैवी गुणों से भर गया तो राजर्षि देव-गति का बंध करने लगा। इससे पूर्व ही में बंधा नरक गति का बंध देव गति में रूपान्तरित हो

गया। फिर श्रेणीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होने लगी तो भावों में अत्यन्त विशुद्धि आई। कषायों का उपशमन हुआ तो अनुत्तर विमान देवगति का बंध होने लगा। फिर भावों की विशेष विशुद्धि से पाप कर्मों का स्थिति घात और रसघात हुआ। कर्मों की तीव्र उदीरणा हुई। फिर क्षीण कषाय होने पर पूर्ण वीतरागता आ गई ओर केवलज्ञान हो गया। इस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अपनी वर्तमान भावना की विशुद्धि व साधना के बल से पूर्व बंद्ध कर्मों का उत्कर्षण, संक्रमण, उदीरण आदि करण (क्रियाएँ) कर कृतकृत्य हुए।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्तानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्व जीवन में दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ व दु:खद पाप कर्मों की बंधी हुई उसकी स्थिति व अनुभाग को वर्तमान में अपनी शुभ प्रवृत्तियों से शुभकर्म बांधकर घटा सकता है तथा शुभ व सुखद पुण्य कर्मों में संक्रमित कर सकता है। इसके विपरीत वह वर्तमान में अपनी दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ पाप कर्मों का बंधन कर पूर्व से बांधे शुभ व सुखद कर्मों को अशुभ व दु:खद कर्मों के रूप में भी संक्रमित कर सकता है। अत: यह आवश्यक नहीं है कि पूर्व में बंधे हुए कर्म उसी प्रकार भोगने पड़ें। व्यक्ति अपने वर्तमान कर्मों (प्रकृतियों) के द्वारा पूर्व में बंधे कर्मों को बदलने, स्थिति, अनुभाग घटाने-बढ़ाने एवं क्षय करने में पूर्ण समर्थ व स्वाधीन है।

इस सिद्धान्त के अनुसार साधक वर्तमान में जितना-जितना विवेक पूर्वक कषाय या राग घटाता जायेगा उसके उतने ही उतने पूर्व संचित कर्म या संस्कार स्वत: नि:सत्त्व, निर्बल, निर्बलतर होते जायेंगे और जैसे ही वह राग का पूर्ण क्षय कर वीतराग भाव को प्राप्त होगा, उसके घाती (हानिकारक) कर्मों का पूर्ण क्षय हो जायेगा। इस प्रकार साधक वर्तमान में अपने पराक्रम पुरुषार्थ द्वारा प्रथम गुणस्थान से ऊपर उठता हुआ, घोर घाती कर्मों (दुष्कर्मों) का क्षय करता हुआ अंतर्मुहूर्त्त (कुछ ही मिनटों में) में केवलज्ञान प्राप्त कर अजर, अमर, अविनाशी, अक्षय शाश्वत सुख पा सकता है।

तात्पर्य यह है कि भूतकाल किसी का भी निर्दोष नहीं है। यदि उसमें राग का दोष न होता तो जन्म ही नहीं होता। परन्तु व्यक्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा वर्तमान को निर्दोष बनाकर सुख-दु:ख के बंधन से मुक्त हो निरामय (दु:खरहित), अक्षय, अव्याबाध, परमानन्द को सदा के लिए प्राप्त कर सकता है। ऐसा करने में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है। फिर भी निराश होकर वैसा न करना घोर प्रमाद है, भयंकर

भूल है जो महाविनाश का कारण है। अत: प्रमाद व भूल छोड़ कर वर्तमान को निर्दोष बनाने में ही मानव का मंगल है, कल्याण है।

कर्मसिद्धान्त एवं मनोविज्ञान

जैन दर्शन में जिसे कर्मबंध होना कहते हैं उसे मनोविज्ञान में मानसिक ग्रन्थि का निर्माण होना कहते हैं। इस कर्मबंध या मनोग्रंथि का निर्माण होता है भोग प्रवृत्ति से, सुख भोगने की इच्छा या संकल्प से। भोग की रुचि को जैन दर्शन में रति कहा है। भोग के प्रति रति या रुचि तो रहे परन्तु किसी भय से या अन्य सुख के प्रलोभन से उसे न भोगें अर्थात् उस ग्रंथि का दमन करें तो वह नष्ट नहीं होती है, प्रत्युत प्राकृतिक नियमानुसार वह दमितग्रंथि विशेष विकृत होकर विक्षिप्तता आदि किसी अन्य मार्ग से प्रकट (उदय)होती है। इसे जैन कर्म सिद्धान्त में स्व जातीय, पर प्रकृति रूप संक्रमण का एक प्रकार कहा है। अर्थात् वह अन्य मानसिक रोग के रूप में प्रकट होती है। अत: मनोविज्ञान में इच्छा का दमन करते हुए उसे भोगने पर बल दिया गया है। परन्तु इस प्रकार भोग रूप में प्रकट हुई इच्छा में सुख का अनुभव होता है जो रुचिकर लगता है जिससे उसका संस्कार अंतस्तल पर अंकित हो जाता है। अर्थात् नवीन ग्रंथि बंध का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार इच्छाओं की उत्पत्ति-पूर्ति का, मानिसक ग्रन्थियों के उदय व निर्माण का प्रवाह या संतति सतत चलती रहती है, उसका अन्त नहीं होता है। भोग की इच्छा की पूर्ति करने रूप उपाय को पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि प्राणिमात्र जाने-अनजाने काम में ले रहे हैं परन्तु ऐसा करके आज तक किसी ने भी मानसिक ग्रन्थियों से छुटकारा नहीं पाया है।

वस्तु स्थिति यह है कि वर्तमान मनोविज्ञान कर्म बंध व उदय की प्रक्रिया के स्थूलतम प्राकृतिक रूप को ही पकड़ पाया है। यह मानसिक ग्रन्थियों- जो भोगेच्छा के रूप में प्रकट या उदय होती हैं- उनके भोगने का समर्थन करता है। इसका मानना है कि इसके दमन से कुंठाओं एवं जटिल मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण होता है। जिनका परिणाम विक्षिप्तता आदि भयंकर रोगों के रूप में प्रकट होता है। इन रोगों से बचने के उपाय को मनोविज्ञान में उदात्तीकरण (ैनइसपउंजपवद) की प्रक्रिया कहते हैं। इसमें सेवा आदि लोकोपकारी कार्य करने को स्थान दिया गया है जो जैन दर्शन में वर्णित संक्रमण की प्रक्रिया का अत्यल्प अंश मात्र है। इच्छाओं को भोगने से मिले सुख से नवीन इच्छाओं का, मानसिक ग्रन्थियों का निर्माण होता रहता है। फिर उन ग्रन्थियों का भोगने के रूप में उदय होता है। इस प्रकार मानसिक ग्रन्थियों

का निर्माण और उदय का चक्र बराबर चलता ही रहता है। इस चक्र के भेदन का आधुनिक मनोविज्ञान में अभी तक कोई उपाय नहीं खोजा जा सका है, जबकि जैन दर्शन में प्रतिपादित कर्म- सिद्धान्त में मानसिक ग्रन्थियों के दमन किए बिना ही उनके विजय, विलय व क्षय का बड़ा ही सरल, सुगम, सुन्दर उपाय बताया है। जैन धर्म में इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि मानव-जीवन भोगेच्छाओं की पूर्त्ति करने के लिए नहीं मिला है, मानव जीवन तो भोगों पर विजय पाने के लिए मिला है।

जैन दर्शन में मानव-जीवन की सार्थकता मुक्ति-प्राप्ति को बताया है। मुक्ति का अर्थ बन्धन रहित होना, स्वाधीन होना है। जैन दर्शन में न केवल साध्य में ही स्वाधीनता निरूपित है, अपितु साधना में भी पूर्ण स्वाधीनता है। जैन दर्शन की आधारशिला ही स्वाधीनता है। अर्थात् साधक का मुक्ति प्राप्ति रूप साध्य भी 'स्वाधीनता' है और उस स्वाधीनता को प्राप्त करने में अर्थात् कर्मों को क्षय करने में भी साधक स्वाधीन है।

जैन दर्शन में कर्मक्षय कर मुक्ति रूप साध्य की प्राप्ति के दो प्रमुख साधन बताये हैं- 1. संवर ओर 2. निर्जरा। संवर है नये कर्म न बांधना अर्थात् कषाय युक्त प्रवृत्ति न करना, दूसरे शब्दों में विषय भोगों का त्याग करना। निर्जरा है पूर्व में बंधे कर्मों को बिना फल भोगे क्षय करना। अर्थात् ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि तपों द्वारा मोह कषाय को गलाना, साथ ही पुण्य कार्य रूप सेवा द्वारा पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण करना। जैन धर्म में संवर और निर्जरा रूप साधना करने में मानव मात्र को पूर्ण समर्थ और स्वाधीन माना है। इसमें वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, जाति, अवस्था, देश, काल आदि को कहीं भी बाधक नहीं माना गया है।

कर्म सिद्धान्त-जीवन शास्त्र

आशय यह है कि जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त प्राकृतिक विधान के आधार पर स्थित है। पूर्ण मनोवैज्ञानिक, परा मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है। इसे जानकर नवीन कर्म बंध को रोका जा सकता है, पुराने बंधे हुए पाप कर्मों को पुण्य में बदला जा सकता है अथवा उनका नाश भी किया जा सकता है और सदा के लिए शरीर और संसार से अतीत होकर देहातीत-लोकातीत, अजर, अमर अविनाशी, अक्षय व अनन्त सुखमय जीवन का अनुभव किया जा सकता है।

जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त जीवन विज्ञान है। जीवन-विज्ञान होने से इसमें जीवन से संबंधित समस्त स्थितियों का अर्थात् जीवन का सर्वांगीण विवेचन है।

इससे जीव का जन्म क्यों, कैसे व कहाँ होता है? जन्म लेने के पश्चात् तन, मन, वचन व चेतन तथा इनसे संबंधित व्यापारों की उत्पत्ति, उसका कारण तथा निवारण आदि समस्त विषयों पर विशद प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः कर्म सिद्धान्त जीवन-शास्त्र है, जिसमें राग-द्वेष आदि बंधनों, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, पराधीनता, अभाव, तनाव, दबाव आदि दुःखों से मुक्ति-प्राप्ति का अत्यन्त सरल, सहज, सुगम मार्ग भी बताया है, जिसे मानव मात्र अपना कर सदा के लिए इन दुःखों से मुक्त होकर शरीर और संसार से अतीत के अविनाशी, अजर, अमर, जीवन एवं अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख का स्वामी हो सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म आठ हैं। १. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयुष्य कर्म, ६. नाम कर्म, ७. गोत्र कर्म, ८. अन्तराय कर्म। इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

ज्ञानावरण कर्म

'ज्ञानावरण' शब्द 'ज्ञान' और 'आवरण' इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है, ज्ञान पर आवरण आना। जो वस्तु विद्यमान हो उसे ढक देना, प्रकट न होने देना, आवरण है। जैसे सूर्य है, परन्तु बादलों के आ जाने से वह दिखाई नहीं देता है, उसकी प्रभा (धूप) प्रकट नहीं होती है। बादल सूर्य व उसकी प्रभा पर आवरण है। इसी प्रकार ज्ञान गुण की प्रभा प्रकट न होना अर्थात् ज्ञान का प्रभाव न होना, ज्ञानावरण है। यदि वस्तु का अभाव हो तो उस पर आवरण नहीं हो सकता। ज्ञान की विद्यमानता के अभाव में ज्ञान पर आवरण नहीं आ सकता अर्थात् प्राणिमात्र में ज्ञान सदैव विद्यमान है। वह है जीव का निज ज्ञान, स्वभाव का ज्ञान, स्वाभाविक ज्ञान। स्वाभाविक ज्ञान का अभाव जीव को कभी नहीं हो सकता। स्वभाव का ज्ञान सभी जीवों को सदैव ज्यों का त्यों रहता है, केवल उस पर आवरण आता है।

ज्ञान और दर्शन- ये दोनों जीव के मुख्य लक्षण हैं, जीव के स्वभाव हैं। स्वभाव का नाश कभी नहीं होता। यदि स्वभाव का नाश हो जाय, तो वस्तु का अभाव हो जाय अर्थात् ज्ञान गुण के अभाव में जीव जीव न रहकर अजीव हो जायेगा। इसलिये जीव में ज्ञान गुण सदैव ज्यों का त्यों रहता है। उस पर न्यूनाधिक आवरण आने से उसकी प्रभा या प्रभाव न्यूनाधिक होता रहता है।

ज्ञान पर आवरण होता है- मोह के कारण। अतः जितना-जितना मोह घनीभूत होता जाता है, उतना-उतना ज्ञान को ढकने वाला आवरण भी घनीभूत होता जाता

है। जितना मोह घटता जाता है, उतना ज्ञान का आवरण घटता जाता है। यही कारण है कि जीव साधना करते समय जितना मोह का उपशम व क्षय करता है, उतना ही गुणस्थान आरोहण करता जाता है और उतना ही ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि ज्ञान के आवरण का तथा ज्ञान गुण के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध मोह के घटने-बढ़ने से है। ज्ञान गुण की न्यूनाधिकता का सम्बन्ध बाह्य जगत् की वस्तुओं को अधिक या कम जानने से नहीं है, कारण कि गुणस्थान चढ़ते समय कोई साधक बाह्य जगत् गणित, खगोल, भूगोल आदि को अधिक जानने लगता हो तथा गुणस्थान उतरते समय इनका ज्ञान कम हो जाता हो, ऐसा नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य वस्तुओं, भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित, खगोल, भूगोल आदि के जानने या न जानने से ज्ञानावरणीय कर्म की न्यूनाधिकतता का अंकन व मापन नहीं किया जा सकता। आज इन विषयों का जितना विशद ज्ञान महाविद्यालय के सामान्य छात्र को है, उतना प्राचीनकाल के ख्यातिप्राप्त विद्वानों को भी नहीं था। कारण कि इसकी साधकों को आवश्यकता भी नहीं थी। यही नहीं, साधुओं को इन विषयों का अध्ययन बहिर्मुखी ही बनाता है, अन्तर्मुखी बनाने में सहायक नहीं होता है। अत: यह जिज्ञासा होती है कि फिर ज्ञानावरणीय कर्म क्या है? इसका क्षयोपशम, क्षय व बन्ध कैसे व क्यों होता है? इसी का विवेचन आगे किया जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त में ज्ञान पर आवरण आने को ज्ञानावरण अथवा ज्ञानावरणीय कर्म कहा है। ज्ञान के पाँच भेद हैं :-1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मन:पर्यवज्ञान और 5. केवलज्ञान।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के ज्ञानावरण कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- मतिज्ञान एवं मतिज्ञानावरण; श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानावरण; श्रुतज्ञान से केवलज्ञान का प्रकटीकरण; श्रुतज्ञान परोक्ष क्यों?; मतिज्ञान से श्रुतज्ञान का भेद; अवधिज्ञान एवं अवधिज्ञानावरण; मन:पर्यायज्ञान एवं उसका ज्ञानावरण; केवलज्ञान और केवलज्ञानावरण; केवलज्ञान-सर्वज्ञता; कर्मक्षय का ज्ञान; त्रिपदी का ज्ञान; अनन्त ज्ञान; ज्ञानावरण कर्मबंध के कारण; ज्ञानावरण का प्रमुख कारण : ज्ञान का अनादर; ज्ञान एवं अज्ञान में भेद; ज्ञान-अज्ञान का जीवन पर प्रभाव; ज्ञानावरण और अज्ञान में भेद; ज्ञानगुण और ज्ञानोपयोग में अन्तर; ज्ञानावरण से सम्बद्ध जिज्ञासा और समाधान; ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण का क्षयोपशम और परिणाम।

दर्शनावरण कर्म

जड़ और चेतन में मुख्यत: दो मौलिक बातों का अन्तर है, यथा- अजीव या जड़ को अनुभव (संवेदन) नहीं होता है तथा वह विचार नहीं कर सकता है। ये ही दो बातें दर्शन और ज्ञान गुण से पुकारी जाती हैं। इनमें से जिस कर्म, कार्य या क्रिया से दर्शन गुण आच्छादित होता है, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है और जिससे ज्ञान गुण आच्छादित होता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है। द्रव्यों, वस्तुओं, उनके गुणों व अवस्थाओं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों व सम्बन्धों के नियमों को जानना ज्ञान है। प्राणी प्रकृति के नियमों की यथार्थता को जितना-जितना समझता जाता है, उतना-उतना उसके ज्ञान का विकास होता जाता है।

मोह के कारण प्राणी में जड़ता आ जाती है। जड़ता आने से उसके देखने (दर्शन-संवेदन करने, साक्षात्कार करने) की शक्ति व जानने की शक्ति क्षीण होती जाती है। जैसे- जैसे चेतना से मूर्च्छा (मोह) हटती जाती है, वैसे-वैसे उसकी संवेदनशक्ति बढ़ती जाती है, यह दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम व उसका परिणाम है। संवेदन के आधार पर ही प्राणी की जानने की शक्ति का आविर्भाव होता है। अत: पहले दर्शन होता है, फिर ज्ञान होता है।

आचार्यों ने सामान्य को दर्शन और विशेष को ज्ञान कहा है। आजकल इसका कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं कि सामान्य ज्ञान दर्शन है, परन्तु यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता है। कारण कि यदि सामान्य शब्द से अभिप्राय यहाँ ज्ञान से लगाया जाय, तो फिर ज्ञान गुण के ही दो भेद हो जायेंगें 1. सामान्य ज्ञान और 2. विशेष ज्ञान। इससे ज्ञान गुण से भिन्न दर्शन गुण के अस्तित्व के ही लोप का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् ने जीव के ज्ञान और दर्शन ये दो भिन्न-भिन्न मौलिक गुण बताए हैं। एक ही ज्ञान गुण की दो अवस्थाएँ नहीं बतायी हैं। अत: यहाँ 'सामण्णगहणं दंसणं' से सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान नहीं हो सकता है।

पूर्वाचार्यों ने दर्शनगुण की विशेषताएँ बतलाई हैं- 1. निर्विकल्प 2. अनाकार 3. अनिर्वचनीय 4. अविशेष 5. अभेद 6. स्वसंवेदन, 7. अंतर्मुख चैतन्य आदि तथा ज्ञान गुण की विशेषताएँ बतलायी हैं- 1. सविकल्प 2. साकार 3. विशेष आदि। यदि हम सामान्य शब्द का अभिप्राय सामान्य ज्ञान से लेंगे, तो ज्ञान की तीनों विशेषताएँ सविकल्पता, साकारता, वचनीयता का दर्शन के साथ जुड़ने का प्रसंग

उपस्थित हो जायेगा और इनके होने पर वह दर्शन 'दर्शन' गुण ही न रहेगा, ज्ञान गुण हो जायेगा।

प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर आचार्यों ने दर्शन की परिभाषा करते हुए 'सामान्य ग्रहण' दर्शन क्यों कहा?

समाधान में कहना होगा कि दर्शन निर्विकल्प व अनाकार होने से अनिर्वचनीय है। जो अनिर्वचनीय है, उसे वचन से परिभाषित नहीं किया जा सकता। परन्तु दर्शन को समझाने के लिए कोई न कोई आधार प्रस्तुत करना आवश्यक था। आचार्यों ने एक निषेधात्मक संकेतपरक मार्ग का अनुगमन किया और वह यह है कि उन्होंने ज्ञान गुण को परिभाषित किया और कहा कि जिसमें विशेष-विशेष जानकारी हो, वह ज्ञान है और ज्ञान गुण से भिन्न जो गुण है, वह दर्शन गुण है। ज्ञानगुण है- विशेष की जानकारी, अत: ज्ञान गुण से भिन्न गुण वह होगा जिसमें विशेष की जानकारी का अभाव हो। संसार में दो ही बातें देखी जाती हैं- सामान्य और विशेष। अत: विशेष के अभाव को दिखाने के लिए आचार्यों ने संकेतात्मक रूप से सामान्य शब्द का प्रयोग किया। जिसका वास्तविक आशय है- सामान्य प्रतिभास, निर्विशेष अनुभव न कि सामान्य की जानकारी। प्रतिभास और जानकारी ये दो सर्वथा भिन्न शब्द हैं। जानकारी में ज्ञान होता है और प्रतिभास में अनुभव होता है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ सामान्य ग्रहण दर्शन कहा है वहाँ सामान्य शब्द का प्रयोग अविशेष अनुभूति के लिए हुआ है, न कि ज्ञान के लिए। अनुभूति का ही दूसरा नाम संवेदन है। श्री वीरसेनाचार्य ने दर्शन और ज्ञान के स्वरूप पर ऊहापोह करते हुए 'सगसंवेयण' स्व-संवेदन को दर्शन कहा है। (षट्खण्डागम, धवला टीका, पुस्तक 13 पृ. 355)

जीव को छोड़कर शेष अन्य किसी द्रव्य को न तो संवदेन ही होता द्दस् और न जानकारी ही। अत: संवेदन और ज्ञान ये दोनों ही जीव के असाधारण गुण या लक्षण हैं।

ऊपर कह आए हैं कि स्व-संवदेन को दर्शन कहते हैं। संवदेनशीलता- अन्तर्मुख चैतन्य, चिन्मयता, निर्विकल्पता, अनाकारता, अभेदता, निर्विशेषता, सामान्य ये दर्शन गुण के द्योतक हैं। दर्शन अनिर्वचनीय होता है, अनुभवगम्य होता है। अत: इसे अंगुलि निर्देश रूप संकेत से ही समझाया जा सकता है, किसी शब्द से नहीं समझाया जा सकता है:- सव्वे सरा नियट्टंति (आचारांग सूत्र)

दर्शन चेतना का मूल गुण है। इस गुण के विकास पर ही ज्ञान गुण का व चेतना का विकास निर्भर करता है। दर्शनगुण का विलोम जड़ता है। संवदेनशीलता पर आवरण आना अर्थात् जड़ता आना ही दर्शनावरणीय है।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के दर्शनावरणीय कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- दर्शनावरणीय कर्म के प्रकार; दर्शन-गुण का विकास-क्रम; निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प अनुभूति में अन्तर; स्वसंवेदन एवं निर्विकल्पता; कामना-त्याग से निर्विकल्पता; दर्शनगुण का फल : चेतना का विकास; दर्शन-साधना की उपलब्धियाँ; दर्शनोपयोग के अभाव में ज्ञानोपयोग नहीं; दर्शन गुण एवं दर्शनोपयोग; ज्ञानगुण एवं ज्ञानोपयोग का भेद; एक समय में एक ही उपयोग; ज्ञानोपयोग : दर्शन गुण की उपलब्धि में सहायक; सम्यग्दर्शन एवं दर्शनगुण; दर्शनावरण कर्म के बंध हेतु; ज्ञान-दर्शन पर मोह से आवरण; दर्शनावरण का अन्य घाति कर्मों से सम्बन्ध।

वेदनीय कर्म

शरीर, मन एवं इनसे संबंधित अनुकूलता में सुख का और प्रतिकूलता में दु:ख का अनुभव वेदनीय कर्म से होता है। सुख का अनुभव होना साता-वेदनीय और दु:ख का अनुभव होना असातावेदनीय है।

जीवस्स सुह-दुक्खुप्पाययं कम्मं वेदणीयं णाम।

-धवल पुस्तक 13 सूत्र 5.5

जीव के सुख और दु:ख का उत्पादक कर्म वेदनीय है।

वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम्। -सर्वार्थसिद्धि, 8.4,

वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदु:खसंवेदनम्। -सर्वार्थसिद्धि, 8.35

जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। सत्-असत् लक्षणवाले वेदनीय कर्म की प्रकृति का कार्य सुख तथा दु:ख का संवेदन कराना है।

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयं सादं।

तस्सोदएक्खएण दु जायदि अप्पत्थणंत सुहो॥

-धवल पुस्तक 7, पृष्ठ 14

जिस वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख और दु:ख इन दो प्रकार की अवस्थाओं का अनुभव करता है, उसी कर्म के क्षय से आत्मस्थ अनन्त सुख उत्पन्न होता है। प्रस्तुत गाथा में वेदनीय कर्म के उदय से सुख-दु:ख का अनुभव होना ही कहा है- बाह्य सामग्री की प्राप्ति होना नहीं कहा है।

सादस्स गदियाणुवादेण जहण्णमंतरमंतोमुहुत्तं उक्कसंपि अंतोमुहुत्तं च वा असादस्स जहण्णमंतरमेगसमाओ, उक्कस्सं छम्मासा। मणुसगदीए असादस्स उदीरणंतरं जहण्णेण एगसमओ उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं (धवल पुस्तक 15, पृ. 68/6)

गति के अनुवाद से सातावेदनीय की उदीरणा का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही है। असाता वेदनीय का उदीरणा काल जघन्य एक समय उत्कृष्ट 6 मास है। मनुष्य गति में असाता की उदीरणा का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अंतमुहूर्त प्रमाण है।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के वेदनीय कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय हैं- साता-असाता वेदनीय कर्म-उपार्जन के हेतु; कर्म का फल : एक प्राकृतिक विधान; साता एवं असातावेदनीय का फल; कर्मोदय से बाह्य निमित्त की प्राप्ति नहीं; वेदनीय कर्म हानिकारक नहीं।

मोहनीय कर्म

जो मोहित करे, मूर्च्छित करे, हित-अहित की पहचान न होने दे वह मोहनीय कर्म है। इसका स्वभाव मद्य के समान है। जैसे मद्य (शराब) के नशे में मनुष्य को अपने हिताहित का भान नहीं रहता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से जीव को अपने स्वरूप एवं हित-अहित, हेय-उपादेय को परखने का बोध नहीं रहता है। वह स्वभाव को भूल जाता है और विभावग्रस्त हो जाता है। जितने भी विकार या दोष हैं, पाप हैं इनका मूल कारण मोहनीय कर्म ही है। मोह के कारण ही जीव स्वभाव के विपरीत आचरण करता है।

मोहग्रस्त व्यक्ति के लिए मोह को समझना उतनी ही टेढ़ी खीर है जितनी टेढ़ी खीर बेहोश व्यक्ति द्वारा यह समझ सकना कि वह बेहोश है। किसी को बेहोशी का ज्ञान होना होश में आने का सूचक है। जितना-जितना व्यक्ति होश में आता जाता है, उतना-उतना उसे अपनी बेहोशी का ज्ञान होता जाता है। इसी प्रकार मोह घटने पर मोह की यथार्थता का ज्ञान होना संभव है। जितना-जितना मोह घटता जाता है,

उतना-उतना मोह के स्वरूप का अधिक-अधिक ज्ञान होता जाता है। यह संभव है कि जिस समय वह व्यक्ति कामना रहित, तटस्थ, शांत व समता अवस्था में है, उस समय कामना में न बहकर-कामना के प्रवाह में बहते समय जो बेसुध होने की स्थिति हुई, उसे देखे तो वह अपनी मोहावस्था का ज्ञान कर सकता है। उसी समय उसे पता चल सकता है कि जिस समय कामना के प्रवाह में बहा, उस समय चित्त कितना अशान्त, क्षुब्ध, व्याकुल, बेहोश हुआ एवं हृदय विदारक वेदना हुई।

व्यक्ति मोह के कारण यथार्थता को नहीं देख पाता। वह हाड़, मांस, रक्त, शकृत्, मूत्र आदि अशुचि वस्तुओं के पुतले (शरीर) में सौंदर्य, मरणशील को स्थायी, दु:ख को सुख, पराधीनता को स्वाधीनता, धन-भवन आदि जड़ वस्तुओं को जीवन मान लेता है और इन्हीं की प्राप्ति में अपना जीवन पूरा कर देता है तथा मृत्यु आने के क्षण तक भी उसे सुख व तृप्ति की प्राप्ति नहीं होती है। इसलिए मोहकर्म पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मोह को आठों कर्मों का सेनापति की उपमा दी जाती है, अत: जो इसे जीत लेता है वह समस्त कर्मों की सेना को जीत लेता है अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ हो जाता है। कर्म-बंध का मूल मोहकर्म ही है, क्योंकि बंधहेतु-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय इसी मोहकर्म के विविध रूप हैं। मोहनीय कर्म के मूलत: दो प्रकार है- 1. दर्शन मोहनीय और 2. चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय - श्रद्धा, विश्वास, आस्था या मान्यता को दर्शन कहते हैं। जब हमारी श्रद्धा, मान्यता मोहयुक्त हो तो उसेदर्शन मोहनीय कहते हैं। इससे जीव में स्वरूप, स्वभाव, साध्य, साधन, सिद्धि व साधक के विषय में विपरीत धारणाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार हैं- 1. मिथ्यात्व मोहनीय 2. सम्यक्त्व मोहनीय और 3. मिश्र मोहनीय।

मिथ्यात्व मोहनीय - अविनाशी, सत्य, तत्त्व के प्रति श्रद्धा न होना और विनाशी, अध्रुव, अनित्य पदार्थों व भोगों के प्रति श्रद्धा होना मिथ्यादर्शन या मिथ्यात्व मोहनीय है। इसके विपरीत ध्रुव व सत्य तत्त्व के प्रति श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। जैन वाङ्मय में मिथ्यात्व मोहनीय को संक्षेप में मिथ्यात्व कहते हैं।

सम्यक्त्व मोहनीय - जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव सम्यग्दर्शनजनित शान्ति के सुख में रमण करने लगे और यथाख्यात चारित्र के प्रति उत्कृष्ट उत्कंठा न होने लगे वह सम्यक्त्व मोहनीय है। दूसरे शब्दों में सम्यक्त्व में मोहित होना आगे न

बढ़ना सम्यक्त्व मोहनीय है। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शान्ति का अनुभव होता है। उस शान्ति के सुख का भोग करना, मोहन करना, उसी में रमण करना, संतुष्ट रहना और चरित्र मोहनीय के उपशम व क्षय के लिए पराक्रम न करना या पराक्रम में शिथिलता आना अर्थात् प्रमादग्रस्त रहना सम्यक्त्व मोहनीय है। तात्पर्य यह है कि शान्ति का संपादन करना है, सुरक्षित रखना है, परन्तु साधक का लक्ष्य, चित्त की इस शान्त अवस्था में रमण न करके, इससे ऊपर उठकर-असंग होकर चारित्र मोह का क्षय कर वीतराग होना है, इसके लिए पुरुषार्थ न कर शान्ति में रमण करना संतुष्ट रहना सम्यक्त्व मोहनीय है।

सम्यक्त्व का सुख विषयभोग के समान प्रतिक्षण क्षीण नहीं होता है, परन्तु यह अव्याबाध नहीं है। अव्याबाध सुख चारित्र मोह के क्षय एवं वीतरागता से ही सम्भव है। सम्यक्त्व सुख में रमण करना ऐसा ही है, जैसा किसी पथिक का पथ में आए सुन्दर, सुखद, रमणीय उद्यान में रमण करना अपने गन्तव्य स्थान की ओर न बढ़ना, गन्तव्य स्थान से वंचित रहना। इसी प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के सुख में रमण करना चारित्र मोह के क्षय से अनुभूत वीतरागता के अव्याबाध व अनन्त सुख से वंचित रहना है।

मिश्र मोहनीय - जिस कर्म के उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के प्रति श्रद्धा हो वह मिश्र मोहनीय है। इसका उदय अंतमुहूर्त्त से अधिक काल रूप तक नहीं रहता है। विषय-भोगों के सुख के साथ पराधीनता, जड़ता, चिन्ता आदि असंख्य दुःख लगे होने से विषय-भोग के सुख को हेय व त्याज्य मानना व निज-स्वरूप में स्थित होने को उपादेय मानना सम्यग्दर्शन है। इसके विपरीत विषय-भोगों के सुख को ग्राह्य व उपादेय मानना, इसमें जीवन-बुद्धि होना मिथ्यात्व है। मिश्र मोहनीय में विषय-कषाय जन्य सुख को आंशिक रूप में हेय और आंशिक रूप में उपादेय, ये दोनों मानना है। यह स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय नहीं रहती है।

चारित्र मोहनीय - आत्मा का स्वभाव-विरुद्ध आचरण चारित्र मोहनीय है। यह ज्ञान के अनादर रूप आचरण का परिणाम है। जहाँ मोहयुक्त दृष्टि है अर्थात् दर्शन मोहनीय है वहाँ चारित्र मोहनीय आवश्यक रूप से होता है। चारित्र मोहनीय की कर्मप्रकृतियाँ 25 हैं, जिनमें 16 कषाय एवं 9 नोकषाय कहे गए हैं-

16 कषाय- (1-4) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया एवं लोभ। (5-8) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ (9-12) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ (13-16) संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ।

9 नोकषाय- (17) हास्य (18) रति (19) अरति (20) भय (21) शोक (22) जुगुप्सा (23) स्त्रीवेद (24) पुरुषवेद (25) नपुसंकवेद।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के मोहनीय कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- कषाय का स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेद; नो कषाय; हास्य-रति-अरति-शोक; भय-जुगुप्सा; पुरुषवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद; मोहनीय कर्म के बंध के कारण; मोह विजय क्यों आवश्यक?

आयु कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव जीवित रहता है, एक भव में अवस्थित रहता है, चाहकर भी उससे निकल नहीं पाता, उसे आयु कर्म कहते हैं। यह नियम है कि प्राणी की प्रवृत्ति जब प्रगाढ़ हो जाती है तो वह प्रकृति (आदत) का रूप धारण कर लेती है। फिर वह जीवन बन जाती है अर्थात् उस प्रकृति के अनुरूप ही वह आगे का जीवन या भव धारण करता है। यह भव धारणा जिससे होती है, वह आयु कर्म है। भव की स्थिति ही आयु कर्म की स्थिति है। संक्षेप में शरीर की जीवनी-शक्ति को आयु कर्म कहा जा सकता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि आयु कर्म का बंध सदैव नहीं होता है तथा आयु कर्म का बंध प्राणी की मध्यमान प्रकृति (औसत आदत) के अनुसार होता है। भावावेश आदि में आकर की गई प्रवृत्ति की तीव्रता या मन्दता में जो केवल कुछ काल टिकने वाली है, उसमें आयु कर्म का बंध नहीं होता है। आयुकर्म चार प्रकार का है- 1. नरकायु 2. तिर्यंचायु 3. मनुष्यायु और 4. देवायु। इन चारों आयुओं के बंध के हेतुओं का ज्ञान जीवन के लिए अत्युपयोगी है। अतः यहाँ पर प्रत्येक आयु कर्म के बंध के हेतुओं पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के आयु कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- नरकायु; तिर्यंचायु; मनुष्यायु; देवायु; गति और आयु। आयु कर्म का स्थिति बंध विशुद्धि भाव से।

नाम कर्म

नाम कर्म शरीर से संबंधित नाना रूपों का सूचक है। इसीलिए नाम कर्म को चितेरे की एवं नाम कर्म के भेदों को नाना प्रकार के चित्रों की उपमा दी गई है। यथा- नामकम्मं चित्तिसमं।-कर्मग्रन्थ भाग-1, गाथा 22

अर्थात् जिस प्रकार आकृति की बनावट एवं रंगों की सजावट से चित्र नाना रूप धारण कर लेते हैं, इसी प्रकार शरीर की आकृति आदि की बनावट और जीव के परिणामों से शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों से नाम कर्म अनेक रूपों में प्रकट होता है।

नाम कर्म का सम्बन्ध शरीर से है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन, क्रिया आचरण व व्यवहार से है। शरीर में इन्द्रियों का होना, शरीर की संरचना, आकृति, सबलता-निर्बलता (हनन) शरीर के पुद्गलों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, वचन का कांत, मधुर, प्रिय होना आदि सब नाम कर्म से सम्बद्ध हैं।

नाम कर्म की 36 पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का सम्बन्ध शरीर संरचना विज्ञान से है, यथा 5 शरीर (औदादिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस शरीर, कार्मण शरीर)3 अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय, आहारक), 6 हनन (वज्रऋषभ नाराच, ऋषभ नाराच, नाराच, अर्द्ध नाराच, कीलक और सेवार्त्त) 6 संस्थान(समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्जक और हुंडक), वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, अगुरु-लघु, निर्माण, शुभ-अशुभ, स्थिर-अस्थिर, प्रत्येक, साधारण ये 36 पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ शरीर से संबंधित हैं। इनमें जो शरीर के स्वरूप एवं पूर्णरूप की सूचक हैं तथा सहायक हैं वे पुण्य प्रकृतियाँ हैं और जो अनिष्ट हैं अस्वस्थता व अपूर्णता की सूचक हैं वे पाप प्रकृतियाँ हैं।

चित्रकार द्वारा कोई चित्र बना देने के पश्चात् उसके भाव बदल जाते हैं। पहले का भाव नष्ट हो जाता है, नया भाव आ जाता है, परन्तु चित्र नष्ट नहीं होता है कुछ काल तक रहता है। इसी प्रकार घातिकर्म बदल जाते हैं, परन्तु उनके निमित्त से उत्पन्न हुए अघाती कर्म तत्काल नष्ट नहीं होते हैं, बने रहते हैं। उन पर प्राणी का वश नहीं चलता है, उनका प्रकृति के विधान से सर्जन होता है। वे प्रकृति की देन हैं। प्रकृति के विधान में किसी का अहित नहीं है। अतः ये कर्म अघाती हैं।

घाती कर्म यानी दोष प्राणी की स्वयं की उपज या देन हैं। घाती कर्म करने या न करने में एवं उनका क्षय करने में प्राणी स्वाधीन है, परन्तु अघाती कर्मों का क्षय करने में स्वाधीन नहीं है। जैसे भोजन करने न करने में, अच्छा बुरा भोजन करने में प्राणी स्वाधीन है, परन्तु भोजन के पश्चात् उसका पाचन होना, उसका शरीर पर प्रभाव प्रकट होना- यह प्रकृति का कार्य है, इसमें प्राणी स्वाधीन नहीं है। विष खाना न खाना अपने वश की बात है, परन्तु उसके प्रभाव रूप मूर्च्छा-बेहोशी न आने में वश की बात नहीं है। शरीर का विकास होना, आयु समाप्त होना, निकृष्ट

मानसिक स्थिति का होना, आर्त-रौद्र ध्यान होना वश की बात नहीं है, ये स्वत: होते हैं। इसी प्रकार सात्त्विक भोजन, शरीर का पुष्ट होना, साता एवं असाता का वेदन होना, जीवनी- शक्ति का सुरक्षित रहना, शरीर-मन का प्रसन्न होना स्वत: होता है।

नामकर्म की कुछ प्रकृतियों के विशेष अर्थ

विहायोगति नामकर्म

जीव की चाल को विहायोगति कहते हैं। इसके दो भेद हैं- शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति।

शुभ-विहायोगति- जिस कर्म के उदय से जीव की चाल शुभ हो अर्थात् उसे चलने में कठिनाई नहीं हो, वह शुभ विहायोगति है।

अशुभ-विहायोगति- जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अशुभ हो अर्थात् उसे चलने में कष्ट हो वह अशुभ विहायोगति है। जैसे लंगड़ा कर चलना, पोलियो होने से पैरों को घसीटते हुए चलना।

कुछ विद्वान् हाथी जैसी चाल को शुभ और ऊँट जैसी चाल को अशुभ मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, कारण कि पशु, पक्षी एवं सब जीवों को अपनी स्वाभाविक व सहज चाल बुरी नहीं लगती है। ऊँट को भी अपनी चाल अच्छी ही लगती है, बुरी नहीं।

जिज्ञासा- विहायस् आकाश को कहते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। अत: जो भी गति होती है वह आकाश में ही होती है, अन्यत्र हो ही नहीं सकती, फिर गति शब्द के साथ विहायस् विशेषण क्यों लगाया गया?

समाधान- विहायस् विशेषण न लगाकर यदि केवल गति ही कहते तो नाम कर्म की प्रथम प्रकृति का नाम भी गति होने के कारण पुनरुक्ति दोष की आंशका हो जाती और इन दोनों गतियों की भिन्नता को जानने में भ्रान्ति हो जाती। अत: यहाँ जीव की चाल को गति समझने और नरक आदि गति को ग्रहण न करने हेतु विहायस् शब्द लगाना उपयुक्त ही है।

अगुरुलघु नाम कर्म

जिस प्रकृति के उदय से कान, नाक, आँख, हाथ , पैर आदि शरीर के अवयव छोटे-बड़े न होकर यथोचित हों, वह अगुरुलघु नामकर्म प्रकृति है। इसका उदय प्रत्येक प्राणी में सदैव रहता है।

अगुरुलघु का अर्थ होता है न तो छोटा, न बड़ा अर्थात् जैसा चाहिये वैसा होना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संतुलित अवस्था ही अगुरुलघु है। जीवन को चलाने के लिए शरीर के हाथ, पैर, नाक, कान आदि अंगों का संतुलित रहना आवश्यक है। शरीर में यह एक प्रकृति प्रदत्त प्रक्रिया है जिससे उसका सिर, नाक, कान, आँख, पैर, पेट, कमर आदि संतुलित अनुपात में होते हैं। यही संतुलित अनुपात शरीर को स्वस्थ रखता है एवं टिकाये रखता है। इसीलिए शरीर को संतुलित रखने वाली अगुरुलघु प्रकृति का उदय सदा माना गया है। किसी व्यक्ति का पेट या शरीर भारी अर्थात् गुरु हो जाता है तो यह अगुरुलघु प्रकृति के निर्बल होने का द्योतक है। ऐसा व्यक्ति अस्वस्थ होता है व उसका जीवन दुर्भर हो जाता है। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के निर्माण में अगुरुलघु प्रकृति का बहुत बड़ा भाग होता है।

शरीर में संतुलन रखने वाली अंतस्रावी ग्रंथियों को भी अगुरुलघु कर्मोदय कह सकते हैं- जैसे थायरायड पैरा थॉयराइड, एड्रीनल, अग्नाशय, थाइमस, पीनियल आदि। इनमें प्रत्येक से अलग-अलग हार्मोन स्रावित होते हैं, जो शरीर के अंग-उपांग व अन्य तत्त्वों को नियंत्रित रखने का कार्य करते हैं। ये ग्रंथियाँ हार्मोन वाहिनी होती हैं। अत: इन्हें शरीर के अंगोपांग नहीं कहा जा सकता। थायरायड ग्रन्थि शरीर रूपी मशीन का बड़ा अच्छा रेगुलेटर है। यदि थायरायड की सक्रियता कम हुई तो मोटापा आ जायेगा, थकान अनुभव होगी। सक्रियता अधिक हुई तो वजन घटता ही जायेगा, हृदय की धड़कन बढ़ेगी। थायरायड की गड़बड़ी का अर्थ है शरीर के संतुलन चक्र का गड़बड़ होना। पैराथायरायड का स्राव रुधिर में कैल्सियम और फॉस्फोरस की मात्रा का संतुलन रखता है। एड्रीनल ग्रंथि के स्राव का प्रभाव रक्तचाप, श्वास की गति आदि पर पड़ता है। अग्न्याशय ग्रंथि का स्राव रुधिर में शक्कर की मात्रा का नियमन करता है। इसकी कमी से मधुमेह रोग हो जाता है।पीयूष ग्रन्थि में लगभग 13 प्रकार के हार्मोन स्रावित होते हैं। इनमें से कुछ अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को नियन्त्रित करते हैं। एक हार्मोन शरीर की अस्थियों की लम्बाई को नियन्त्रित करता है तथा जननग्रन्थि को भी प्रभावित करता है।

जिस प्रकार मनुष्य में अन्त:स्रावी ग्रन्थियों से हार्मोन पैदा होते हैं उसी प्रकार पशुओं व पौधों में भी इन्डोस एसिटिक अम्ल हार्मोन होते हैं। पौधों के शीर्ष स्थानों पर कई इन्डोस हार्मोन बनते हैं जो कि पौधे की वृद्धि और परिवर्द्धन का नियंत्रण करते हैं।

आशय यह है कि पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सभी प्राणियों के शरीर में उसको यथोचित रूप में संतुलित रखने वाले हार्मोन होते हैं, जो शरीर में सदा कार्यरत रहते हैं। इसीलिए इन्हें अगुरुलघु प्रकृति कहा जा सकता है। शरीर से अर्थात् पुद्गल से संबंधित होने से यह प्रक्रिया पुद्गल विपाकी प्रकृति कही गयी है।

निर्माण नाम कर्म

नाम कर्म की 93 प्रकृतियों में निर्माण एक प्रकृति है। यह पुद्गल विपाकी है। कारण कि इसका सम्बन्ध पुद्गलों द्वारा शरीर का निर्माण करना होता है। 'निर्माण' शब्द का अर्थ है बनाना या रचना करना। शरीर में सर्जन की जो प्रक्रिया चलती है वही निर्माण नामकर्म है। जब शरीर पर कहीं अस्त्र-शस्त्र की चोट लग जाती है और घाव हो जाता है तो उस घाव को भरने के लिए, दूसरे शब्दों में उस विक्षत अंग का पुनः निर्माण करने के लिए शरीर में एक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप घाव के तल में मांस का व घाव के चारों ओर चमड़ी का निर्माण होने लगता है और धीरे-धीरे घाव पूरा भर जाता है। शरीर की यही प्रक्रिया निर्माण नामकर्म कही जाती है।

शरीर में जब कहीं हड्डी टूट जाती है तो उसे पुनः जोड़ने, निर्माण करने का कार्य शरीर की यही निर्माण प्रकृति करती है। चिकित्सक उसे जोड़ नहीं सकता है। चिकित्सक तो केवल हड्डी के टूटे हुए टुकड़ों को सही स्थिति में लाकर चूने का पट्टा बांध देता है। उस चूने के पट्टे में कोई दवा नहीं होती है और न कोई दवा ही लगाई जाती है। शरीर को यह निर्माणकारी प्रकृति ही उसे पुनः सीधा कर एक बनाती है। शरीर की निर्बलता को दूर कर सबल बनाना भी इसी प्रकृति का कार्य है।

जिस व्यक्ति की यह निर्माण प्रकृति जितनी सबल होती है उस व्यक्ति का घाव उतना ही शीघ्र भरता है एवं हड्डी शीघ्र जुड़ती है और जिस जीव की निर्माण कर्म प्रकृति निर्बल होती है उसके घाव भरने व हड्डी जुड़ने में उतना ही अधिक समय लगता है। वृद्धावस्था में घाव भरने व हड्डी जुड़ने, शरीर में शक्ति आने में अधिक समय लगने का कारण भी निर्माण नाम की प्रकृति का निर्बल हो जाना है।

शरीर-क्रिया विज्ञान में शरीर की मरम्मत व निर्माण करने वाले पदार्थों की उत्पत्ति को उपचय सृजनात्मक क्रिया कहते हैं। विज्ञान जगत् में जीवधारी का पहला मुख्य लक्षण उपचयापचय है। जीव के शरीर में सजीव कोशिकाओं में अनवरत होने वाली जैव रासायनिक क्रियाओं को सामूहिक रूप से उपचयापचय कहते हैं। ये

जैव-रासायनिक क्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। एक प्रकार की क्रियाएँ सृजनात्मक होती हैं, जिससे निरन्तर नये यौगिक बनते रहते हैं और शरीर का सृजन या निर्माण निरन्तर होता रहता है। इसे ही कर्म-सिद्धान्त में निर्माण नामकर्म कहा जा सकता है।

आतप नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तो उष्ण नहीं हो, परन्तु शरीर से उष्ण प्रकाश निकलता हो उसे आतपनाम कहा है। सूर्य के विमान स्वरूप पृथ्वी कायिक एकेन्द्रिय जीवों के ऐसा शरीर माना गया है, परन्तु वर्तमान में खगोल विज्ञान ने सूर्य को आग का गोला माना है, विमान नहीं। अतः यह खोज का विषय है। कुछ मछलियाँ व जन्तु ऐसे हैं जिनके शरीर से निकलने वाले प्रकाश से विद्युत् के करंट जैसा धक्का लगता है।

उद्योत नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत अर्थात् चमक उत्पन्न हो। उद्योत का अर्थ है शरीर से प्रकट होने वाला शीतल प्रकाश। तिर्यंच गति में एकेन्द्रिय वनस्पति आदि से लेकर पंचेन्द्रिय तक के पशु-पक्षी पाये जाते हैं, जिनके शरीर से शीतल प्रकाश निकलता है। पहले साधारणतः जुगनू को ही ऐसा माना जाता था, परन्तु जीव विज्ञान की खोज में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक में उद्योत प्रकट करने वाले जीव हैं। जीव-विज्ञान में जिन जीवों के प्रकाश का उत्सर्जन होता है उन्हें प्रदीपी जीव कहते हैं, इनमें केवल जुगनू ही नहीं, प्रदीपी जीवों में कुछ विशिष्ट प्रकार के जीवाणु कवक, स्पन्ज, कोरल, प्लैंजिलेट, रेडियो-लेरियन, घोंघे, कनखजूरे, कान सलाई गोवारी(मिलीपीड) आदि अनेक प्रकार के कीट तथा अधिक गहराई में पाई जाने वाली समुद्री मछलियाँ आदि हैं। कवक और बैक्टिरिया जाति के एकेन्द्रिय जीव जब पेड़ों की सड़ी-गली शाखाओं-प्रशाखाओं पर उग आते हैं, तो वृक्ष प्रकाशमय दिखाई देने लगते हैं। यह प्रकाश इन्हीं बैक्टीरिया जीवों व कवकों का परिणाम है। न्यूजीलैण्ड की कुछ गुफाओं की छतों पर हजारों की संख्या में ग्लोवर्म-लार्वा रेंगते रहते हैं, जिनके शरीर के प्रकाश से गुफायें जगमगाती रहती हैं, इनके शरीर से एक धागा निकलता रहता है, जब कोई गुफा की दीवारों को थपथपा देता है, या आवाज करता है, तो प्रकाश निकलना बंद हो जाता है, गुफा में अंधेरा हो जाता है। यहीं एक कृमि कीट सेटोप्टेरसी पाया जाता है। यह इतना चमकीला होता है कि इसे मछली खा लेती है तो उसका पेट चमकने लगता है।

अमेरिका की चेजपीक खाड़ी में नाक्टील्यूका नाम का जीव होता है, नाक्टील्यूका का शाब्दिक अर्थ होता है रात्रि का प्रकाश। ये जीव सूक्ष्मदर्शी यंत्र से दिखाई देते हैं, परन्तु इतनी अधिक संख्या में होते हैं, कि खाड़ी का पानी बहुत दूर तक हरे प्रकाश से जगमगाता है। हरा प्रकाश प्रकट करने वाले जीवों में जेलीफिश भी एक है। कुछ जन्तु जापान के निकट सिप्रिडाइना समुद्र के तट के जल में पाये जाते हैं, जब वे भोजन की खोज में बाहर निकलते हैं तब तो उनके चारों ओर नीला प्रकाश छा जाता है।

अमेरिका में एक 'ग्रव' नामक जीव पाया जाता है। इसके लार्वा के सिर पर लाल रंग के चमकीले प्रकाश वाले दो बिन्दु दिखाई देते हैं। जब रात्रि में वह चलता है तब इंजन के प्रकाश की तरह दो बिन्दु चमकते दिखाई देते है, अत: वह जीव रेलरोड़वर्म के नाम से पुकारा जाता है।

प्रदीपी जीवों में जुगनुओं की जाति बहुत प्रसिद्ध है। लगभग 50 जुगनुओं के इकट्ठे प्रकाश में पुस्तक पढी जा सकती है। जब मादा जुगनू नर को पास बुलाने का संकेत करती है तो उसका प्रकाश 80-80 मीटर दूर से दिखाई देता है। जुगनू के प्रकाश में अल्ट्रावायलेट और इंफ्रारेड किरणें नहीं होती हैं। अत: इनका प्रकाश शीतल होता है। इस ठंडी आग का होना इसमें ल्युसिर्फेरिन नामक पदार्थ का होना है। आशय यह है कि एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के तिर्यंचों में उद्योत नामकर्म का अस्तित्व पाया जाता है।

पराघात नामकर्म

'पर' पर आघात कर उसे पराजित करने की शक्ति वाली कर्म प्रकृति को पराघात कहा जाता है। इसे प्रतिरक्षात्मक शक्ति प्उउनदपजल च्वूमत कहा जा सकता है।

वर्तमान में अपने दर्शन व वाणी से दूसरों को निष्प्रभ कर देना अथवा बड़े-बड़े बलवानों व पहलवानों के लिए अजेय होना पराघात माना जाता है। परन्तु यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता है, कारण कि इन्द्रिय पर्याप्ति की उपलब्धि होते ही संसार के समस्त जीवों के नियम से पराघात का उदय होता है। यह उदय शरीर के विद्यमान रहते निरन्तर होता रहता है। इस प्रकार सभी जीव सदैव अजेय ही सिद्ध होंगे। कोई भी जीव कभी भी पराजय को प्राप्त नहीं होगा। अत: उपर्युक्त अर्थ की अपेक्षा शरीर की बैक्टीरिया, वायरस आदि कीटाणुनाशक, प्रतिरोधात्मक शक्ति इम्यूनिटी पावर

को पराघात मानना अधिक उपयुक्त लगता है। कारण कि असंख्य प्रकार के बैक्टीरिया आदि कीटाणुओं का शरीर पर निरन्तर आक्रमण होता रहता है और प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रत्याक्रमण कर उन पर विजय प्राप्त करती रहती है।

पराघात प्रकृति उसे कहते हैं, जिससे पर अर्थात् दूसरे का घात हो, दूसरे पर विजय प्राप्त हो। यह पुद्गल विपाकी प्रकृति है, इसलिये इसका सम्बन्ध शरीर से है, शरीर में आने वाले दूषित पदार्थ, दूषित वायु विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थ और संक्रामक या साधारण ज्वर- जुकाम आदि बीमारी पैदा करने वाले कीटाणु शरीर में बाहरी वातावरण से आकर हमला करते हैं- इसलिये सबको पर कहा जाता है। परन्तु हमारे शरीर में रक्त के श्वेतकण आदि ऐसे तत्त्व हैं जो इन बाह्य विकारों या शरीर में होने वाले विकारों से युद्धकर इनको पराजित करते रहते हैं। पर को आघात पहुँचाने वाली यही प्रकृति पराघात कहलाती है। पराघात प्रकृति के उदय से जीव शरीर की दृष्टि से शक्तिशाली होता है। वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों का सामान्य रूप से सामना कर सकता है। प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक ऐसी प्रक्रिया की व्यवस्था की है जो विजातीय पदार्थ के प्रभाव से उसे सुरक्षित रखती है। यह निष्प्रभावन तंत्र ही पराघात नामकर्म है, जो पर के आघात व आक्रमण को प्रभावहीन बनाने का कार्य करता है। यह पुण्य प्रकृति है।

जीव जिस संसार में रहते हैं, उसके वातावरण में विषाणु, जीवाणु, कीटाणु आदि ऐसे जीव भरे पड़े हैं जो प्राणी के शरीर पर आक्रमण करके उसे अपना आहार बनाना चाहते हैं। डाक्टरों का कथन है कि हैजे के, मोतीझरे के, राजयक्ष्मा आदि रोगों के कीटाणु प्रायः सभी जगह न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं और अनजाने ही प्राणी के शरीर में प्रवेश कर उस शरीर को आहार व निवास स्थान बनाकर अपनी आबादी बढ़ाना चाहते हैं। ये एक दिन में इतने बढ़ जाते हैं कि एक जीव से करोड़ों जीवों की उत्पत्ति हो सकती है। ये कीटाणु आदि विजातीय तत्त्व श्वास, भोजन, स्पर्श आदि के द्वारा हमारे शरीर में पहुँच जाते हैं। परन्तु हमारे शरीर में रक्त के श्वेताणु आदि ऐसे तत्त्व हैं जो इनके साथ युद्धकर इनको पराजित कर इनको नष्ट कर देते हैं। इन्हीं विजातीय पदार्थों व शरीर को आघात पहुंचाने वाले वाले कीटाणुओं पर विजय पाने वाली प्रकृति पराघात कहलाती है।

उपघातनामकर्म

उपघात का अर्थ है अपने ही अंग द्वारा अपने शरीर को हानि पहुंचाना। वर्तमान में उपघात के उदय से प्रतिजिह्वा, चोर दांत, रसौली आदि उपघातकारी

विकृत अवयवों की प्राप्ति माना जाता है, परन्तु संसार के समस्त जीवों के शरीर पर्याप्ति की उपलब्धि होते ही नियम से उपघात का उदय होता है। यह उदय शरीर के साथ मृत्यु पर्यन्त होता रहता है। साधारण एकेन्द्रिय वनस्पति काय के जीव जो एक शरीर में अनन्त होते हैं, उनके भी उपघात का उदय सदैव रहता है और इन्द्रिय-प्राप्ति के पहले ही इसका उदय हो जाता है। अतः इसका सम्बन्ध इन्द्रिय से नहीं हो सकता। आहार करने से शरीर बनते ही उसमें विजातीय पदार्थ उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाते हैं, जो शरीर के लिए घातक हैं। अतः शरीर में इन विजातीय पदार्थों की उत्पत्ति को उपघात कहना उपर्युक्त अर्थ से अधिक उपयुक्त लगता है।

जिस कर्म के उदय से स्वयं के शरीर का घात हो, शरीर को हानि पहुँचे,उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं। इससे शरीर में स्थित रक्त संस्थान, पाचन संस्थान, श्वास संस्थान आदि संस्थानों व अवयवों में सदैव कुछ विजातीय पदार्थों से अनेक विकार उत्पन्न होते ही रहते हैं। कुछ विकार बाहरी वातावरण जैसे दूषित वायु, दूषित खाद्य आदि पदार्थों के द्वारा भी शरीर में प्रकट होते हैं, कई संक्रामक रोगों के कीटाणु भी शरीर में प्रवेश कर जाते हैं जिनके द्वारा शरीर में हानिकारक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो हानि पहुँचाती हैं। यह सब उपघात प्रकृति का उदय है। यह पुद्गल विपाकी प्रकृति है। इसका फल शरीर में पुद्गलों के रूप में ही होता है। इसे पाप प्रकृति कहा गया है।

उपघात-पराघात (प्रतिरोध तंत्र)- पराघात एवं उपघात कर्म-प्रकृति पुद्गल विपाकी हैं। पुद्गल-विपाकी शब्द का अर्थ है इनका फल शरीर के पुद्गलों के रूप में ही प्रकट होता है। इनमें उपघात प्रकृति को पाप प्रकृति और पराघात प्रकृति को पुण्य प्रकृति कहा है, जो उचित ही है। कारण कि उपघात प्रकृति उसे कहा जाता है जिससे शरीर को हानि पहुँचे और पराघात प्रकृति उसे कहा जाता है जिससे दूसरे पर विजय मिले।

शरीर में हानि उत्पन्न होने का क्या कार्य है? इस पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि शरीर में स्थित रक्त संस्थान, पाचन संस्थान, श्वास संस्थान आदि सभी संस्थानों में प्रतिक्षण कोई न कोई विकार उत्पन्न हो रहा है। रक्त में प्रतिक्षण अशुद्धि आ रही है। इस अशुद्धि का शोधन हृदय के संचालन से हो रहा है तथा पसीने आदि के रूप में वह अशुद्धि बाहर निकलती है। पाचन संस्थान में विकार उत्पन्न हो रहा है जो मल-मूत्र के रूप में वह बाहर निकलता है। श्वसन द्वारा बाहर निकलने वाली वायु

भी अन्दर की विकारयुक्त वायु ही है, जिसमें कार्बन-डाई- आक्साइड मिला हुआ है। जो शरीर के लिए हानिकारक होता है। शरीर में इन हानिकारक पदार्थों का उत्पन्न होना ही उपघात प्रकृति है।

तात्पर्य यह है कि शरीर में निरन्तर हानि पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते ही रहते हैं तथा शरीर उन्हें श्वास आदि के द्वारा बाहर निकालने का कार्य करता ही रहता है। एक क्षण भी ऐसा नहीं जाता है कि जिसमें विकार उत्पन्न न होते हों। शरीर में विकार उत्पन्न होने की यह प्रक्रिया शरीर के धारण करने के साथ चालू हो जाती है। इसीलिए कर्म-सिद्धान्त में शरीर पर्याप्ति के साथ ही उपघात प्रकृति का उदय माना है।

जिन जीवों की पराघात प्रकृति कमजोर होती है उनके शरीर पर बाहर से आक्रमण करने वाले क्षय, हैजे आदि के कीटाणु विजयी हो जाते हैं और थोड़े से समय में ही वे अपनी संतति बढ़ाकर लाखों-करोड़ों की संख्या में हो जाते हैं और वह प्राणी क्षय रोग व हैजे आदि से पीड़ित हो जाता है। चिकित्सक पुनः उनकी उन कीटाणुओं पर विजय प्राप्त करने की शक्ति को बढ़ाने के लिए औषधियाँ देते हैं और औषधियों से जब पराघात प्रकृति की शक्ति बढ़ जाती है तब वह रोग के कीटाणुओं को युद्ध में हराकर उनका नाश कर देती है। तब प्राणी पुनः रोग मुक्त हो जाता है। नगर में हैजे आदि का रोग फैलने पर एक ही वातावरण व एक ही घर में रहने पर भी कुछ व्यक्ति रोग ग्रस्त नहीं होते हैं और कुछ व्यक्ति रोग ग्रस्त हो जाते हैं। इसका भी कारण यही है कि जिनके शरीर में ऐसे तत्त्व विपुल मात्रा में विद्यमान हैं, जो रोग के कीटाणु पर आक्रमण करके उनका नाश करने में समर्थ हैं, तो वह व्यक्ति उस रोग से बच जाता है। परन्तु जिस व्यक्ति में रोग के कीटाणुओं पर विजय पाने वाले तत्त्वों की कमी हो वह उस रोग से ग्रस्त हो जाता है। कर्म-सिद्धान्त की भाषा में यह कहा जा सकता है कि सबल पराघात प्रकृति वाला व्यक्ति संक्रामक रोगों से बच जाता है और निर्बल पराघात प्रकृति वाला व्यक्ति संक्रामक रोग से आक्रांत हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास नामकर्म

नामकर्म की प्रकृतियों में 'श्वासोच्छ्वास नाम कर्म प्रकृति' जीव विपाकी प्रकृति है। कारण कि इस क्रिया का सम्बन्ध जीवन से है, न कि पुद्गलों से। श्वास छोड़ने में जो वायु बाहर निकलती है वह विकृत होती है और उसका विकृत होना

उपघात प्रकृति का कार्य है और श्वास में ग्रहण की गई वायु से आक्सीजन ग्रहण करना, उसका उपयोग करना, उसे यथास्थान पहुँचाना, उससे नव-निर्माण करना, शरीर को पुष्ट करना आदि शरीर, बंधन, संघातन व निर्माण आदि नामकर्म की पुद्गल विपाकी प्रकृतियों के कार्य हैं। इस प्रकार वायु के रूप में ऑक्सीजन आदि पुद्गलों का आना व कार्बन-डाई-ऑक्साइड पुद्गलों का वायु के रूप में निकलना ये दोनों बातें पुद्गलों से अर्थात् पुद्गल विपाकी प्रकृतियों से संबंधित हैं, परन्तु श्वास को निकालने व छोड़ने की प्रक्रिया किन्ही पुद्गलों द्वारा नहीं होती है प्रत्युत स्वयं जीव के द्वारा होती है। इसी कारण श्वसन की यह प्रक्रिया जीवन की द्योतक है। इसीलिए प्रक्रिया या प्रवृत्ति के बंद होते ही जीवन का भी अंत हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास के जीव विपाकी होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि श्वास की गति के तीव्र-मंद होने का सम्बन्ध जीव के भावों के साथ है। जब जीव में राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकार तीव्र होते हैं तो श्वास की गति तीव्र हो जाती है। राग की तीव्रता से ही संभोग के समय श्वास की गति तीव्र हो जाती है। इस प्रकार विषय-कषाय रूप विकारों का सम्बन्ध श्वासोच्छ्वास के साथ है। जब चित्त शान्त व एकाग्र होता है तो स्वतः श्वास की गति धीमी हो जाती है एवं कुम्भक होने लगता है। श्वास का सम्बन्ध भावों के साथ होने से ही इसे जीव विपाकी प्रकृति कहा गया है।

श्वासोच्छ्वास को जीव अपने प्रयत्न द्वारा रोक सकता है, दीर्घ, तेज व धीमा कर सकता है। इससे यह भी फलित होता है कि जीव विपाकी कर्म प्रकृतियाँ वे हैं जिनके उदय का सम्बन्ध जीव के अध्यवसाय, मन, वचन और काया की प्रकृति या प्रयत्न से है। पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ वे हैं जो बिना प्रयत्न के स्वतः उदित होती हैं।

तीर्थंकर प्रकृति- जिस कर्म के उदय से जीव धर्म तीर्थ की स्थापना करे उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं। इसका उदय कैवल्य दशा में ही होता है।

चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जब यह अनुभव होता है कि दुःख का कारण विषय-कषाय, राग-द्वेष आदि विकार हैं, इन विकारों से ग्रस्त सभी प्राणी दुःखी हैं, इन प्राणियों का कल्याण राग-द्वेष आदि विकार दूर होने में है। मैं इन्हें वह मार्ग बताऊँ जिस पर चलकर इनके विकार दूर हों और इनका कल्याण हो। यह कल्याण करने की भावना तीर्थंकर प्रकृति की सूचक है। चौथे गुणस्थान में कल्याणकारक सेवाभाव का अनुभाग सीमित होता है, परन्तु जैसे-जैसे साधक

साधना पथ पर आगे बढ़ता जाता है उसका सेवाभाव विस्तृत होता जाता है तथा कर्तृत्व भाव घटता जाता है। यह कल्याणकारी सेवाभाव जितना विभु होता जाता है, तीर्थंकर प्रकृति का अनुभाग उतना ही बढ़ता जाता है जो आठवें गुणस्थान में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उस समय उसमें संसार के समस्त जीवों का कल्याण होवे, सब जीव निर्विकार होवें, यह उत्कर्षभाव हो जाता है। जिससे तीर्थंकर प्रकृति का अनुभाग उत्कृष्ट हो जाता है और फिर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है। तब वह तीर्थ की स्थापना करता है और भव्य जीवों को मुक्ति के मार्ग का उपदेश देता है।

त्रस नाम कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्व-प्रयत्न से चल सके वह त्रस नाम कर्म है। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस जीव हैं।

स्थावर नाम कर्म

जिस कर्म के उदय से जीव स्वेच्छा से न चल सके, एक ही स्थान पर स्थिर रहे, वह स्थावर नाम कर्म है।

बादर नामकर्म

जिस जीव का शरीर छेदा, भेदा जा सके, ऐसे स्थूल शरीर का मिलना बादर नामकर्म है।

सूक्ष्म नामकर्म

जिस जीव का शरीर अदृश्य हो एवं इतना सूक्ष्म हो कि छेदा-भेदा नहीं जा सके वह सूक्ष्म नामकर्म है।

पर्याप्त नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों से युक्त हो, उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते हैं।

अपर्याप्त नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

प्रत्येक नामकर्म

जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को अपना शरीर पृथक् मिले उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

साधारण नामकर्म

जिस कर्म के उदय से जीव को पृथक् शरीर न मिलकर अनेक जीवों को एक ही शरीर मिले, उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

स्थिर-अस्थिर नामकर्म-

वर्तमान में स्थिर नामकर्म के उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त होना और अस्थिर नामकर्म के उदय से जिह्वा, रक्त-संचरण आदि अस्थिर अवयव प्राप्त होना माना जाता है, परन्तु ऐसा मानने से प्रथम तो अन्तराल गति में औदारिक, वैक्रिय शरीर व इनके अवयव- अंगोपांग होते ही नहीं है, वहाँ स्थिर-अस्थिर का उदय मानने में आपत्ति आयेगी। वहाँ केवल तैजस और कार्मण शरीर का उदय है। अत: इनके अर्थ तैजस व कार्मण शरीर से संबंधित स्थिरता-अस्थिरता से भी होने चाहिए।

द्वितीय बात यह है कि अस्थिर नाम कर्म पाप प्रकृति है, अत: इस अर्थ के अनुसार अस्थिर जिह्वा की प्राप्ति व क्रिया को पापकार्य का उदय और स्थिर दांत की प्राप्ति को पुण्यकर्म का उदय मानना होगा जो भूल होगी, कारण कि दांत की प्राप्ति को पुण्य कर्म का और जीभ की प्राप्ति को पापकर्म का उदय मानना उचित नहीं है। अत: शारीरिक पुद्गलों का यथावत् रहना 'स्थिर' और उनका च्युत हो जाना 'अस्थिर' नामकर्म अर्थ उपयुक्त लगता है।

अथवा

शरीर के अंगोपांग व अवयवों की जहाँ पर जैसी बनावट है उसमें पुद्गलों का परिवर्तन बराबर होते रहने पर भी उसकी बनावट ज्यों की त्यों स्थिर रहना तथा वात, पित्त, कफ आदि का चलायमान न होना, कुपित न होना आदि स्थिर नामकर्म है। यह शरीर की स्वस्थता का द्योतक है। इसे ही स्थिर नामकर्म कहा जा सकता है।

इसी प्रकार शरीर के अंगोपांग व अवयवों का चलायमान होना, जैसे अंडकोश का उतर जाना, वात्त, पित्त, कफ का कुपित हो जाना, नाक की हड्डी का बढ़ जाना, आँख की पलक में बाल उग आना आदि अस्थिर नामकर्म है। यह शरीर की अस्वस्थता का द्योतक है। इसे ही अस्थिर नामकर्म कहा जा सकता है।

शुभ-अशुभ नामकर्म

वर्तमान में शुभ नामकर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त होना माना जाता है और नाभि के नीचे के अवयव अप्रशस्त होने से उनको अशुभ माना

जाता है, परन्तु ऐसा माना जाय तो बाधा यह आती है कि शुभ और अशुभ इन दोनों नामकर्म का उदय अन्तराल गति में भी होता है। वहाँ औदारिक शरीर नहीं होने से नाभि है ही नहीं। द्वितीय, संसार के समस्त जीवों के किसी भी शरीर के उदय रहते हुए इन दोनों का युगपत् ध्रुव उदय है। अत: संसार के सभी जीवों के सदैव नाभि से ऊपर के अवयव प्रशस्त और नीचे के अवयव अप्रशस्त मानने होंगे। फिर समचतुरस्र संस्थान जिसमें सभी अंग, नाभि के नीचे के अंग भी प्रशस्त होते हैं, तब अशुभ कर्म के उदय के अभाव का प्रसंग उत्पन्न हो जायेगा। जो कि कर्म सिद्धान्त के अनुसार उचित प्रतीत नहीं होता है। अत: शरीर में इष्ट (हितकारी), स्वास्थ्यप्रद पुद्गलों का होना शुभ नाम कर्म का और अनिष्ट (अहितकारी) अस्वास्थकारी पुद्गलों का होना अर्थात् विकार युक्त या रोगग्रस्त होना अशुभ नामकर्म का उदय मानना उचित लगता है।

अथवा

शुभ- शरीर में आहार करने से नये पदार्थों का निर्माण होता रहता है। उनमें जो पदार्थ शरीर के लिए हितकर हैं वे शुभ, और जो अहितकर हैं वे अशुभ कहे जाते हैं। जैसे प्रोटीन व विटामिन की उत्पत्ति शुभ है, और कार्बन-डाइ-ऑक्साइड आदि की उत्पत्ति अशुभ है। शुभ शरीर का निर्माण इस रूप में हो जिससे सुख मिले, उदाहरणार्थ ध्रुव प्रदेशीय मनुष्यों के नथुनों के छेदों का संकीर्ण होना शुभ है, क्योंकि ऐसा होने से अधिक ठंडी वायु फेफड़ों में पहुंचकर हानि न पहुँचा सकती है।

अशुभ- शरीर का निर्माण इस प्रकार होना कि जिससे दु:ख मिले उसे अशुभ नामकर्म कहा जाता है। जैसे ध्रुव प्रदेशीय मनुष्यों के नथूनों के छेदों का चौड़ा व बड़ा होना, व सिर पर कम बालों का होना आदि।

सुस्वर-दु:स्वर

प्रचलित अर्थ के अनुसार जिसके उदय से जीव का स्वर श्रोता में प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जो स्वर श्रोता में अप्रीति उत्पन्न करे वह दु:स्वर माना जाता है। परन्तु ऐसा मानने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक ही व्यक्ति का एक ही पक्षी का या एक ही पशु का स्वर कितने ही श्रोताओं को प्रिय लगता है और कितने ही श्रोताओं को अप्रिय लगता है तथा वीतराग केवली की वाणी भव्य जीवों को प्रिय और अभव्य व विरोधी जीवों को अप्रिय लगती है। इस प्रकार श्रोताओं को प्रीतिकर-अप्रीतिकर लगने के आधार पर सुस्वर और दु:स्वर माना जाय तो एकही स्वर को

सुस्वर और दु:स्वर दोनों मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त के विपरीत है, क्योंकि वहाँ किसी जीव के दोनों स्वरों का उदय युगपत् होना नहीं माना है। जब दु:स्वर का उदय हो तब उसकी वाणी सभी को अप्रीतिकर लगनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अत: सुस्वर-दु:स्वर के उदय का सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति को मधुर व कर्कश स्वर लगने से है। दूसरों को प्रिय और अप्रिय स्वर लगने से नहीं हो सकता।

अथवा

सुस्वर- जिस कर्म के उदय से कोमल और सुंदर कंठ मिले, बोलने की, अपने भावों को स्पष्ट प्रदर्शित करने की क्षमता प्राप्त हो, स्वर में मिठास हो, वह सुस्वर प्रकृति है। जीव में प्रकट होने से यह जीव विपाकी प्रकृति है। एक अन्य लक्षण के अनुसार जिस स्वर से स्वयं जीव को आघात न पहुँचे वह सुस्वर प्रकृति है।

दु:स्वर- जिस कर्म के उदय से कठोर और कर्कश कंठ (वाणी) मिले, जिसके उदय से अपने भावों को स्पष्ट करने की क्षमता प्राप्त न हो, वह दु:स्वर प्रकृति है। इसका प्रभाव जीव पर होता है। अत: यह भी जीव विपाकी प्रकृति है।

सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यशकीर्ति-अयशकीर्ति नामकर्म

वर्तमान में सुभग नामकर्म का प्रचलित अर्थ है जो सबके मन को प्रिय लगे वह सुभग है और अप्रिय लगे वह दुर्भग नाम कर्म है। इसी प्रकार आदेय नाम कर्म के उदय का अर्थ- जिसके वचन बहुमान्य हों, जिसका आदर दूसरे व्यक्ति करें यह माना जाता है और अनादेय के उदय का अर्थ इसके विपरीत माना जाता है। यशकीर्ति के उदय से दुनिया में यशकीर्ति प्राप्त हो और अयशकीर्ति के उदय से दुनिया में अपयश मिले यह माना जाता है। परन्तु दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति के उदय से दूसरों को अप्रिय लगना, दूसरों के द्वारा वचन मान्य न होना अथवा अनादर होना और दूसरों के द्वारा अपयश करना माना जाय तो व्रती श्रावक, साधु एवं वीतराग के प्रति भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है। अत: इस प्रकार व्रतधारी श्रावक, साधु एवं वीतराग भी सुभग, आदेय एवं यशकीर्ति वाला हो ही नहीं सकता, क्योंकि गोशालक को भगवान महावीर के वचन, यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को श्री हरिकेशी मुनि के वचन अप्रिय लगे। इन्होंने इनके वचन को अमान्य किया, घोर अनादर किया और अवर्णवाद किया। इससे महावीर भगवान व हरिकेशी मुनि के अनादेय व अयशकीर्ति का उदय मानना असंगत लगता है। इसके स्थान पर सुभग का अर्थ-

शुभ मनोभाव, दुर्भग का अर्थ- अशुभ मनोभाव, आदेय का अर्थ- शुभ आचरण, अनादेय का अर्थ- अशुभ आचरण, यशकीर्ति का अर्थ- उदार प्रवृत्ति, और अयशकीर्ति का अर्थ कृपण प्रवृत्ति लेना अधिक उपयुक्त लगता है।

अथवा

सामान्य केवली, मूक केवली, असोच्चा केवली, तीर्थंकर केवली के सभी पुण्य प्रकृतियों का जिनमें आदेय, यशकीर्ति, देवगति आदि प्रकृतियों का नियम से उत्कृष्ट अनुभाग होता है। इनके इन प्रकृतियों के अनुभाग में कोई अन्तर नहीं होता है। ऐसी स्थिति में यदि यशकीर्ति का अर्थ दूसरों के द्वारा प्रशंसा करना माना जाये तथा आदेय का अर्थ दूसरों के द्वारा आदर करना माना जाये तो यह अर्थ उपयुक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि केवली के इन सबका उदय निरन्तर रहता है, परन्तु निरन्तर इनकी कोई प्रशंसा नहीं करता है। निर्वाण के बाद भी इनकी प्रशंसा वैसे ही होती रहती है जैसे पहले होती थी, तो क्या अब भी उनके यशकीर्ति कर्म का उदय है? उनके विद्यमान रहते भी कोई यशगान करता था तो कोई निंदा-बुराई एवं अपयश-कीर्ति भी करता था। जबकि यह नियम है कि यशकीर्ति और अयशकीर्ति का उदय एक साथ कभी नहीं होता है।

यदि संसार के व्यक्तियों के द्वारा प्रशंसा करने को यशकीर्ति एवं आदर देने को आदेय माना जाय तो सांसारिक व्यक्ति तो जिसके पास जितनी भोग की सामग्री अर्थात् परिग्रह अधिक है, जिसे जितने अधिक भोग प्राप्त हैं जो जितना बड़ा भोगी है उसकी उतनी ही अधिक प्रशंसा या यशोगान करते हैं, उसे उतना ही अधिक आदर देते हैं। सारे इतिहास ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। इतिहास में उन्हीं राजा-महाराजाओं, सम्राटों, बादशाहों की महिमा है, यशोगान है, जिन्होंने युद्ध के रूप में अपने क्रूरतापूर्ण आततायी कार्यों से आक्रमण कर लाखों निरपराध लोगों की हत्या की, उनको लूटा, गुलाम बनाया, गाजर-मूली की तरह बेचा। ऐसे घोर हत्यारों, लुटेरों, डाकू, अत्यन्त क्रूर, राक्षसी, जघन्य पाप वृत्ति वालों की महिमा एवं यशोगान से इतिहास भरा पड़ा है और जो इन जघन्य-नीच, अधम, पाप कार्यों में असफल हो गया उसे अयोग्य व हीन माना गया है, उनका अनादर किया गया है। सफल पापी का आदर करना, यशोगान करना आज तक सांसारिक लोगों का कार्य रहा है। मिथ्यात्वी लोगों का कार्य सत्य के विपरीत होता है। उन्हें भोगी या पापी और भोग व पाप ही प्रशंसनीय लगते हैं, आदरणीय लगते हैं। उनके द्वारा की गई प्रशंसा, महिमा, आदर-सत्कार-कार्य सचमुच वास्तविक प्रशंसा एवं आदर नहीं है।

कर्मसिद्धान्तानुसार व्रती श्रावकों, समस्त साधुओं एवं तीर्थंकरों के दुर्भग नाम, अनादेय नाम और अयशकीर्ति का उदय कदापि नहीं होता है। जबकि दूसरों के द्वारा इनका अपमान, अनादर, तिरस्कार, निंदा, अपयश करते प्रत्यक्ष देखा जाता है। उत्तराध्ययन के 12वें अध्ययन में हरिकेशी मुनि का घोर अपमान, अनादर, अपयश, निंदा, तिरस्कार किया गया है। अन्य तीर्थियों के द्वारा भगवान महावीर का अनादर, तिरस्कार किया गया है, निंदा की गई है। अतः आम लोगों की प्रशंसा-अप्रशंसा से, यशकीर्ति- अपयशकीर्ति से एवं आदर-अनादर से आदेय-अनादेय से इस कर्म की प्रकृतियों के बंध व उदय का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आशय यह है कि सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यशकीर्ति-अयशकीर्ति ये सब प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं। अतः ये जीव के स्वयं के भावों से तथा जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति से संबंधित हैं। जीव के कामना, ममता, विषय, कषाय आदि दोषों में वृद्धि से, दुराचरण से होने वाली अप्रसन्नता, खिन्नता, दुर्भगनाम कर्म अकर्त्तव्य में वृद्धि होना अनादेय, स्वार्थपरता में वृद्धि होना अनुदारता, संकीर्णता, अयशकीर्ति नाम कर्म का उदय है। सदाचरण-सदाचार से होने वाली प्रसन्नता या प्रमोद, सुभग नाम कर्म का उदय है। कर्त्तव्य परायणता आदेयनामकर्म का और उदारता यशकीर्ति नाम कर्म का उदय है। ऐसा माना जाना अधिक उचित लगता है।

सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय एवं यशकीर्त्ति-अयशकीर्त्ति का अन्य आशय

सभी जीवों को सौभाग्य, आदर और यशकीर्त्ति पसंद है। सौभाग्य की प्राप्ति का अर्थ है उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति। विषय-सुखों के भोग उत्कृष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि ये राग-द्वेष आदि विकारों से युक्त होने से आकुलतामय होते हैं। पर पदार्थों पर आश्रित होने से पराधीनता युक्त होते हैं। क्षणिक होने से नश्वर हैं। बहिर्मुख करने वाले होने से जड़ता (मूर्च्छा) युक्त होते हैं। अतः जो सुख आकुलता, पराधीनता, नश्वरता, जड़ता आदि दुःखों से युक्त है उस सुख का भोग निकृष्ट भोग है। वह दुर्भग है, सुभग (सौभाग्य) नहीं है। इसके विपरीत कामना, ममता, अहंकार आदि दोषों के घटने से, क्षयोपशम से मिलने वाली शान्ति, स्वाधीनता, प्रसन्नता, प्रमोद के सुखों में आकुलता, पराधीनता, जड़ता आदि दोष नहीं हैं, अतः इन सुखों का भोग श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ भोग है, सुभग है, सौभाग्य है। कामना रहित होने से अभाव का अभाव होता है। अभाव का न रहना ऐश्वर्य है, संपन्नता है। जो संपन्न है वही सौभाग्यशाली है।

जो स्वार्थपरता को त्यागकर दूसरों का अहित करने से अपने को बचाता है वह ही आदर के योग्य है, आदेय है और जो उदारता पूर्वक दूसरों के हित में, सेवा में तत्पर होता है वह ही प्रशंसा का, यशकीर्ति का पात्र होता है। इसके विपरीत जो स्वार्थी एवं दूसरों का अहित करने वाला होता है वह अनादर का, अनादेय का पात्र होता है और जो अनुदार एवं दूसरों का शोषण करने वाला होता है। वह अयशकीर्ति का पात्र होता है।

आशय यह है कि जो विषय-भोगों के सुख में आबद्ध है, स्वार्थी है, अनुदार है वह दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति का पात्र है तथा जो विषय-भोग के सुख को घटाता है, त्यागता है, हिंसा आदि दोषों से अपने को बचाता है, श्रावक व साधु है, उसके कभी भी दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति का उदय नहीं होता है। सच्चे श्रावक एवं साधु के सदैव सुभग, आदेय एवं यशकीर्ति का उदय रहता है। भले ही इनके पास धन-संपत्ति, विषय सुखों की भोग-सामग्री व सुविधा कुछ नहीं हो तथा इनका कोई अनादर तथा निंदा कर रहा हो। क्योंकि ये प्रकृत्तियाँ जीव विपाकी हैं। इत: इनका सम्बन्ध जीव के भावों से एवं आचरण से है। बाह्य भोग-सामग्री न्यून होना दुर्भग तथा अधिक होना सुभग नहीं है। दूसरों के द्वारा आदर दिया जाना और अनादर किया जाना, अनादेय नहीं है तथा दूसरों के द्वारा प्रशंसा, यशकीर्ति और निंदा किया जाना अयशकीर्ति नहीं है। सुभग, आदेय तथा यशकीर्ति ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं। अत: आत्मा के पवित्र भावों व पवित्र आचरण से इनका सम्बन्ध है। इसी प्रकार दुर्भग, अनादेय तथा अयशकीर्ति पाप प्रवृत्तियाँ हैं, अत: आत्मा के अपवित्र-दूषित भावों एवं दुराचरण से इनका सम्बन्ध है।

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के नाम कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- नामकर्म का विस्रसाभाव (पारिणामिक भाव); नामकर्म के बंध हेतु; नामकर्म की विभिन्न प्रकृतियाँ; गति नामकर्म; जाति नामकर्म एवं इन्द्रियों का विकास।

गोत्र कर्म

जैनागम में गोत्रकर्म के विषय में कहा है-

गोए णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा- उच्चगोए य नीयागोए व ॥

-पन्नवणा पद 23, उद्दे.2

भगवन्! गोत्र कर्म कितने प्रकार का कहा गया है?

गौतम! गोत्र कर्म दो प्रकार का है- उच्च गोत्र और नीच गोत्र।

सामान्यत: उत्तम कुल में जन्म लेना उच्च गोत्र और लोकनिंद्य कुल में जन्म लेना नीच गोत्र माना जाता है। परन्तु कौनसा कुल उच्च है और कौनसा कुल नीचा है, इसका कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है। काल और क्षेत्र के अनुसार मानदंड में परिवर्तन होता रहता है। वर्ण-व्यवस्था में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि कुलों को उच्च गोत्र माना गया है, परन्तु इन वंशों में भी लोकनिंद्य पुरुषों ने जन्म लिया है और चांडाल, चमार, रैगर आदि कुलों को नीच गोत्र माना गया है, परन्तु इन वंशों में भी महात्मा, साधु-सन्तों, महापुरुषों ने जन्म लिया है तथा साधु सदैव उच्च गोत्र वाला ही होता है, नीच गोत्र वाला नहीं होता है। अत: जाति, वंश एवं वर्ण-व्यवस्था के आधार पर उच्च तथा नीच गोत्र नहीं माना जा सकता। उच्च आचरण को उच्च गोत्र और नीचे आचरण को नीच गोत्र मानना ही अधिक उपयुक्त है।

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।

उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥

-गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा 13

अर्थात् संतान क्रम से चला आया जो जीव का आचरण है, उसकी गौत्र संज्ञा है। जीव का ऊँचा आचरण उच्च गोत्र है और नीचा आचरण नीच गोत्र है। यहाँ ऊँचे आचरण से आशय अहिंसा, दया, शिष्टता, मृदुता, सरलता, सज्जनता, सहृदयता आदि सद्गुणयुक्त सद्प्रवृत्ति से है और नीच आचरण से आशय अशिष्टता, निर्दयता, क्रूरता, हिंसा, आदि दुर्गुणयुक्त दुर्व्यवहार से है।

जैसाकि गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है-

ण वि मुंडिएण समणो, ण ओंकारेण बंभणो।

ण मुणी रण्णवासेणं , कुसचीरेण ण तावसो॥

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।

णाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्सो कम्मुणाा होई, सुद्दो हवई कम्मुणा॥33॥

-उत्तराध्ययन 25.31-33

अर्थात् मस्तक मुंडाने से कोई श्रमण नहीं होता है, ओंकार का उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता है, वन में निवास करने से कोई मुनि नहीं हो जाता है, एवं कुश से बने चीवर (वस्त्र) के धारण करने से कोई तापस नहीं हो जाता है॥31॥

अपितु समता भाव धारण करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप करने से तपस्वी होता है॥32॥

तथा कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है, किसी वंश में जन्म लेने मात्र से नहीं॥33॥

आशय यह है कि गुणों से एवं सदाचरण से ही व्यक्ति जातिवान्, कुलवान्, बलवान्, रूपवान् एवं ऐश्वर्य संपन्न होता है। बाह्य वेशभूषा एवं पदार्थों की प्राप्ति से नहीं होता है। उच्च आचरण वाला उच्च गोत्रीय और अधम आचरण वाला नीच गोत्रीय होता है।

गोत्रकर्म जातिगत नहीं

श्रमणसंघ के आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि जी ने उच्च आचरण वाले को उच्च गोत्रीय और अधम आचरण करने वाले को नीच गोत्रीय कहा है, यथा- "सदाचारियों या कदाचारियों की परम्परा में जन्म लेने, वैसा वातावरण मिलने अथवा स्वीकार करने का कारणभूत कर्म गोत्र कर्म है। जैन कर्मविज्ञान ज्ञातिकृत (कौम या वर्णकृत या आजीविकाकृत) उच्च नीच भेद को नहीं मानता। ये भेद गुणकृत या आचरणकृत माने जाते हैं। जो अच्छे आचार-विचार एवं संस्कार वाले कुल या वंश की परम्परा में जन्म लेते हैं, शिष्ट आचार-विचार को धर्मयुक्त सुसंस्कृति का स्वीकार करके चलते हैं, ऐसे मनुष्यों की संगति को जीवन का उच्चतम कर्त्तव्य समझते हैं और जीवन के संशोधन एवं सुसंस्करण में सहायक आचार-विचार का स्वीकार एवं क्रियान्वयन करते हैं, वे उच्चगोत्री कहलाते हैं और जो इसके विरुद्ध आचार वाले होते हैं वे नीच गोत्री हो जाते हैं। नीच गोत्री अपने जीवन में अशुभ आचार-विचार-संस्कार का त्याग करके उच्च गोत्री हो सकते हैं। ऐसे व्यक्ति गृहस्थ श्रावक धर्म तथा मुनिधर्म के पालन के अधिकारी हो जाते हैं।"

– कर्म विज्ञान, भाग 2, पृ. 348

उच्च-नीच गोत्र कर्म के इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी महाराज 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य' में फरमाते हैं-

जायरूवं जहा मट्ठं, निद्धंतमलपावगं।

रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं॥

– उत्तराध्ययन सूत्र, 25.21

अर्थात् अग्नि में तपा हुआ और कसौटी पर कसा हुआ सुवर्ण गुणयुक्त होता है, उसी प्रकार राग, द्वेष और भय से अतीत पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र की इस गाथा में तथा इसके आगे की गाथाओं में सूत्रकार ने ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप दर्शाया है।

गोत्रकर्म और अगुरुलघुगुण

तन, धन आदि का अहंकार या अहंभाव प्राणी को भोगी व स्वार्थी बनाता है। भोग से पशु प्रकृति एवं स्वार्थपरता से आसुरी, नारकीय प्रकृति पुष्ट होती है। ये दोनों प्रकृतियां नीच गोत्र की द्योतक हैं। दूसरे शब्दों में यूँ कह सकते हैं कि अहंभाव से नीच गोत्र का बंध होता है। इसके विपरीत निरभिमानता तथा विनम्रता व्यक्ति को त्यागी तथा सेवाभावी बनाती है, जिससे मानवी व देवी प्रकृतियाँ पुष्ट होती हैं। मानवी प्रकृति तथा देवी प्रकृति उच्च गोत्र की द्योतक है। अतः निरभिमानता से उच्च गोत्र का बंध होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मद या अभिमान नीच गोत्र का एवं निरभिमानता, मृदुता आदि उच्च गोत्र के बंध-हेतु हैं। अभिमान सदैव अर्जित धन, विद्या, बल, योग्यता आदि का होता है। अर्जित सामग्री अनित्य या विनाशी होती है। उसका वियोग अवश्यंभावी है। जो सदा साथ न दे वह 'पर' है। पर के संग्रह के आधार पर अपना मूल्यांकन कर गर्व करना, उससे अपना गौरव मानना प्रथम तो पर को मूल्य व महत्त्व प्रदान करना है साथ ही स्वयं का मूल्य घटाना व खोना है। अपने को दरिद्र व हीन बनाना है। द्वितीय, कोई कितना भी अर्जित करे, जगत् में उससे असंख्यात गुना अनर्जित पड़ा रहता है। जिसका उसके जीवन में अभाव है, कमी है, उससे वह हीन है। अतः पर के संग्रह या अर्जन के आधार पर गर्व करने वाले, गौरवशाली समझने वाले अभिमानी व्यक्ति को हीनता-लघुता (छोटेपन) का अनुभव होता ही है, यह प्राकृतिक विधान है। अपने में हीनता या लघुता का अनुभव होना ही नीच गोत्र है।

इसके विपरीत जो निरभिमानी है वह तन, धन, जन, बल, विद्या, बुद्धि आदि पर एवं विनाशी की प्राप्ति-अप्राप्ति के आधार पर अपना मूल्यांकन नहीं करता है,

अपने को महान्, संपन्न व बड़ा नहीं मानता है, उसे हीनता या विपन्नता, लघुता व अभाव का अनुभव नहीं होता है, क्योंकि उसके तृष्णा नहीं होती है। जहाँ हीनता, विपन्नता, लघुता व अभाव नहीं है, सच्चे अर्थों में वहाँ ही महानता, संपन्नता, पूर्णता है, वही उच्च गोत्री है।

यह नियम है कि जिसे गुरुता व बड़प्पन का अनुभव नहीं होता है, उसे लघुता-हीनता का भी अनुभव नहीं होता है। यही कारण है कि पूर्ण निरभिमानी होने पर उच्च गोत्र की चरम उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँचकर मुक्त अवस्था में गोत्र कर्म से अतीत होने पर, सिद्धों में अगुरु- लघु गुण सदा के लिए प्रकट हो जाता है।

अगुरुलहु अत्तं णाम सव्वजीवाणं पारिणामियमत्थि सिद्धेसु खीणसुकम्मेसु वि तस्सुवंलंभा॥ -धवला पुस्तक 6.1.9.278 पृ.113

अगुरुलघु नामक गुण सर्व जीवों में पारिणामिक है, क्योंकि शेष कर्मों से रहित सिद्धों में भी उसका सद्भाव पाया जाता है। अगुरुलघु जीव का स्वाभाविक गुण है। स्वभाव होने से पारिणामिक भाव है।

गोत्र कर्म के क्षय से अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। अतः गोत्र कर्म गुरुत्व-लघुत्व भाव का सूचक है अर्थात् अपने को छोटा-बड़ा मानना, दीन-हीन मानना गोत्र कर्म है जो संतति-क्रम से सतत प्रवाहमान है।

स्वाभाविक गुणों के आधार पर सब जीव समान हैं। ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों में किसी जीव में अन्तर नहीं है। अन्तर इन गुणों के प्रकटीकरण में है। अतः प्राणी अपने दोषों का त्याग करने का पुरुषार्थ कर जिस क्षण चाहे उसी क्षण इन गुणों को प्रकट कर सकता है। उस शुद्ध निर्मल स्वभाव में गुरुत्व-लघुत्व का भाव नहीं होता है, अगुरुलघुत्व अवस्था रहती है। जितनी-जितनी नीच गोत्र कर्म की कमी या क्षय होता जाता है, मद-मान गलता जाता है, उतना-उतना व्यक्तित्व का मोह तथा गुरुत्व-लघुत्व (छोटे-बड़े का भाव) घटता जाता है और मुक्त होने पर अगुरु-लघु अवस्था प्रकट हो जाती है अर्थात् मुक्त जीव के गुरुत्व-लघुत्व का अनुभव नहीं रहता है।

आशय यह है कि अपने को जाति, कुल, बल, तप, श्रुत (ज्ञान) आदि में उत्कृष्ट, श्रेष्ठ या विशिष्ट मानना और दूसरों को निकृष्ट, हीन व नीचा मानना विशिष्टता नहीं अशिष्टता है। इसके विपरीत अपने को अयोग्य, असमर्थ, निकृष्ट एवं हीन

मानना विनम्रता नहीं दीनता है, हीनभाव है। महानता है अपने में अभाव का अनुभव न होना, स्वभाव में स्थित रहना और विनम्रता है निरभिमान होना। अतः जो अपने को न तो विशिष्ट, उत्कृष्ट या महान् मानता है और न ही निकृष्ट एवं दीन मानता है, वह उच्च गोत्रीय है। अहंभाव-हीनभाव एवं उच्च-नीच भाव से रहित होकर समभाव में रहना उच्च गोत्र है। गुरुत्व (बड़प्पन) और लघुत्व (दीनत्व) अध्यवसाय का न रहना ही शुद्धात्मा का अगुरु-लघु गुण है।

गोत्रकर्म : जीवविपाकी

गोत्रकर्म पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी नहीं है, जीवविपाकी है। पुद्गल विपाकी न होने से इसका सम्बन्ध सुन्दर, असुन्दर शरीर से नही है, भव विपाकी न होने से इसका सम्बन्ध किसने कहाँ जन्म लिया, किस व्यक्ति, घर, जाति में जन्म लिया, इससे नहीं है। क्षेत्र विपाकी न होने से किस क्षेत्र में जन्म लिया, आर्य-अनार्य किस देश में जन्म लिया, इससे नहीं है। जीव विपाकी होने से जीव के भावों से संबंधित है। वर्तमान में गोत्र कर्म को जाति-कुल से जोड़ दिया गया है। यह कर्म-सिद्धान्त एवं आगम सम्मत नहीं है। कारण कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियां, सूर्यवंश, चंद्रवंश, सिसोदिया आदि कुल मानव निर्मित हैं, कृत्रिम हैं, विनाशी हैं। अतः कोई भी जाति व कुल न ऊँचा है और न नीचा। न कोई अछूत है, न अस्पृश्य है। अतः जाति कुल के आधार पर गोत्र मानना गोत्र कर्म नहीं है।

तात्पर्य यह है कि गोत्र कर्म का सम्बन्ध अपने को दीन-महान् समझने रूप भावों से है, जाति, कुल आदि से नहीं है। यही कारण है कि गोत्र कर्म के क्षय से ऊँच-नीच भाव का क्षय होता है। -धवला पुस्तक 13

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के गोत्र कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- गोत्र कर्म जातिगत नहीं; गोत्रकर्म के बंध हेतु; हीनता-दीनता और गोत्र कर्म; मद-त्याग से उच्च गोत्र; गोत्र कर्म और स्वाधीनता-पराधीनता; गोत्रकर्म का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से नहीं।

अन्तराय कर्म

विघ्न उत्पन्न होना अन्तराय कर्म है। धवल पुस्तक 13 पृ. 389- "अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायः" जो अन्तर आता है वह अन्तराय है अर्थात् अन्तराल ही अन्तराय है। सर्वार्थसिद्धि में कहा है-

''यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति, लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते, उपभोक्तुमभिवाछन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते।''

-तत्त्वार्थ सूत्र अ. 8, सूत्र 4 पर सवार्थसिद्धि टीका

जिसके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नहीं देता है, प्राप्त करने की कामना करते हुए भी प्राप्त नहीं करता है, भोग-उपभोग की वांछा करता हुआ भी भोग-उपभोग नहीं कर पाता है और उत्साहित होने की कामना रखता हुआ भी उत्साहित नहीं होता है वह अन्तराय है। अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से किसी कामना का उत्पन्न होना और उस कामना की पूर्ति न होने से अभाव का अनुभव होना ही अन्तराय है।

भगवती सूत्र में कहा है-

अन्तराइए णं भंते! कम्मे कइ परीसहा समोयरति?

गोयमा! एगे अलाभपरीसहे समोयरति॥

-भगवती सूत्र शतक 8 उद्देशक 8

प्रश्न- हे भगवन्! अन्तराय कर्म से कितने परीषहों का समवतार होता है?

उत्तर- हे गौतम! एक अलाभ परीषह होता है।

अन्तराय कर्म के भेद एवं बंध हेतु

अन्तराय कर्म के दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय ये पाँच भेद हैं। इन पाँचों का उदय बारहवें गुणस्थान तक रहता है। अतः अन्तराय कर्म के पाँच परीषह होने चाहिए। परन्तु एक ही परीषह कहा है, जो उपयुक्त ही है। कारण कि दान, भोग, उपभोग आदि की इच्छा का होना, परन्तु उनकी पूर्ति-उपलब्धि न होना अलाभ है। यहाँ 'अलाभ' शब्द अन्तर्दीपक है जो पांचों अन्तरायों के लिए लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अलाभ या अभाव ही अन्तराय कर्म के उदय का सूचक है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य जीव की स्वाभाविक उपलब्धियाँ एवं गुण हैं। इनकी पूर्णता में विघ्न होना अथवा इनका अलाभ होना ही अन्तराय कर्म है। दान गुण उदारता का, लाभ गुण निर्लोभता से प्राप्त अभावरहितता का, भोग गुण स्वाधीनता के अखण्ड सुख की उपलब्धि का, उपभोग गुण स्वाभाविक आत्मीयता

एवं नितनूतन अनन्त सुख के उपभोग की उपलब्धि का तथा वीर्य गुण आत्मसामर्थ्य की प्राप्ति का सूचक है। इन समस्त स्वाभाविक गुणों में बाधा उत्पन्न होना अन्तराय कर्म है।

दानादि गुणों में बाधा उत्पन्न होना अन्तराय है, तथा यह बाधा जिस कर्म से उत्पन्न होती है वह अन्तराय कर्म है। अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय। स्वार्थपरता से दानान्तराय का, कामना से लाभान्तराय का, ममता से भोगान्तराय का, आसक्ति-अहंभाव से उपभोगान्तराय का और कर्तृत्व भाव से वीर्यान्तराय का आस्रव सर्वबंध होता है। भगवती सूत्र में अन्तराय कर्म के बंध का निरूपण करते हुए कहा है-

गोयमा! दाणंतराएणं लाभंतराएणं भोगतराएणं उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अन्तराइयकम्मासरीरप्पयोगनामए कम्मस्स उदएणं अन्तराइयकम्मासरीरप्पओगबंधे।

-भगवती सूत्र, शतक 8, उद्देशक सूत्र 111

अर्थात् दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय से अन्तराय कर्म का उपार्जन होता है। तत्त्वार्थ सूत्र में विघ्न उत्पन्न करने को अन्तराय कर्म का बंध हेतु कहा है-

विघ्नकरणामन्तरायस्य। -तत्त्वार्थसूत्र, 6.27

इन विघ्नों का उल्लेख ऊपर स्वार्थपरता, कामना, ममता, आसक्ति एवं कर्तृत्वभाव के रूप में किया गया है। यहाँ पर दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य का सम्यक् स्वरूप समझने से ही ज्ञात हो सकेगा कि ये किस प्रकार केवली की उलब्धियाँ अतः इनके अन्तराय एवं इन उपलब्धियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है-

विशेष जानकारी के लिए लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' के अन्तराय कर्म अध्याय में निम्नांकित प्रकरण पठनीय है- अन्तराय कर्म के भेद एवं बंध हेतु; दानान्तराय एवं अनन्तदान; लाभान्तराय एवं अनन्तदान (औदार्य); भोगान्तराय एवं अनन्तभोग (सौन्दर्य); उपभोगान्तराय एवं अनन्तभोग (माधुर्य); वीर्यान्तराय एवं अनन्तवीर्य (सामर्थ्य); अन्तराय कर्म : एक समग्र विश्लेषण; मोहनीय कर्म और अन्तराय कर्म में पारस्परिक सम्बन्ध; घाती कर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध एवं अन्तराय कर्म; आवरणीय कर्म एवं अन्तराय कर्म में अन्तर।

बन्ध तत्त्व' पुस्तक में प्रकाशित

डॉ० श्री सागरमलजी द्वारा लिखित भूमिका का अंश

श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में एक नवीन चिन्तन

प्रस्तुत कृति बंध तत्त्व में श्रुतज्ञान का अर्थ भी परम्परागत मान्यता से भिन्नरूप में किया गया है, परम्परागत दृष्टि से श्रुतज्ञान आगमज्ञान या भाषिकज्ञान है। किन्तु लेखक लोढ़ा का कथन इससे भिन्न है। आध्यात्मिकदृष्टि से मतिज्ञान परवस्तु का ज्ञान या पदार्थ-ज्ञान है, क्योंकि वह इन्द्रियाधीन है, उसके विषय वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि हैं, पुनः मन की अपेक्षा से भी वह बौद्धिकज्ञान है, विचारजन्य है अतः भेदरूप है। किन्तु श्रुतज्ञान को इन्द्रिय या बुद्धि की अपेक्षा नहीं है, वह शाश्वत सत्यों का बोध है। वे लिखते हैं कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय, मन, बुद्धि की अपेक्षा से रहित स्वतः होने वाला निज का ज्ञान है अर्थात् स्व स्वभाव का ज्ञान है। श्रुतज्ञान स्वाध्याय रूप है और स्वाध्याय का एक अर्थ है स्व का अध्ययन या स्वानुभूति। यदि श्रुतज्ञान का अर्थ आगम या शास्त्रज्ञान लें, तो भी वह हेय, ज्ञेय या उपादेय का बोध है। इस प्रकार वह विवेक ज्ञान है। विवेक अन्तःस्फूर्त है। वह उचित-अनुचित का सहज बोध है। निष्कर्ष यह है कि मतिज्ञान पराधीन है जबकि श्रुतज्ञान स्वाधीन है। इस प्रकार लेखक जी ने आगमिक आधारों को मान्य करके भी एक नवीन दृष्टि से व्याख्या की है।

क्या केवल ज्ञान निर्विकल्प है?

प्रस्तुत कृति में लेखक ने एक यह प्रश्न उपस्थित किया है कि केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर विचार विकल्प रहते हैं या नहीं रहते हैं। सामान्य दृष्टिकोण यह है कि केवलज्ञान की अवस्था निर्विचार और निर्विकल्प की अवस्था है, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि केवली में ज्ञानोपयोग और दर्शनापयोग दोनों ही होते हैं। दर्शनोपयोग को निर्विकल्प या अनाकार तथा ज्ञानोपयोग को सविकल्प या साकार माना गया है। पुनः केवली भी जब चौदहवें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान के चतुर्थपाद पर आरूढ़ होते हैं तब ही वे निर्विचार अवस्था को प्राप्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान की अवस्था में विचार तो रहता है, क्योंकि केवलज्ञानी जब तक सयोग अवस्था में रहता है तब तक उसकी मन, वचन और काया की प्रवृति होती है। उसमें मनोयोग का अभाव नहीं है, मन की प्रवृत्ति है, अतः विचार है। यदि केवली निर्विचार या निर्विकल्प होता तो फिर उसे अयोगी

केवली अवस्था में पहले स्थूल मन और फिर सूक्ष्म मन के निरोध की आवश्यकता ही नहीं रहती। मन की प्रवृत्तियों का निरोध यदि अयोगी केवली अवस्था में ही होता है तो फिर सयोगी केवली अवस्था में मन क्या कार्य करता है? क्योंकि निर्विकल्पता की अवस्था में तो मन के लिए कोई कार्य ही शेष नहीं रहता है। यदि ऐसा मानें कि केवली में भाव मन नहीं रहता है, मात्र द्रव्य मन रहता है, किन्तु द्रव्यमन भी बिना भाव मन के नहीं रह सकता। भाव मन के अभाव में द्रव्य मन तो मात्र एक पौद्गलिक संरचना होगा, जो जड़ होगा और जड़ में विचार सामर्थ्य संभव नहीं है और विचार के बिना मनोयोग के निरोध का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है। मेरी दृष्टि में इस संदर्भ में लेखक का यह मंतव्य उचित ही लगता है कि वस्तुतः विचार या विकल्प दो प्रकार के होते हैं- एक कामना रूप विचार और दूसरा निर्विकार या निष्काम विचार। निष्काम विचार में मात्र कर्तव्य बुद्धि होती है। केवली में कामनारूप या जिज्ञासा रूप विकल्प नहीं होते, किन्तु विवेक रूप विकल्प तो होते हैं। वह भी द्रव्य को द्रव्य के रूप में, गुण को गुण के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानता है और ऐसा ज्ञान विकल्परूप ज्ञान है।

ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हेतु ज्ञान का अनादर नहीं - ज्ञान का अनाचरण है - लेखक जी ने ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन के हेतु की समीक्षा करते हुए एक महत्वपूर्ण बात कही है। सामान्यतया यह माना जाता है कि, ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन का हेतु ज्ञान का 'अनादर' करना है। अनादर का सामान्य तात्पर्य उपेक्षा करना भी है, किन्तु लेखक ने यहाँ एक महत्वपूर्ण बात कही है वह यह कि प्राचीन परम्परा में 'आदर' शब्द आचरण के अर्थ में आया है। प्राचीन मरुगुर्जर भाषा में भी आदर शब्द का अर्थ आचरण या स्वीकार करना देखा जा सकता है, जैसे ''जाण्या पिण आदरिया नहीं'' इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः ज्ञानावरणीय कर्म का बंध का हेतु सत्य को सत्य समझते हुए भी उसे जीवन में आचरित नहीं करना है। इसके समर्थन में एक युक्ति यह भी दी जा सकती है - पंचाचारों में एक ज्ञानाचार भी है, अतः ज्ञान जानना नहीं, उसे आचरण में उतारना है। वस्तुतः इस कथन से एक संकेत निकलता है कि, वह ज्ञान जो आचरण में प्रतिफलित नहीं होता है वह अज्ञान रूप ही है, विष को जीवन घातक जानकर भी जो उसे खाता है, वह अज्ञानी है। वस्तुतः ज्ञान कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं है जिसका आदर या अनादर होता है। ज्ञान एक गुण है और किसी भी गुण का आदर करने का तात्पर्य है उसे जीवन में उतारना। सामान्यतया ज्ञान के अनादर का अर्थ ज्ञान के साधनों का अनादर या उपेक्षा माना जाता है, लेकिन

यह अर्थ परवर्ती ही है, क्योंकि भगवान महावीर के काल में ज्ञानार्जन हेतु ज्ञान के साधनों की अर्थात् पुस्तक, कलम आदि की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी, मात्र गुण ही पर्याप्त था। ज्ञान की जड़-सामग्री का अनादर करने से भी ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होगा और उनका आदर करने से ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट हो जाएगा, यह मानना भी उचित नहीं है वस्तुतः आदर का अर्थ उसका समीचीन उपयोग होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति पाक-शास्त्र की किसी पुस्तक की पूजा करे, उसे प्रणाम करे तो उससे न तो भोजन बनने वाला है और न ही भूख मिटने वाली है, अतः आदर का तात्पर्य वस्तुतः उसे जीवन में जीना है। ज्ञान मात्र जानना नहीं, अपितु जानकर जीना है। जो ज्ञान जीया नहीं जाएगा उस ज्ञान का वस्तुतः कोई लाभ नहीं। जैन परम्परा की यह विशेषता है कि वह ज्ञानाचार की बात करती है। उसके अनुसार ज्ञान मात्र जानने की वस्तु नहीं है, वह जीने की वस्तु है। यदि एक व्यक्ति विष के संबंध में सम्पूर्ण जानकारी रखते हुए भी उसका भक्षण करता है तो वह ज्ञानी नहीं माना जाएगा। तैरने के संबंध में पी-एच.डी करने वाला भी यदि तैरना नहीं जानता है तो वह डूबेगा ही। उसी प्रकार जो ज्ञान जीया नहीं जाता है वह ज्ञान वस्तुतः अज्ञान रूप या बंध रूप ही होता है। इस प्रस्तुत कृति में ज्ञानावरणीय कर्म के बंधन और प्रहाण के सम्बन्ध में लेखक ने जो दृष्टि प्रस्तुत की है, वह विचारणीय है। किन्तु ज्ञान के साधनों का अनादर ज्ञानावरणीय कर्म का बंध हेतु है, यह बात भी एकान्त मिथ्या नहीं है, यह भी आगम सम्मत है, क्योंकि गुरु भी ज्ञान का साधन है और उसके प्रति अविनय या अनादर भाव ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होगा अतः उससे भी ज्ञानावरणीय का बंध होगा।

पराघात एवं उपघात के नवीन अर्थ

इसी क्रम में लेखक ने नामकर्म की 'पराघात' नामक प्रकृति का भी एक नवीन अर्थ किया है, जो उनकी समीचीन दृष्टि का परिचायक है। नामकर्म की प्रकृतियों में एक प्रकृति का नाम पराघात है। सामान्यतया नामकर्म की पराघात नामक इस प्रकृति का अर्थ यह किया जाता है कि जो दूसरे को निष्प्रभ कर दे या जिससे व्यक्ति अजेय बना रहे वह पराघात है। लेखक ने पराघात के इस अर्थ को उपयुक्त न मान कर एक नवीन अर्थ दिया है। नामकर्म की यह प्रकृति पुद्गल विपाकी है इसका संबंध शरीर से है अतः लेखक की दृष्टि में इसका अर्थ है कि शरीर की वह शक्ति जो शरीर में आने वाले दूषित पदार्थों, दूषित वायु संक्रामक कीटाणु

आदि से लड़कर उन्हें पराजित कर देती है। वस्तुतः पराघात प्रकृति हमारे शरीर में आये विजातीय तत्वों पर विजय प्राप्त करती है और इस प्रकार हमें स्वस्थ रखती है। इसी प्रकार उन्होंने उपघात नामक नामकर्म की प्रकृति का अर्थ भी भिन्न किया है, यथा- जो शरीर में विजातीय पदार्थों की उत्पति कर शरीर में हानि पहुँचाती है वह उपघात नामक नामकर्म की प्रकृति है। इस प्रकार लेखक ने परम्परागत मान्यताओं को एक नवीन अर्थ देने का प्रयास किया है। उनकी बन्ध तत्त्व सम्बन्धी यह कृति मात्र परम्परागत मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण नहीं है, अपितु उनकी एक नवीन दृष्टि से समीक्षा भी है।

गोत्रकर्म से तात्पर्य

उच्चगोत्रकर्म का अर्थ उच्च, समृद्धिशाली कुल में जन्म लेना या नीचगोत्र का अर्थ निम्न क्षुद्र एवं दरिद्र कुल में जन्म लेना ऐसा नहीं है। लेखक का चिन्तन इस सम्बन्ध में भी परम्परागत मान्यता से भिन्न है। उनका मानना है कि जीवन में सद्गुणों का विकास उच्चगोत्र कर्म का उदय है और जीवन में दुर्गुणों की वृद्धि नीच गोत्र का उदय है। उनका कहना है कि हम परम्परागत मान्यता को स्वीकार करेंगे तो हरीकेशीबल नामक चाण्डाल मुनि में या पुणिया श्रावक में नीचगोत्र का उदय और हिंसकयज्ञों को सम्पन्न करने वाले ब्राह्मण में एवं दुराचार सम्पन्न व्यक्ति में उच्च गोत्र का उदय मानना होगा। लेकिन वास्तविकता तो इससे भिन्न ही है, उच्च गोत्र का तात्पर्य है सद्गुणों का विकास करने की योग्यता और निम्न गोत्र का तात्पर्य है दुर्गुणों में प्रवृत्त होने की प्रकृति। पुनः उच्च गोत्रकर्म के उदय में जाति, कुल, रूप एवं ऐश्वर्य का परम्परागत अर्थ लेना उचित नहीं होगा। यहाँ जाति का अर्थ संस्कार, कुल का अर्थ व्यवहार में शालीनता या अशालीनता, रूप का अर्थ आकर्षण सामर्थ्य और ऐश्वर्य का अर्थ सद्गुण सम्पन्नता मानना होगा। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो चाण्डाल जाति में उत्पन्न हरिकेशी जैसे कुरूप मुनि में तप-तेज और अष्टावक्र जैसे ज्ञानी में श्रुत सामर्थ्य मानने पर बाधा आएगी तब तो उनमें दोनों गोत्रों का उदय एक साथ मानना होगा जो आगम और कर्म सिद्धान्त से विपरीत है। यदि एक समय में एक ही गोत्र कर्म का उदय मानेंगे तो इनका परम्परा से भिन्न उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करना होगा। क्योंकि उच्च जाति और कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी कुरूप और विपन्न देखे जाते हैं। दूसरे किसी भी कर्म का सम्बन्ध बाह्यार्थों या वस्तुओं से नहीं है। ऐश्वर्य का सम्पत्ति अर्थ लेने पर वह भी बाह्य वस्तु होगा। इस सम्बन्ध में भी लेखक का स्पष्ट मानना है कि गरीबी-अमीरी पूर्व कर्म

के उदय का फल नहीं है। बाह्य निमित्तों की प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है, अपितु उन निमित्तों का उपयोग किस रूप में किया जाये यह व्यक्ति पर निर्भर है। कर्मों का उदय निमित्तों के उपयोग सामर्थ्य को सूचित करता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि घटनाएँ कर्म के उदय से सुख-दुःख रूप होती हैं जैसे किसी रोग का होना असातावेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है अथवा अच्छा स्वास्थ्य सातावेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है, किन्तु प्रस्तुत कृति में लेखक उक्त मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि घटनाएँ घटनाएँ हैं, वे सुख-दुःख रूप नही हैं। दूसरे, रोग या स्वास्थ्य भी कर्मजन्य नहीं है। रोग न तो असातावेदनीय का उदय है और न स्वस्थता सातावेदनीय का उदय है। घटनाओं या रोग आदि का संवेदन चेतना जिस रूप में करती है, उसका सम्बन्ध सातावेदनीय या असातावेदनीय से है। किसी के लिए वह सातावेदनीय का निमित्त बन जाती है तो दूसरे के लिए असातावेदनीय का निमित्त बन जाती है। रोग या घटनाएँ मात्र बाह्य निमित्त हैं, उनका दुःख रूप या सुखरूप संवेदन चेतनाश्रित है - अतः सातावेदनीय और असातावेदनीय संवेदन रूप चैत्तसिक अवस्था है, जो कर्मजन्य है।

इस प्रकार लेखक वेदनीय कर्म का अर्थ भी परम्परा से हटकर करते हैं किन्तु वह आगमानुकूल और समीचीन है। इसमें वैमत्य नहीं है। मलेरिया एक रोग या घटना है, वह किसी कर्म के निमित्त से नहीं होता है, किन्तु हम उसका संवेदन जिस रूप में करते हैं वह हमारे पूर्व कर्म संस्कार का परिणाम है - एक उसका वेदन समभाव से करता है तो दूसरा आकुलता से। बस यही वेदनीयकर्म अपना कार्य करता है। जो उसका वेदन समभाव से करता है वह असातावेदनीय का संक्रमण सातावेदनीय में करके उसका वेदन करता है तो दूसरा आकुलता की दशा में उसका वेदन असातावेदनीय रूप में करता है।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में बन्धतत्त्व से सम्बन्धित विविध विषयों पर नवीन चिन्तन उपलब्ध होता है। यहाँ उसे समेट पाना तो सम्भव नहीं था। लेखक की समीक्षक किन्तु यथार्थ दृष्टि से परिचय पाने के लिये मात्र कुछ तथ्यों का संकेत किया है, जिससे पाठकों में ग्रन्थ के समग्र अध्ययन की रुचि जाग्रत हो।

लेखक ने कर्मबंध और कर्मविपाक का सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व की दृष्टि से माना है, वे स्पष्टरूप से यह बताते हैं कि धन-सम्पत्ति की प्राप्ति या अप्राप्ति, रोग

आदि की उत्पत्ति के बाह्य संयोग का बनना या नहीं बनना यह पूर्वबद्धकर्म के उदयाधीन नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कर्मबंध और उसका विपाक दोनो 'पर' या बाह्यार्थ से सम्बन्धित नहीं हैं। उनका सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व से है। बाह्य संयोगों या बाह्य निमित्तों की उपलब्धि या अनुपलब्धि से नहीं है। इसका एक अर्थ यह भी है कि बाह्य परिवेश या पर्यावरण का अनुकूल या प्रतिकूल रूप में मिलना कर्मजन्य नही है। वह मात्र संयोगजन्य है। उनका कारण यदृच्छा/भवितव्यता/नियति है। जैन परम्परा में पचंकारण समवाय में काल, स्वभाव, नियति आदि भी स्वीकृत हैं अत: अनुकूल या प्रतिकूल संयोग के लिए पूर्वबद्ध कर्मो का उदय मानना उचित नहीं है। यहाँ तक लेखक की मान्यता से मेरी पूर्ण सहमति है। किन्तु जैन परम्परा में आठ कर्मो और विशेष रूप से घाती कर्मो में अंतराय कर्म भी माना गया है। इस अंतराय कर्म की पांच अवान्तर प्रकृतियाँ है :-

1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. भागान्तराय, 4. उपभोगान्तराय और 5. वीर्यान्तराय (पुरुषार्थ शक्ति के प्रकटन में बाधा)। यहाँ 'अन्तराय' शब्द बाधा या बाधकतत्त्व की उपस्थिति का सूचक है। सामान्यतया बाधा या बाधकतत्त्व की उपस्थिति को बाह्य माना जाता है और ऐसा मानने पर यह लगता है कि कर्म का सम्बन्ध बाह्य निमित्तों की उपलब्धि या अनुपलब्धि से भी है। यदि प्रतिकूल निमित्तों का मिलना अन्तराय है तो फिर कर्म का सम्बन्ध बाह्य या पर से मानना होगा। इस समस्या का समाधान इस पुस्तक में निहित अन्तराय कर्म के विवेचन से प्राप्त हो जाता है। लेखक ने अन्तराय कर्म का निरूपण करते हुए उसे नूतन अर्थ दि हैं तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य को क्रमश: उदारता का भाव, कामना का अभाव, आन्तरिक सौन्दर्य, माधुर्य एवं सामर्थ्य कहा है, जो आन्तरिक गुण हैं उपलब्धियाँ हैं। लेखक ने अन्तराय कर्म के भेदों का विवेचन युक्तिसंगत एवं मर्मोघाटक रीति से किया है, जिसमें वर्तमान में प्रचलित अर्थों से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण स्वत: हो जाता है।

लेखक का यह मन्तव्य है कि कर्म का बन्ध और सत्ता वहीं है जहॉ आत्म-प्रदेश हैं, अत: उनका उदय भी वहीं होगा, जहाँ आत्म-प्रदेश हैं और आत्म-प्रदेश मात्र शरीर में ही पाये जाते हैं। अत: लाभान्तराय आदि का सम्बन्ध भी 'स्व' से ही है। लाभान्तराय के क्षय का भी यह अर्थ नहीं है कि हमें बाह्य वस्तुओं अर्थात् धन सम्पति की प्राप्ति हो - उनका कथन है कि गरीबी-अमीरी का कर्म से कोई सम्बन्ध

नहीं है - इस सम्बन्ध में उन्होनें विस्तृत चर्चा अपनी पुस्तक 'गरीबी-अमीरी पूर्व-जन्म कर्म का परिणाम नहीं है', में की है। अत: यहाँ इस सम्बन्ध में विस्तार से जाना अपेक्षित नहीं है।

वस्तुत: प्रस्तुत कृति में कर्म के बन्ध, उदय आदि के सम्बन्ध में उनका चिन्तन मौलिक और नवीन है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है उसका शास्त्रीय आधार नहीं है। उन्होंने समस्त लेखन शास्त्रीय आधारों पर किया है। उनकी इस कृति का अवलोकन पाठकों के चिन्तन को नई दिशा देगा और शास्त्रीय आधारों पर एक सम्यक् अवबोध प्रदान करेगा साथ ही इस सम्बन्ध में परम्परा में चली आई भ्रान्तियों का निराकरण करेगा। उनका सम्यक् मार्ग दर्शन उनकी कृतियों के माध्यम से समाज को मिलता रहे, यही अपेक्षा है।

आमुख

(लेखक की मूल पुस्तक 'बन्ध तत्त्व' से उद्धृत)

-धर्मचन्द जैन

तत्त्वचिन्तक, ध्यान-साधक, विद्वद्वर्य एवं गुरुवर्य कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने जैनधर्म-दर्शन में प्रतिपादित जीवादि नवतत्त्वों का नतून विवेचन किया है। 'बंध-तत्त्व' पर लिखित यह पुस्तक अनूठी एवं क्रान्तिकारी है। इसमें मात्र बंध तत्त्व का ही नहीं अपितु कर्म-सिद्धान्त विषयक अनेक अवधारणाओं का आलोडन एवं समीक्षण हुआ है। पूज्य लोढ़ा का कर्म विषयक मौलिक चिन्तन इस कृति का प्राण है। पुस्तक में आठ कर्मों एवं उनकी उत्तर प्रकृतियों का गूढ़ार्थ प्रस्तुत करने का स्तुत्य उपक्रम किया गया है। पूज्य लोढ़ा सा. ने जैन कर्म-सिद्धान्त में प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं एवं विसंगतियों का निराकरण कर ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों एवं कर्मसिद्धान्त विषयक अनेक अवधारणाओं का नूतन विवेचन किया है।

सर्वप्रथम हम ज्ञानावरण कर्म को ही लें। ज्ञानावरण कर्म जो जीव के ज्ञान को आवरित करता है, उसका सीधा सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है। जितना मोहकर्म प्रगाढ़ होता है, उतना ही ज्ञानावरण कर्म प्रबल होता है। जितना मोह घटता है उतना ही ज्ञानावरण कर्म का प्रभाव क्षीण होता जाता है एवं ज्ञान गुण प्रकट होता जाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान गुण के घटने-बढ़ने का सम्बन्ध मोह के घटने-बढ़ने से है। मोह के कारण ज्ञानावरण में तरतमता होती है तथा ज्ञानावरण के

कारण ज्ञानावरण में तरतमता होती है तथा ज्ञानावरण के कारण ज्ञान का प्रकटीकरण प्रभावित होता है। ज्ञान होना जीव का लक्षण है। जीव कुछ न कुछ अवश्य जानता है। अजीव जानने का साधन तो बन सकता है, किन्तु वह ज्ञाता नहीं होता। कम्प्यूटर अनेक प्रकार के गणितीय प्रश्नों को हल करने में, ई-मेल द्वारा समाचार प्रेषित करने में इण्टरनेट के माध्यम से दुनियाभर की सूचना को प्रदर्शित करने में सहायक बनता है, किन्तु वह भी एक उपकरण ही है, ज्ञाता नहीं। ज्ञाता तो जीव ही होता है।

बाह्य जगत् का ज्ञान आभिनिबोधक ज्ञान अथवा मतिज्ञान है जो इन्द्रिय एवं मन की सहायता से होता है अर्थात् इन्द्रियाँ इनमें करण बनती हैं। मतिज्ञान का व्यापक है। यह अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारण तक ही सीमित नहीं होता, अपितु स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमानजन्य ज्ञान भी मतिज्ञान स्वरूप ही है। बुद्धिजन्य ज्ञान भी मतिज्ञान है तथा जातिस्मरण ज्ञान को भी मतिज्ञान की श्रेणि में लिया गया है। मतिज्ञान के द्वारा शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श युक्त पदार्थों का तो ज्ञान होता ही है, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय एवं परमाणुसदृश सूक्ष्म पुद्गलों का ज्ञान भी मतिज्ञान के अन्तर्गत ही आता है, क्योंकि इसको जानने में बुद्धि एवं तर्क की अपेक्षा होती है। अब प्रश्न है कि मतिज्ञान पर आवरण किस प्रकार आता है? मतिज्ञान के प्रकटीकरण में जो सहायक करण हैं उनके निर्माण का सम्बन्ध तो नामकर्म से है। इन्द्रियादि की रचना नामकर्म से होती है, किन्तु उनमें जानने की क्षमता का आधार दर्शनावरण एवं ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है। मतिज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर जीव में ऐन्द्रियक ज्ञान के स्तर पर, स्मृति, तर्क, चिन्तन एवं बौद्धिक ज्ञान के स्तर पर रुकावट उत्पन्न हो जाती है। लेखक का यह मन्तव्य है कि बाह्य वस्तुओं अथवा विषयों का कितना ज्ञान हुआ है, इससे मतिज्ञान में कोई विशेषता नहीं आती।

श्रुतज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान है। स्वभाव-विभाव, गुण-दोष एवं हेय उपादेय का स्वाभाविक ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। यह इन्द्रिय का विषय नहीं है, यह जीव को स्वतः प्राप्त वह ज्ञान है जिससे जीव को शान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व, पूर्णता, प्रसन्नता आदि गुण इष्ट होते हैं। वस्तु, शरीर आदि की नश्वरता, संसार की अशरणता आदि का बोध श्रुतज्ञान का स्वरूप है। इसे विवेक भी कहा जा सकता है। ज्ञान का सच्च स्वरूप श्रुतज्ञान ही है। यही केवलज्ञान में सहायक है। श्रुतज्ञानी

यह भी जानता है कि संसार में अशान्ति, अभाव, पराधीनता, चिन्ता, भय, संघर्ष-कलह, युद्ध, तनाव, दबाव, हीनभाव अन्तर्द्वन्द्व, नीरसता, जड़ता आदि भी दुःख है, उनके मूल में विषयसुख की अभिलाषा है, अतः विषयसुख की अभिलाषा त्याज्य है। विषय-कषाय एवं समस्त पापों के त्याग में धर्म है, यह श्रुतज्ञान है। यह बोध हमें तीर्थंकरों द्वारा निरुपित आगमवाणी से भी होता है, अतः उसे भी श्रुतज्ञान कहा है। यह ज्ञान जब चेतना के स्तर पर व्यक्ति को बिना आगमवाणी के अनुभूत होता है तो यह स्वतः उद्भूत श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान के स्वरूप को लोढ़ा सा. ने विस्तार से स्पष्ट किया है तथा 'श्रुतमनिन्द्रियस्य' सूत्र में स्थित 'अनिन्द्रिय' शब्द का अर्थ मन न मानकर चेतना स्वीकार किया है।

श्रुतज्ञानावरण के कारण श्रुतज्ञान अभिव्यक्त नहीं होता है। श्रुतज्ञानावरण का जितना क्षयोपशम होता है वह उतने अंश में प्रकट होता रहता है। मिथ्यात्व के रहते है वह श्रुत-अज्ञान कहलाता है तथा मिथ्यात्व के समाप्त होने पर उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है। श्रुतज्ञान से ही केवलज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान न भी हो तो भी श्रुतज्ञान के प्रभाव से सीधे केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। श्रुतज्ञान परोक्ष है एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। उनके अनुसार लोक का अर्थ शरीर है। शरीर में उठने वाली संवेदनाओं का आत्मप्रदेशों से होता है, इसलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जब जीव अपने समस्त आत्म-प्रदेशों से शरीर के समस्त विषयभूत अर्थ को ग्रहण करता है तो सर्वावधि एवं परमावधि ज्ञान हो जाता है। लोढ़ा सा, के अनुसार लोक के बह्य रूपी पदार्थो को निश्चित दूरी एवं अवधि तक जानने से अवधिज्ञान का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आत्महित से इसका सीधा प्रयोजन नहीं है। लोढ़ा सा, के आनुसार अवधिदर्शन एवं अवधिज्ञान ध्यान की प्रकिया से जुड़े हुए हैं।

मन की पर्यायों को मन से असंग रहते हुए जानना मनः पर्यायज्ञान है। चिन्तन के न करने पर भी मन की जो पर्याये प्रकट होती हैं वे मनःपर्याय ज्ञान का विषय बनती है। मतिज्ञान में जहाँ मन से सम्बद्ध अवग्रह, ईहा, अवाय एवं धारणा ज्ञान होते हैं तथा व्यक्ति स्वयं चिन्तन द्वारा मानसिक क्रियाओं को संचलित करता है वहाँ मनःपर्यायज्ञान में साधक अपनी ओर से चिन्तन-मनन एवं संकल्प-विकल्प न कर मन से असंग एवं तटस्थ रहता है तथा मन में प्रकट होने वाले पूर्व संस्कारों को जानता है। मनःपर्यायज्ञान उन्हीं साधकों को होता है जो संयमी हैं, एवं विषय-भोगों से विरत हैं। मनःपर्यायज्ञान का प्रकट न होना मनःपर्यायज्ञानावरण है।

केवलज्ञान सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है। समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को बिना किसी अन्य करण के सीधे आत्मा से जानना केवलज्ञान है। केवलज्ञान में द्रव्य, गुण एवं पर्याय तीनों को एक साथ जाना जाता है। केवलज्ञान अशेषज्ञान है। इसके होने के पश्चात् कुछ भी जानना शेष नहीं रहता है। वीतराग अवस्था का जो निर्देष-शुद्ध ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। इसे अनन्तज्ञान, अभेदज्ञान एवं अशेषज्ञान भी कहा गया है। अशेषज्ञान होने से इसे सर्वज्ञता के रूप में भी जाना जाता है।

ज्ञानावरण कर्म का बंध भी जीव ही करता है तथा उसका क्षय एवं क्षयोपशम भी जीव ही करता है। जीव में रही हुई आसक्ति एवं कषाय से कर्म सत्ता को प्राप्त होते हैं। आश्चर्य यह है कि कर्म जिससे सत्ता पाते हैं, उसी जीव को आवरित कर देते है और उसी जीव में उनके क्षय का ज्ञान भी होता है। जीव में उनके क्षय का ज्ञान भी होता है। जीव अविवेकजन्य अज्ञान के प्रभाव से विषय-कषाय तथा भोगों के सेवन कर ज्ञानावरण आदि कर्मों को बांध लेता है और विवेकजन्य ज्ञान के प्रभाव से विषय-भोगों का त्याग कर कर्मक्षय कर लेता है।

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म-बंध के आगमों में छह कारण प्रतिपादित हैं- १. प्रत्यनीकता २. अपलाप ३. अन्तराय ४. प्रद्वेष ५. आसादन और ६. विसंवाद। इनमें प्रत्यनीकता का अर्थ है ज्ञान के विपरीत आचारण। अपलाप का तात्पर्य है ज्ञान का प्रभव अपने पर न होने देना। अन्तराय से आशय है ज्ञान के अनरूप आचरण को भविष्य हेतु टालना। प्रद्वेष का अर्थ है प्राप्त ज्ञान के प्रति द्वेष कर भोगों को आवश्यक मनाना। आसादन का अभिप्राय है निजज्ञान का अनादर करना। श्रद्धेय लोढ़ा साहब के अनुसार इनमें ज्ञान का अनादर प्रमुख कारण है। ज्ञान के अनादर का तात्पर्य है ज्ञान को आचरण में न लाना। लोढ़ा साहब ने अनादर का अर्थ अनाचरण कर नया आयाम प्रस्तुत किया है। इससे अब तक चले आ रहे संकीर्ण अर्थ पुस्तकों के आनादर आदि की अपेक्षा एक व्यापक अर्थ को स्थान मिला है। वस्तुतः प्राप्त ज्ञान को आचरण में न लाना ही उसका अनादर है तथा उससे ज्ञानावरण कर्म के बंध का सीधा सम्बन्ध है।

ज्ञान, अज्ञान एवं ज्ञानावरण में क्या भेद है? लोढ़ा साहब संक्षेप में लिखते हैं- ''जिस ज्ञान से अपना हित हो, वही ज्ञान है तथा जिस ज्ञान से अपना अहित हो वह अज्ञान है।'' सम्यग्दृष्टि वाले जीव का ज्ञान 'ज्ञान' अथवा सम्यग्ज्ञान है

तथा मिथ्यादृष्टि वाले जीव का ज्ञान मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान है। उदाहरणार्थ बाह्य पदार्थ, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि को सुख-दुःख का कारण मानने रूप ज्ञान 'अज्ञान' है। अपने सुख-दुःख का कारण व्यक्ति स्वयं है, यह बोध ज्ञान है। इसका आदर न करने पर ज्ञान का प्रकट न होना ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान प्रकट होता है।

ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। जिन कारणों से ज्ञान पर आवरण आता है उन्हीं कारणों से दर्शन गुण पर आवरण आता है। जीव की संवेदनशक्ति को दर्शन कहा गया है। यह संवेदनशक्ति ज्ञान की पूर्वावस्था है। पहले दर्शन होता है एवं फिर ज्ञान। गुण की दृष्टि से तो जीव में ज्ञान एवं दर्शन गुण दोनों एक साथ रहते हैं, किन्तु उपयोग की दृष्टि से इनमें क्रमभाव होता है। पूर्वाचार्यों ने दर्शन को निर्विकल्प, निराकार, अनिर्वचनीय, अविशेष, अभेद आदि विशेषताओं से युक्त बतलाया है तथा ज्ञान को सविकल्प, साकार, विशेष निर्भर करता है। दर्शन के लिए चिन्मयता, अन्तर्मुख चैतन्य जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। दर्शन को सामान्यज्ञान एवं ज्ञान को विशेषज्ञान के रूप में परिभाषित करने में वह स्पष्टता नहीं आती है जो संवेदनशीलता एवं ज्ञान से रूप में भेद स्थापित करने से आती है।

दर्शन के चार प्रकार हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन। चक्षु की आन्तरिक ग्रहणशक्ति रूप संवेदनशीतला चक्षुदर्शन है। इस गुण पर आवरण आना चक्षुदर्शनावरण है। शरीर, जिह्व, नासिका एवं श्रोत्र इन्द्रियों की संवेदनशीलता अचक्षुदर्शन है तथा इनके इस गुण पर आवरण आना अचक्षुदर्शनावरणादि हैं तथा पाँच निद्राओं की भी इससे गणना होती है। पाँच निद्राएँ हैं- १. निद्रा २. निद्रा-निद्रा ३. प्रचला, ४. प्रचला-प्रचला एवं ५. स्त्यानगृद्धि। जो आत्मस्वरूप को, चैतन्यगुण को प्रकट न होने दे वह निद्रा है। ये पाँचों निद्राएं यही कार्य करती हैं। स्वरूप की दृष्टि से इनके भिन्न लक्षण प्राप्त होते हैं। लोढ़ा साहब ने भी इसके प्रायः वे ही प्रचलित लक्षण दिए हैं, यथा- खेद, परिश्रम आदि से उत्पन्न थकावट के कारण आने वाली निद्रा, जिसमें सुगमता से जाग्रत हुआ जा सके वह निद्रा है। निद्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होना, निद्रा का प्रगाढ़ होना, कठिनाई से जाग्रत होना निद्रा-निद्रा है। चलायमान अवस्था में निद्रा

आना प्रचला है, प्रचला की पुनः पुनः आवृत्ति होना प्रचला-प्रचला है। सुप्त अवस्था में चलना-फिरना या अन्य कार्य करना स्त्यानगृद्धि है।

दर्शनावरण कर्म का भी मोहनीय कर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध है। मोहकर्म के कारण दर्शन शक्ति आच्छादित होती है। मोहकर्म मूर्च्छा का द्योतक है और मूर्च्छा की वृद्धि होती है। जितनी मूर्च्छा बढ़ती है, उतनी ही जड़ता बढ़ती है, जितनी जड़ता बढ़ती है उतना ही चेतन का चेतनतारूप दर्शन गुण आवरित होता है।

मोह के घटने एवं समता के बढ़ने से दर्शन गुण का प्रकटीकरण होता है। जैसे-जैसे दर्शन गुण का विकास या प्रकटीकरण होता जाता है, वैसे-वैसे स्व संवेदन की स्पष्टता एवं सूक्ष्म प्रकट होती जाती है, चेतना का विकास होता जाता है। दर्शन के विकास के साथ ज्ञान का विकास होता है। निर्विकल्पक चित्त की अवस्था में ही विचार या विवेक का उदय होता है। दर्शन गुण की प्रथम विशेषता संवेदनशीलता है तथा दूसरी विशेषता निर्विकल्पता है।

निर्विकल्प स्वरूप दर्शनगुण का विकास सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में तथा दर्शनमोह के क्षय में हेतु है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु होता है। दर्शनगुण के विकास में निर्विकल्पता के कारण समता की पुष्टि होती है और वह समता दर्शनावरण एवं दर्शनमोह में कमी लाती है।

दर्शनावरण कर्म बंध के जो छह कारण हैं, उनका स्वरूप इस प्रकार है- संकल्प-उत्पत्ति एवं पूर्ति को ही जीवन मानना तथा निर्विकल्पता के विरुद्ध आचरण करना दर्शना प्रत्यनीकता है। दर्शन-निह्नव का तात्पर्य है स्वतः प्राप्त निर्विकल्पता को सुरक्षित न रखना। निर्विकल्पता की अनुभूति को कालान्तर के लिए टालना दर्शन-अन्तराय है। निर्विकल्पता को अकर्मण्यता समझकर उससे द्वेष करना दर्शन-द्वेष है। दर्शन-आशातना से आशय है निर्विकल्पता की उपेक्षा करना, उसके सम्पादन के लिए प्रयत्नशील न होना। दर्शन- विसंवाद का अभिप्राय है निर्विकल्पता की उपलब्धि में अपने को असमर्थ मानना, उससे निराश होना उसे उचित न मानना।

सुख-दुःख का वेदन वेदनीय कर्म का फल है। आगम की पारिभाषिक शब्दावली में सुख को साता एवं दुःख को असाता कहा गया है। साता का वेदन पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों तथा मन सौख्य, वचन सौख्य एवं काय सौख्य से होता है। इसके विपरीत असाता का वेदन पाँच इन्द्रियों के अमनोज्ञ विषयों, मन

दु:खता, वचन दु:खता एवं काया की दु:खता के रूप में होता है। इस आधार पर वेदनीय कर्म दो प्रकार का है- साता वेदनीय एवं असाता वेदनीय।

साता-वेदनीय कर्म का उपार्जन सभी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों पर अनुकम्पा करने से होता है। उन्हें दु:ख न देने से, उनके पीड़ा-परिताप का निवारण करने से होता है। इसके विपरीत असातावेदनीय कर्म का उपार्जन अन्य प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों पर क्रूरता आदि के व्यवहार से यावत् परिताप उत्पन्न करने से होता है। इसका तात्पर्य है कि हमारा व्यवहार दूसरे प्राणियों के साथ कैसा है, इस पर साता एवं असाता का उपार्जन निर्भर करता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी दु:ख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन (विलाप) को असातावेदनीय के बंध का कारण तथा भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षमा और शौच को सातावेदनीय के बंध का कारण स्वीकार किया गया है।

क्रोध, मान, माया एवं लोभ कषाय के शमन से भी साता का अनुभव होता है। क्रोध-विजय से क्षमा, क्षमा से प्रह्लादभाव, प्रह्लादभाव से सब प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न होता है। सब प्राणियों के प्रति मैत्री को अनुकम्पा भी कहा गया है। अनुकम्पा भाव साता का प्रमुख कारण है।

पुस्तक के लेखक ने दु:ख का मूल सुख-दु:ख को भोग को माना है। उनके अनुसार सुख के प्रति राग करना एवं दु:ख के प्रति द्वेष करना सुख-दु:ख का भोग है। अपने सुख का भोग न करके उसे पर पीड़ा से करुणित होकर सेवा में लगाना राग की निवृत्ति में सहायक है तथा दु:ख से मुक्ति पाने के लिए सुख-दु:ख के भोग का त्याग अनिवार्य है।

वेदनीय कर्म अघाती है इसलिए वह हानिकारक नहीं है। हानिकारक है साता की वेदना के प्रति राग एवं असाता की वेदना के प्रति द्वेष करना। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति नये कर्मों को जन्म देती। विद्वान् लेखक श्री लोढ़ा सा. से विभिन्न तर्क प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने को प्रयास किया है कि बाह्य विषयों की प्राप्ति साता या असाता वेदनीय कर्म के उदय से नहीं होती, हाँ उन विषयों के उदय से होता है। जीव में पहले किस प्रकार के कर्म-संस्कार हैं उसके अनुसार ही उसे उन विषयों के मिलने पर सुख-दु:ख का वेदन होता है। लोढ़ा सा. ने उदाहरण देते हुए कहा कि कोई संगीतज्ञ के संगीत-गायन को किसी एक के कर्म के उदय का फल माना जाए तो उससे दो प्रकार के फलों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तीसरी बात यह भी है कि संगीतज्ञ जो संगीत सुना रहा है एवं स्वयं आनन्दित हो रहा है, उसका अपना भी तो कोई कर्म होगा, जिससे उसे साता का अनुभव हो रहा है। इस तरह विभिन्न प्रश्न खड़े होते हैं, अतः निमित्त से कर्म उदय में आते हैं, यह मानना तो उचित है, किन्तु निमित्त की प्राप्ति कर्म के उदय से होती है, यह मन्तव्य उचित नहीं है। निमित्तों की मनोज्ञता-अमनोज्ञता की वैयक्तिक स्वभाव एवं रुचि पर निर्भर करती है। जिस विष्ठा की दुर्गन्ध से मनुष्य नाक सिकोड़ कर असाता का अनुभव करता है, उसी विष्ठ का स्वाद एक सूअर को मनोज्ञ प्रतीत होता है। अतः साता वेदनीय या असाता वेदनीय के उदय से किसी वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति नहीं होती है। हम सामान्यजन कार्य का कारण का आक्षेप कर सम्बद्ध वस्तु को भी अपने कर्म का फल मानते है, जो एक भ्रम है।

जो कर्म जीव को मोहित करे, मूर्च्छित करे, हित-अहित पहचान न होने दे वह मोहनीय कर्म है। ज्ञानावरणादि आठों कर्मों में मोहकर्म प्रधान है। इसे कर्मों का राजा कहा जाता है। मोहकर्म के दो पक्ष हैं- दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय व्यक्ति की आन्तरिक दृष्टि का निर्धारण करता है तथा चारित्र मोहनीय उसके भावात्मक आचरण को द्योतित करता है। भीतरी दृष्टि में यादि पर पदार्थें में आसक्ति भाव है तो निश्चित ही दर्शनमोहनीय का प्रभाव है तथा आचरण में यदि क्रोध, मान, माया एवं लोभ का अस्तित्व हो तो चारित्र मोहनीय कर्म का परिणाम है।

दर्शनमोहनीय के तीन प्रकार हैं-मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय। मिथ्यात्व मोहनीय का दूसरा नाम मिथ्यात्व एवं मिथ्यादर्शन भी है। सत्य तत्त्व के प्रति श्रद्धा न होकर अनित्य पदार्थों के भोगों के प्रति श्रद्धा होना मिथ्यात्व मोहनीय है। सम्यग्दर्शन से जनित शान्ति के सुख में रमणता अथवा उसका भोग सम्यक्त्व मोहनीय कर्म है। दूसरे शब्दों के सम्यक्त्व में मोहित होना, आगे न बढ़ना सम्यक्त्व मोह है। सम्यक्त्व मोह एवं मिथ्यात्व मोह का मिश्रण मिश्र मोह है। इसका उदय एक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक नहीं होता है। सम्यग्दर्शन होने के पूर्व दर्शनमोहनीय की इन तीनों प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होना अनिवार्य होता है। कर्मबंध के समय मात्र मिथ्यात्वमोहनीय कर्म प्रकृति का बंध होता है, जबकि उदय के समय यह प्रकृत्ति तीन स्वरूपों में प्रकट हो सकती है जिन्हें मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्तव मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय (सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय) कहा गया है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के व्यावहारिक दृष्टि से १० प्रकार निरूपित हैं- १-२ अधर्म को धर्म एवं धर्म को अधर्म श्रद्धना, ३-४ उन्मार्ग को सन्मार्ग एवं सन्मार्ग को उन्मार्ग श्रद्धना, ५-६ अजीव को जीव तथा जीव को अजीव श्रद्धना, ७-८. असाधु को साधु तथा साधु को असाधु श्रद्धना, ९-१० अमुक्त को मुक्त तथा मुक्त को अमुक्त श्रद्धना। इनकी व्याख्या श्री लोढ़ा सा. ने अपने ढंग से की है। वे लिखते हैं कि वस्तु का स्वाभाव धर्म है और पर के संयोग से उत्पन्न हुई विभाव दशा अधर्म है। इस दृष्टि से सम्पत्ति, संतति, शक्ति, सत्ता, इन्द्रियाँ आदि के संयोग से मिलने वाला सुख विभाव है। इस सुख को स्वभाव मानना अधर्म है। इस सुख को जीवन मानना अधर्म को धर्म मानना है। इस सुख के लिए दूसरों का शोषण करना, धन का अवरहरण करना, हिंसा, झूठ आदि पाप करना भी अधर्म है। इस अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। इसी प्रकार करुणा, क्षमा, मैत्री आदि स्वभाव रूप धर्म को विभाव मानना धर्म को अधर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। संभोग को समधि का हेतु मानना, अतिभोग को मुक्ति का मार्ग मानना, प्रभावना के नाम पर सम्मान, सत्कार, पुरस्कार आदि सम्प्रवृत्तियों को पुण्य-बंध का हेतु कहकर इन्हें संसार-परिभ्रमण का कारण मानना सन्मार्ग को उन्मार्ग मानने रूप मिथ्यात्व है। अपने को देह मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। अपने को देह मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्यात्व है और देह के अस्तित्व को अपना अस्तित्व मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है। अपने को देह मान लेने से ही विषय-भोगों में गृद्ध एवं परिग्रही को सुखी एवं श्रेष्ठ मानना तथा साधु को असाधु समझने का अभिप्राय है संयमी एवं वीतराग मार्ग के आचरणकर्ता को परावलम्बी, अनाथ एवं दुःखी समझना। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, परिस्थिति, सम्पत्ति, सत्ता, सत्कार, परिवार आदि पर के आश्रित व्यक्ति को मुक्त समझना अमुक्त को मुक्त समझने रूप मिथ्यात्व है तथा राग-द्वेष-मोह आदि विकारों से मुक्त को दुःखी एवं पराधीन समझना मुक्त को अमुक्त समझने रूप मिथ्यात्व है।

जब तक इन मिथ्या मान्यताओं का निराकरण नहीं होता तब तक सम्यग्दर्शन एवं वीतरागता की ओर चरण नहीं बढ़ते।

चारित्रमोहनीय कर्म के दो विभाग हैं- कषाय और नोकषाय। दर्शनमोहनीय के रहते जो संसार में आबद्ध रखने वाले प्रमुख भाव हैं वे कषाय हैं तथा इस कषायों के सहयोगी नोकषाय हैं। कषाय के १६ भेद हैं- १-४ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ, ५-८ अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एवं लोभ, ९-१२ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, १३-१६ संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ। नोकषाय के ९ भेद हैं- १. हास्य २. अरति ४. भय. ५. शोक, ६ जुगुप्सा ७. पुरुषवेद ८. स्त्रीवेद, ९ नपुंसकवेद।

लोढ़ा साहब के अनुसार राग-द्वेष के उत्पन्न होने से चित्त का कुपित, क्षुब्ध या अशान्त होना क्रोध कषााय है। वस्तु व्यक्ति एवं परिस्थिति से तादात्म्य होना, उनसे जुड़ जाना तथा उनसे अहंभाव होना मान कषाय है। संग्रहवृत्ति लोभ की द्योतक है।

प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति के भोग से संतुष्ट न होकर, सुखभोग के लिए नवीन-नवीन वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि का अंत कभी नहीं हो उनको सदा बनाये रखने की इच्छा अनन्तानुबंधी है। विषयसुख की दासता तथा लोलुपता के आबद्ध प्राणी द्वारा दुःखों से छूटने, असंयम को त्यागने अथवा कहें कि प्रत्याख्यान करने का भाव न होना अप्रत्यख्यानावरण है। विषयभोगों का पूर्ण त्याग कर संयमधारण न करना प्रत्याख्यानावरण कषाय है। विषयभोगों की स्फुरणा होना, उनके प्रति आकर्षण होना उनके राग की आग में जलना संल्वलन कषाय है। संक्षेत में अनन्तानुबंधी क्रोध आदि १६ भेदों का स्वरूप इस प्रकार है-

अपने सुख में बाधा उत्पन्न करने वाले के प्रति निरन्तर आजीवन वैरभाव रखना, उसे क्षमा न करना अनन्तानुबंधी क्रोध है। क्रोध को त्यागने या कम करने का भाव उत्पन्न न होना अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है। क्रोध को त्यागकर क्षमा व शान्ति धारण करने से प्रसन्नता, निश्चिन्तता, निर्भयता आदि सुखों की उपलब्धि होती है, जानते हुए भी क्षमा धारण न करना। प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। कामना उत्पत्ति से राग-द्वेष की आग का प्रज्वलित होना संज्वलन क्रोध है। देह, धन, बल, बुद्धि, विद्या आदि की उपलब्धि को ही अपना जीवन मानना तथा उन्हें अनन्तकाल तक बनाये रखने की अभिलाषा रखना अनन्तानुबंधी मान है। मान के कारण उत्पन्न दीनता, गर्व, जड़ता पराधीनता, हृदय की कठोरता आदि दुःखों की उपेक्षा करना, उन्हे दूर करने का प्रयत्न न करना अप्रत्याख्यानावरण

मान है। मान के त्याग से होने वाले मृदुता आदि गुणों के लिए प्रयत्नशील न होना, मान का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण मान कषाय है। मान की उत्पत्ति से दीनता और अभिमान की अग्नि में जलना संज्वलन मान है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, परिवार, धन- सम्पति आदि सबको सदा अपना मानते रहना, ये सब मेरे बने रहें, इनका वियोग या अंत कभी न हो, यह भाव अनन्तानुबंधी माया है। माया दु:खकारी है, फिर भी उससे छूटने की अभिलाषा उत्पन्न न होना अप्रत्याख्यानावरण माया है। माया के त्याग से स्वाधीनता, सरलता आदि गुणों की उपलिब्ध होती है, फिर भी माया का, ममता का त्याग न करना प्रत्याख्यानावरण माया है। माया या ममता की रुचि, उत्पत्ति एवं स्मृति से पराधीनता, विवशता की ज्याला में जलना संज्वलन लोभ है।

हास्य, रति, अरति एवं शोक के पुस्तक में एकाधिक अर्थ दिए गए हैं। लोढ़ा सा. कहते हैं कि वर्तमान में हास्य कषाय का अर्थ हंसना किया जाता है जो आगम एवं कर्मसिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। उनके अनुसार हास्यादि के अर्थ इस प्रकार हैं-

वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अनुकूलता का रुचिकर लगना रति है और इनकी प्रतिकूलता का अरुचिकर लगना अरति है। अनुकूलता में हर्ष होना हास्य तथा इसी प्रकार अरति एवं शोक का जोड़ा है। एक अन्य परिभाषा में उन्होंने कहा कि अनुकूलता का भोग रति है तथा रति से प्राप्त होने वाला हर्ष हास्य है। अनचाही वस्तु की भोग-प्रवृत्ति अरति है और उस भोग-प्रवृत्ति के समय होने वाला दु:खद अनुभव शोक है।

भय एवं जुगुप्सा का भी जोड़ा है। शरीर के रक्षण की इच्छा जुगुप्सा है तथा शरीर की हानि की आशंका भय है। जुगुप्सा का एक अर्थ मानसिक ग्लानि भी है। दु:ख सभी को अप्रिय है, अत: दु:ख आने का भय प्राय: सभी को होता है। नया दु:ख न आ जाये यह आशंका भय है और आया हुआ दु:ख जो कि अरुचिकर है उसका उपचार विचिकित्सा या जुगुप्सा है। जो प्राणी दु:ख से घबराते हैं उन्हीं में भय और जुगुप्सा उत्पन्न होते हैं

प्रचलित धारणा के अनुसार पुरुषवेद का तात्पर्य स्त्री के साथ संभोग की अभिलाषा, स्त्रीवेद का तात्पर्य पुरुष के साथ सहवास की इच्छा तथा नपुंसकवेद का आशय दोनों के साथ साहचर्य की कामना है। लोढ़ा सा. का

मन्तव्य है कि वेद का यह प्रचलित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि संसार में जितने भी जीव हैं, उनके हर क्षण किसी न किसी वेद का उदय होता है। उनके अनुसार कर्तृत्वभाव पुरुषवेद है, भोक्तृत्व भावना स्त्रीवेद है तथा दोनों की मिली-जुली भावना नपुंसक वेद है। उन्होंने दूसरा अर्थ भी दिया है, जिसके अनुसार जो स्वयं अपने पुरुषार्थ से प्रवृत्ति करते हैं वे पुरुषवेदी हैं, जो प्रवृत्ति करने में पर के आलम्बन की अपेक्षा रखते हैं वे स्त्रीवेदी हैं तथा जो कुछ भी करने में सक्षम नहीं है वे नपुंसकवेदी हैं।

आयुकर्म एक ऐसा कर्म है जो किसी जीव का एक भव में स्थितिकाल निर्धारित करता है। उदाहरणार्थ मनुष्यभव में एक जीव आयुकर्म के अनुसार ही अमुककाल तक जीवित रहता है। लोढ़ा सा ने आयुष्य को जीवनीशक्ति कहा है तथा आयुष्यबलप्राण उस जीवनीशक्ति का सूचक होता है। आयुकर्म चार प्रकार का है-नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु। नरकायु के पाप प्रकृति में तथा शेष तीन को पुण्य प्रकृति में सम्मिलित किया जाता है।

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ के अनुसार नरकायु का बंध महारम्भ, महापरिग्रह, मांसाहार एवं पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से होता है। महारम्भ, महापरिग्रह तृष्णा या लोभ के द्योतक हैं, अतः नरकायु के बंध का मुख्य हेतु लोभ कषाय है। तिर्यंचायु में माया कषाय की प्रधानता होती है। मनुष्यायु बंध के हेतु हैं-प्रकृति से भद्रता, विनीतता, मृदुता, ऋजुता, दयालुता, अमत्सरभाव और आरम्भ-पतिग्रह की अल्पता। देवायु के बंध के कारण हैं- सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप और अकाम निर्जरा।

आयुबन्ध प्रायः वर्तमान जीवन को दो तिहाई भाग व्यतीत होने के पश्चात् होता है। इसका तात्पर्य है कि प्राणी की जैसी प्रवृत्ति प्रगाढ़ हो जाती है तथा वह प्रकृति या आदत का रूप धारण कर लेती है तो उसके अनुरूप ही वह आगे का भाव धारण करता है। आयुष्य कर्म जीवन में एक बार ही बंधता है, जबकि गति का बंध निरन्तर होता रहता है।

नामकर्म शरीर एवं उससे सम्बद्ध नाना रूपों का सूचक तो है ही, साथ ही तीर्थंकर एवं यशः कीर्ति सदृश कर्मप्रकृतियों का भी प्रतिनिधित्व करता है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन, वचन तथा इनकी सक्रियता से सम्बन्धित है। इसमें गति, जाति शरीर, अंगोपांग, बंधन, संहनन, संस्थान आदि शरीर से सम्बद्ध प्रकृतियाँ

भी परिगणित है तो आतप, उद्योत उपघात, पराघात, आदेय, अनादेय, यश: कीर्ति, अयश:कीर्ति तीर्थंकर नामकर्म जैसी विशिष्ट प्रकृतियाँ भी सम्मिलित हैं।

नामकर्म अघाती कर्म है। इसकी ३६ पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का सम्बन्ध शरीर विज्ञान से है, यथा- ५ शरीर, ३ अंगोपांग, ६ संहनन, ६ संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आतप, उद्योत, उपघात, पराघात, अगुरुलघु, निर्माण, शुभ-अशुभ, स्थिर-अस्थिर, प्रत्येक और साधारण।

मन, वचन, और तन की दुष्प्रवृत्तियों से अशुभ नामकर्म का तथा इनकी सद्प्रवृत्तियों से शुभ नामकर्म का बंध होता है।

पुस्तक में नामकर्म की अनेक प्रकृतियों के लक्षणें का लेखक ने मौलिक रीति से प्रतिपादन एवं विवेचन किया है। तदनुसार क्रूरता एवं विषय-कषाय की अतिगृद्धता नारकीय गति की द्योतक एवं जनक है। प्राप्त विषय-भोग में गृद्धता एवं मूर्च्छा होने तथा उसी को जीवन मानने पर जड़ता जैसी स्थिति को तिर्यंच गति कहते हैं। विषयभोग के दु:खद परिणाम को जानकर उससे छूटने एवं उस पर विजय प्राप्त करने का प्राप्त करने के साथ उदारता, करुणा, आत्मीयता आदि का व्यवहार मनुष्य गति का सूचक है। दिव्य सात्त्विक प्रकृति के सुखभोग में डूबे रहना, अपने विकास के लिए उद्यत न होना देवगति का सूचक है। प्रकारान्त से कहें तो अप्राप्त अनेक वस्तओं की कामना करने वाला घोर अभावग्रस्त जीव नरकगामी, प्राप्त वस्तुओं की कामना करने वाला घोर अभावग्रस्त जीव नरकगामी, प्राप्त वस्तुओं के भोगों की दासता में आबद्ध रहने वाला तिर्यंचगामी, प्राप्त वस्तुओं का परोपकार या सेवा में सदुपयोग करने वाला देवगामी एवं प्राप्त विषय-भोगों का त्याग करने वाला जीव मुक्तिगामी होता है।

जन्म से इन्द्रियों की प्राप्ति के आधार पर जाति के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पाँच भेद किए जाते हैं। एकेन्द्रिय जीव में मात्र स्पर्शनेन्द्रिय पायी जाती है। जब उसकी चेतना का विकास होता है तो वह द्वीन्द्रिय एवं फिर क्रमश: चेतना का विकास होने पर त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय बनता है। स्पर्शन का ही विकास रसना, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र में होता है।

ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जीव में ज्ञान एवं दर्शन की शक्ति बढ़ती है। इससे वह स्थूलतर, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पदार्थों के

संवेदन रूप से ग्रहण करने एवं उन्हें जानने की क्षमता प्राप्त करता है। उस क्षमता की अभिव्यक्ति पाँच इन्द्रियों के क्रमिक विकास से प्रकट होती है।

नामकर्म की ९३ प्रकृतियों में कुछ के लक्षण लोढ़ा सा ने एकदम नये दिए हैं, उनका उल्लेख यहाँ अभिप्रेत हैं-

अगुरुलघु-शरीर में संतुलन रखने वाली थायराइड, एड्रीनल आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को अगुरुलघु नामकर्म कह सकते हैं। निर्माण-शरीर में जब कही हड्डी टूट जाती है तो उसे पुनः जोड़ने, निर्माण करने का कार्य निर्माण प्रकृति करती है।

उपघात-अपने ही अंग द्वारा अपने शरीर को हानि पहुँचाना। आहार करने से शरीर बनने पर उसमें विजातीय पदार्थ उत्पन्न होना उपघात नामकर्म है। पराघात-शरीर की प्रतिरक्षात्मक शक्ति पराघात नाम कर्म है।

अशुभता आपेक्षिक होती है। एकान्तरूप से किसी वर्ण को शुभ एवं अशुभ नहीं कहा जा सकता है। जो वर्ण किसी के लिए किसी समय शुभ होता है वही दूसरे के लिए अथवा अन्य समय में उसी के लिए अशुभ माना जाता है।

गोत्र कर्म का सम्बन्ध जन्म से प्राप्त गोत्र से नहीं और न ही उच्च एवं नीच कुल में जन्म लेने से है। वस्तुतः सदाचरण ही उच्च गोत्र का एवं दुराचरण ही नीच गोत्र का द्योतक है। सामान्यतया उत्तमकुल में जन्म लेना उच्च गोत्र एवं लोकनिंद्य कुल में जन्म लेना नीच गोच माना जाता है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र में विद्यमान हरिकेशी मुनि का प्रकरण इस तथ्य को स्पष्ट प्रतिपादित करता है कि लोकनिंद्य या नीच कुल में जन्म लेने से कोई नीचगोत्री नहीं होता, अपितु अपने निंद्य आचरण से वह नीच गोत्री होता है तथा साधु बन जाने पर वही उच्चगोत्री हो जाता है। लोढ़ा साहब के अनुसार व्यक्तित्व के मोह या अहंभाव रूप मद से ग्रस्त व्यक्ति हीनता-दीनता-दासता एवं परतन्त्रता में आबद्ध रहता है। दासता या परतन्त्रता में आबद्ध रहना ही नीचगोत्र का उदय है तथा उस दासता पर विजय प्राप्त करना एवं इससे स्वतंत्र होना ही उच्चगोत्र का प्रतीक है।

लोढ़ा साहब लिखते हैं-भूमि, भवन आदि जड़, विनाशी एवं पर वस्तुओं के आधार पर अपना मुल्यांकन करना दीनता का सूचक है। नीच गोत्र का द्योतक है तथा भोग से ऊपर उठना अर्थात् साधुत्व का होना उच्चगोत्र है।

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरों के सद्गुणों का आच्छादन, असद्गणों को प्रकाशन- ये नीच गोत्र के बंध हेतु हैं। इसके विपरीत पर प्रशंसा, आत्मनिन्दा, दूसरों के सद्गुणों को प्रकाशन एवं निरभिमानता उच्चगोत्र के बंध हेतु है।

गोत्र कर्म के साथ मद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो रूप, धन, बल, तप, श्रुत आदि का मद करता है वह नीच गोत्र का उपार्जन करता है तथा जो इनका मद नहीं करता है वह उच्चगोत्र का उपार्जन करता है। गोत्र कम का जब पूर्णक्षय हो जाता है तो अगुरुलघु गुण प्रकट होता है। गोत्रकर्म पुद्गलविपाकी, भवविपाक एवं क्षेत्रविपाकी नहीं हैं, अपितु जीवविपाकी है, जीव विपाकी होने से इसका सम्बन्ध जीव को भावों से है, शरीर की सुन्दरता-असुन्दरता से नहीं, जन्म किस घर हुआ इससे भी नहीं तथा किस आर्य-अनार्य क्षेत्र में हुआ, इससे भी नहीं।

अन्तरायकर्म के सम्बन्ध में लोढ़ा साहब से सर्वथा नतून चिन्तन दिया। है, जो इस कर्म से सम्बद्ध अनेक विसंगतियों का निराकरण करता है। अन्तराय का अर्थ है विघ्न। अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं-दानान्तराय, लाभन्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। सामान्यतः यह माना जाता है कि दान देने में विघ्न दानान्तराय, आहारादि का लाभ मिलने में विघ्न लाभान्तराय, भोग में बाधा भोगान्तराय, उपभोग में बाधा उपभोगान्तराय तथा पुरुषार्थ करने में विघ्न वीर्यान्तराय कर्म है। ये अर्थ अनेक विसंगतियों से युक्त हैं, क्योंकि जो इन कर्मों से रहित अरिहन्त होते हैं उनके कौनसा दान, लाभ, भोग एवं उपभोग होता है जो दानान्तराय आदि के क्षय से प्राप्त होता है। वहाँ तो अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग एवं अनन्तवीर्य होते हैं जो उपर्युक्त अर्थों को मानने पर घटित नहीं हो पाते हैं। अरिहन्त अनन्तदान किस प्रकार करते है? उन्हें अनन्त लाभ किस प्रकार होतो है? इसी प्रकार अनन्त भोग एवं उपभोग उनमें किस रूप में घटित होतो हैं? अनन्तवीर्य तो उनमें पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के कारण स्वीकार किया जा सकता है।

प्रबुद्ध लेखक श्री लोढ़ा साहब के दान का अर्थ उदारता स्वीकार किया है, अतः वे उदारता के अभाव और स्वार्थपरता को दानान्तराय मानते हैं। दानान्तराय के होने पर दान देने की भावना नहीं जगती। उदारता की उदात्त भावना का होना दानान्तराय का क्षयोपशम है तथा उदारता का परिपूर्ण हो जाना दानान्तराय का

क्षय है। अनन्तदानी पुरुष शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, योग्यता आदि अपना सर्वस्व जगत् के हित के लिए समर्पित कर देता है, अपने सुखभोग के लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखता है। वीतराग की अनन्त करुणा, अनन्त मैत्रीभाव एवं अनन्त वत्सलता अनन्तदान के ही विभिन्न रूप है।

कामना-अपूर्ति की अवस्था में अभाव का अनुभव होना ही लाभान्तराय है। कामना के न रहने पर कुछ भी अभाव एवं प्राप्त करना शेष नहीं रहता है। अभाव एवं प्राप्त करना शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि एवं सम्पन्नता है। जहाँ वीतरागता है वहाँ कामनाओं का अभाव है, अतः वहाँ अनन्त लाभ है। लाभ इसलिए है कि वहाँ कुछ भी प्राप्त करना एवं अभाव शेष नहीं रहता है।

भोगान्तराय में भोग शब्द का अर्थ ब्राह्य विषयभोग न होकर अनन्त सौन्द्रर्य है। निज स्वभाव के सूख की बाधक इच्छा ही भोगान्तराय है। भोगान्तराय के पूर्ण क्षय से अनन्त भोग अथवा अनन्त सौन्दर्य की उपलब्धि है। यह विषयसुख के भोग के त्याग से ही प्राप्य है। वीतराग का जीवन निर्विकार होता है, निर्विकारता में ही अनन्त सौन्दर्य है, अनन्त भोग है।

आत्मिक भोग-जन्य सुख का बार-बार या निरन्तर मिलते रहना उपभोग है, माधुर्य है। इसमें बाधा उत्पन्न होना उपभोगान्तराय है। सबके प्रति मैत्री एवं प्रेम का रस नित नूतन बना रहता है। यह क्षति, निवृति, अपूर्ति, तृप्ति एवं अतृप्ति से रहित विलक्षण रस या सुख है। यही अनन्त उपभोग है।

वीर्य शब्द सामर्थ्य का द्योतक है। वीतराग केवली अनन्त सामर्थ्यवान् हैं, यद्यपि वे अपने से भिन्न शरीर, संसार आदि को बानने या बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं, किसी का मरण टालने, आयु बढ़ाने, किसी के कर्म काटने में भी वे समर्थ नहीं हैं, किन्तु अपने लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ है इसके लिए उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है, अतः उनके लेशमात्र भी अन्तराय कर्म का उदय नहीं रहता है। दोषों का त्यागने का सामर्थ्य ही वीर्य है। वीतराग ऐसे अनन्तवीर्य से युक्त होते हैं।

घर-सम्पत्ति आदि की प्राप्ति को लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना तथा विषय-भोगों की सामग्री को भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म के क्षयोयशम से मानना कर्म-सिद्धान्त एवं आगम से सम्मत नहीं है। यदि लाभान्तराय, भोगान्तराय आदि के क्षयोपशम एवं क्षय से घर-सम्पत्ति एवं भोग्य

वस्तुओं की प्राप्ति हो तो यथाख्यान चारित्रवान् साधक के इनकी विषय-भोग दोष है, फिर उसकी पूर्ति में सहायक सामग्री की उपलब्धि को अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से मानना भूल है।

दानान्तराय आदि पाँच अन्तरायों में जितने अंशों में कमी होती जाती है उतने ही अंशों में उदारता, निर्लोभता, ऋजुता, निर्विकारता, निर्दोषता, माधुर्य एवं सामर्थ्य की प्रप्ति होती जाती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय- इन चारों घाती कर्मों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से किसी भी एक कर्म का क्षयोपशम, उदय और बंध होते ही शेष तीनों घाती कर्मों का क्षयोपशम, बंध और उदय प्रायः स्वतः होता है। इन चोरों कर्मों में प्रमुख मोहनीय कर्म है। उसके कारण ही अन्त तीन कर्मों को क्षयोपशम होता है तथा मोह का क्षय होने पर शेष तीन घाती कर्मों का भी क्षय हो जाता है। जितनी राग-द्वेष-मोह में कमी होती है उतने ही विकल्प घटते हैं। विकल्पों के घटने से निर्विकल्पता आती है, जो दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। विकल्पों के घटने से चित्त शान्त होता है, शान्त चित्त में विचार का उदय होता है, ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है आर्थात् ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। मोह-राग-द्वेष के घटने से वस्तुओं को पाने की कामना तथा भोग करने की इच्छा कम होती है। इच्छाएं जितनी कम होती हैं, उतना ही अभाव का अनुभव कम होता है। अभाव का कम अनुभव होना अन्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

बंधतत्त्व के विवेचन के निमित्त से जैन कर्म सिद्धान्त की अनेक मान्यताओं का इस पुस्तक मे पुनरीक्षण हो गया है। कर्म-सिद्धान्त विषयक कई भ्रान्तियाँ निराकृत हुई हैं तथा कर्म-प्रकृतियों के नूतन अर्थ प्रस्फुटित हुए हैं। इन अर्थों में श्रद्धेय लोढ़ा साहब की साधना एवं विचारशीलता की स्पष्ट छाप दृग्गोचर होती है। आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे तथा विद्वज्जगत् में भी यह पुस्तक अनेक नवीन स्थापनाओं को जन्म देने में सक्षम बनेगी एवं विद्वान् प्रचलित असंगत अर्थों का निराकरण अनुभव कर विचार के क्षेत्र में एक कदम आगे रख सकेंगे।

यह पुस्तक जैन दर्शन के कर्म-सिद्धान्त विषयक विवेचन के क्षेत्र में एक नवीन चरण-निक्षेप है जिसका आश है विद्वज्जन स्वागत करेंगे।

❑❑❑

मोक्ष तत्त्व

मोक्ष का स्वरूप एवं महत्त्व

जैन धर्म में मानव-भव की सार्थकता व सफलता 'मोक्ष प्राप्त करना' कहा है। मोक्ष का अर्थ है दुःखों व दोषों से सर्वथा मुक्त होना। मोक्ष का मार्ग बताया है सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को यथा- **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।** सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान-चारित्र नहीं होते हैं। सम्यक् दर्शन का आधार भेद-विज्ञान है, भेद-विज्ञान का अर्थ है अपने आत्म-स्वरूप को शरीर-संसार आदि से भिन्न समझना और देह से आत्म-स्वरूप के भिन्नत्व का अनुभव करना। देह से आत्म-स्वरूप के भिन्नत्व का अनुभव होना ही कायोत्सर्ग है। इसीलिए जैनधर्म की साधना-पद्धति में कायोत्सर्ग को साधना का चरमोत्कर्ष कहा है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र नहीं माना है। जिस ज्ञान व चारित्र का लक्ष्य भेद-विज्ञान अर्थात् देह और आत्मा को भिन्न अनुभव करना है वह ज्ञान व चारित्र साधना के अन्तर्गत आता है।

मानव मात्र का लक्ष्य शान्ति, मुक्ति (स्वाधीनता), प्रीति (प्रसन्नता), अमरत्व एवं दुःखरहित स्थायी-शाश्वत सुख प्राप्त करना है। इस लक्ष्य की पूर्त्ति किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से सम्भव नहीं है। कारण कि इनके साथ अशान्ति, पराधीनता-पराश्रय, नीरसता, विनाश, वियोग आदि के दुःख लगे ही रहते हैं, जो किसी भी मानव को स्वभाव से ही इष्ट नहीं है। लक्ष्य उसे कहते हैं जिसकी पूर्त्ति सम्भव हो। लक्ष्य की पूर्त्ति में ही मानव-जीवन की सार्थकता एवं सफलता है। इसलिए लक्ष्य की पूर्त्ति अनिवार्य है।

मानव जीवन का लक्ष्य स्थायी, शाश्वत सुख प्राप्त करना है। शरीर, इन्द्रिय, मन व संसार की समस्त वस्तुएँ नाशवान हैं। अतः जो स्वयं ही नाशवान हैं, उनसे स्थायी-अविनाशी शाश्वत सुख की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। अतः इनसे शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। यह ही नहीं, इन भोगों के सुख में पराधीनता, शक्ति-हीनता, जड़ता, असमर्थता, अभाव, नीरसता, वियोग आदि अगणित दुःख लगे हुए हैं जो किसी भी मानव को इष्ट नहीं हैं। अतः इनसे सुखप्राप्ति का त्याग करने में किसी भी प्रकार का अहित नहीं है, प्रत्युत हित ही है। अतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से मिलने वाले सुख का त्याग करना मानव का परम पुरुषार्थ है। इन सुखों का त्याग करते ही पराधीनता, शक्तिहीनता, वियोग आदि के दुःखों का भी स्वतः अंत हो जाता है जो मानव-मात्र को इष्ट है। अतः इनके सुखों के त्याग में ही हित है।

इन्द्रिय, शरीर, मन आदि के विषय-सुखों को त्यागते ही सभी दुःखों का अंत हो जाता है। सुख-दुःख से अतीत होते ही उस अलौकिक सुख जिसे आनन्द कहते हैं, उसका अनुभव होता है। यह सुख या आनन्द पराश्रित एवं नश्वर पदार्थों पर आधारित नहीं होने से तथा स्वतः प्राप्त होने से स्वाधीन, अविनाशी व अनन्त होता है। इस प्रकार इन्द्रिय-विषय-सुख के त्यागने मात्र से ही मानव की माँग की पूर्त्ति हो जाती है।

विषय-सुख को भोगने में प्रवृत्ति, श्रम, पराश्रय, परिस्थिति, देश, काल आदि अपेक्षित हैं। अतः इनकी पूर्त्ति हो ही, यह आवश्यक नहीं है, परन्तु विषय-सुखों के त्याग में श्रम व पराश्रय की, किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश, काल आदि की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है इनसे असंग होने की, इनके सुख के प्रलोभन के त्याग की। इनसे असंग होना तप है और तप का परिणाम मुक्ति है।

प्राणी के जन्म का मुख्य कारण भोग है। भोग है अपने से भिन्न से जुड़कर सुख लेना। प्रत्येक प्राणी जन्म लेते ही शरीर व इन्द्रिय के विषयों का भोग प्रारम्भ करता है। फिर जैसे-जैसे इन्द्रियों की क्षमता व प्राणशक्ति में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे विषय-भोगों के सुखों में आसक्त होता जाता है। वह विषय-सुख एवं उनके साधन शरीर-इन्द्रिय आदि के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानता है। वह मानता है कि देह ही जीवन है। वह देह और इन्द्रियों से मिलने वाले भोगों के सुख को स्थायी, सुन्दर व सुखद मानता है और इनकी प्राप्ति के लिए तथा प्राप्त सामग्री

को सुरक्षित रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। यह स्थिति एक कोशीय प्राणी से लेकर अर्थात् एकेन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय एवं समनस्क सभी जीवों की है। उनके जीवन का उद्देश्य विषय-सुखों का भोग ही है। भोग के साधन हैं- कान, नयन, घ्राण, रसना, स्पर्शन, मन, वचन, काया की शक्ति तथा आयुष्य व श्वासोच्छ्वास। इनके बल या शक्ति को 'प्राण' कहा है। इनमें बल नहीं रहने पर ये निष्प्राण-मृत हो जाते हैं।

जो भोगमय जीवन बिताते हैं उनको 'भोगी' कहा गया है। भोगी इन्द्रियों के अनुकूल-मनोज्ञ विषयों से प्राप्त सुख व उसके प्रति राग; तथा प्रतिकूल अमनोज्ञ विषयों के प्रभाव से होने वाले दुःख अर्थात् उसके प्रति द्वेष से आक्रान्त रहता है। राग-द्वेष में आबद्ध प्राणी सुख-दुःख का भोग करता ही रहता है। सुख-दुःख के भोग से उत्पन्न राग-द्वेष से नवीन संस्कारों का निर्माण-सर्जन होता रहता है। इसे ही नवीन कर्मों का बंध होना कहा है। इस प्रकार साधारण प्राणी कर्मों के एवं संसार के प्रवाह में बहता रहता है, भ्रमण करता रहता है।

जो मानव भोगी प्राणी के समान भौतिक-पौद्गलिक, ऐन्द्रियक सुखों में आबद्ध रहता है वह पशु तुल्य है। मानव वह है जो इन्द्रिय-सुखों की यथार्थता-अस्थायित्व-क्षणभंगुरता, अशुचित्व (सड़न-विध्वंसन-असुन्दर) तथा वियोग के दुःख का अनुभव कर इन्हें त्यागने का पुरुषार्थ करता है। विषय-सुखों के प्रति राग-द्वेष के अर्थात् कषायों के त्याग का पुरुषार्थ करने वाला ही पुरुष है, मानव है।

इन्द्रिय-विषयसुख के राग को त्यागने पर शरीर एवं शरीर से सम्बन्धित संगठन, उपकरण एवं भोग्य सामग्री की दासता मिट जाती है। इन्द्रिय सुखों-विषयों की दासता मिटते ही संसार की दासता मिट जाती हैं, जिससे अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है। इन्द्रियों की दासता मिटने पर कषाय व करने का राग (कर्तृत्व भाव) मिट जाता है और करने का राग मिटने पर कर्म से असंगता हो जाती है अर्थात् कर्म का व्युत्सर्ग हो जाता है। व्युत्सर्ग होना दासता, पराधीनता बंधन का मिट जाना है जिससे ईश्वरत्व का, स्वाधीनता का तथा मुक्ति का अनुभव होता है। यह अनुभव स्वाभाविक होने से इसका अंत या नाश कभी नहीं होता है, ये सदा के लिए हो जाते हैं। इस अनुभव को ही सब धर्मों में निर्वाण, सिद्ध व मुक्त होना कहा है।

मानव-जीवन मुक्त होने के लिए ही मिला है। पशुवत् प्राणी के समान भोग भोगने के लिए मानव-जीवन नहीं मिला है। मानवमात्र को यह विदित है कि जिस

विषय-भोग के सुख को वह स्थायी, सुन्दर व सुखद समझता था वह सुख नष्ट हो गया, अशुचि में, सड़न-गलन में, विध्वंसन में बदल गया, एवं उसके संयोग का सुख वियोग के दु:ख में बदल गया। प्रत्येक विषय-सुख की यही यथार्थता है। इसका यथार्थ ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। मानव अपने इस यथार्थ ज्ञान का, श्रुतज्ञान का आदर कर विषय-सुखों को त्यागने का पुरुषार्थ कर मुक्त हो सकता है।

नवीन विषय-सुखों के त्यागने का पुरुषार्थ करना संवर-संयम की साधना है और प्राप्त विषय-सुखों की दासता से मुक्त होने के लिए उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करना, असंग (नि:संग) होना ही तप साधना है। नवीन-विषय-सुखों के त्याग (संवर) से नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है और तप से विद्यमान सत्ता में स्थित कर्मों का बंधन टूटकर उनकी निर्जरा हो जाती है। कर्मों के बंधनों का सर्वांश में नाश हो जाना ही मुक्त होना है। तप का लक्ष्य है शरीर, संसार, कषाय, कर्म का व्युत्सर्ग करना। संयम या संवर का पालन तप की भूमिका है। संवरशील-संयम की भूमिका में ही तप रूप वृक्ष उत्पन्न होता व पनपता है, जिसकी पूर्णता ध्यान है। ध्यान से शरीर, संसार, कषाय व कर्म से अतीत होने का सामर्थ्य आता है। इनसे अतीत होना ही मुक्त होना है।

तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की सार्थकता व सफलता मुक्त होने में ही है। मानव जन्म पाकर भी मुक्त नहीं होना अपना घोर अहित करना है, मानव जीवन व्यर्थ खोना है। मुक्त होने में मानव मात्र समर्थ एवं स्वाधीन है, वह जिस क्षण चाहे, जब चाहे, जहाँ चाहे उसी क्षण वहीं मुक्त हो सकता है। कारण कि मुक्त होने के लिए विषय-सुखों की नश्वरता, पराधीनता, दासता, वियोग, अशुचित्व, असारता का निजज्ञान-श्रुतज्ञान मानव मात्र को स्वत: प्राप्त है। गुरु और ग्रन्थ के ज्ञान की सार्थकता निजज्ञान-श्रुतज्ञान के आदर में ही निहित है। अनित्य, अशरण, संसार आदि किसी एक भावना के चिन्तन से विषय-सुखों की व्यर्थता को जानकर इनके प्रति विरक्त होकर, अनन्त जीव मुक्त हुए हैं।

मुक्ति-अमरत्व-निर्वाण

साधना का लक्ष्य या फल मुक्ति, अमरत्व व निर्वाणरूप साध्य को प्राप्त करना है, जिसका उपाय है वीतरागता अर्थात् राग का त्याग। विनाशी के राग के त्याग से अमरत्व, 'पर' के राग के त्याग से मुक्ति, संस्कार (कर्म) के राग के त्याग से निर्वाण की अनुभूति या उपलब्धि होती है। जैसा कि मुक्त (सिद्ध) जीवों का वर्णन करते हुए जैनदर्शन में कहा है -

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो॥
इय सव्वकामतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥
सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य॥
णिच्छिणसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंति सासयं सिद्धा॥

– औपपातिक सूत्र – गाथा सं. 18, 19, 20, 21

अर्थात् जिस प्रकार सर्व प्रकार से अभीप्सित गुण वाले भोजन को करके मनुष्य भूख एवं प्यास से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार सिद्ध अमृत से तृप्त होकर विराजते हैं। वे अतुल निर्वाण को प्राप्त कर सब कालों में तृप्त रहते हैं तथा शाश्वत एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त कर सुखी रहते हैं। वे सिद्ध, बुद्ध, पारंगत और परम्परागत (परम्परा से पार गये हुए) कहलाते हैं। कर्मदल से उन्मुक्त होकर वे अजर, अमर एवं असंग हो जाते हैं, सब दु:खों से रहित होकर वे जन्म, जरा, मरण एवं बन्धन से मुक्त हो जाते हैं तथा वे सिद्ध अव्याबाध एवं शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

साधना में महत्त्व है वीतरागता का। जो भी वीतराग पथ है, जिससे राग गलता है, घटता है, दूर होता है तथा वीतरागता की ओर प्रगति होती है, वही साधना है, वही मोक्षमार्ग है। वीतराग मार्ग नैसर्गिक नियमों पर आधारित है, अत: यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सत्य है, यह किसी सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, वाद व परम्परा से बंधा नहीं है। जो भी इसे अपनाता है उसका कल्याण होता है, उसे तत्काल शांति, मुक्ति, प्रसन्नता की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जो साधना वीतरागता के विरुद्ध हो, वीतरागता की ओर न बढ़ाती हो, राग-निवृत्ति में सहायक न हो, राग-उत्पादक व रागवर्द्धक हो, वह साधना नहीं है, विराधना है। वह त्याज्य है।

साधना में मूल्य वीतरागता का है, किसी साधना-विशेष का नहीं। जिससे राग, द्वेष, मोह मिटे, वीतरागता का पोषण हो वही साधना है। वही स्वीकार्य है। अत: साधना-पथ में जो बात जिस किसी को जहाँ कहीं भी वीतरागता को पुष्ट

करने वाले तथ्य के रूप में ज्ञात हो उसे ग्रहण करना चाहिए और जो वीतरागता के विपरीत लगे उसे असाधन समझकर छोड़ देना चाहिये। साधना में भी अनेक मतभेद, विचारभेद, अर्थभेद, समझभेद हो सकते हैं। उन्हें एक ओर रखते हुए साधक को केवल वीतरागता का समर्थन करने वाले सूत्रों को ही अंगीकार करना चाहिये; इसी में कल्याण है, निर्वाण है, विमुक्ति है।

वैज्ञानिक विकास के साथ भोगों की विपुल सामग्री उपलब्ध होती जा रही है। भोगेच्छा की वृद्धि के साथ लाभ, लोभ, संग्रह, मान, मद, स्वार्थपरता, संकीर्णता, हृदयहीनता, कठोरता, अकर्मण्यता, अकर्त्तव्य आदि दोषों की भयंकर रूप में वृद्धि होती है। जिसके परिणामस्वरूप अभाव, तनाव, दबाव, द्वन्द्व, दीनभाव, हीनभाव, नीरसता, निर्बलता, असमर्थता, प्राणशक्ति का ह्रास, संघर्ष, शारीरिक और मानसिक रोग आदि दुःखों की भयावह अभिवृद्धि हो रही है जो मानवजाति के अस्तित्व को खतरे में डाल सकती हैं। अतः मानवजाति को बचाने के लिये ऐसे मार्ग की आवश्यकता है जो निज अनुभव व ज्ञान पर तथा निसर्ग व कारण-कार्य के नियमों पर आधारित हो, ऐसा मार्ग मोक्ष-मार्ग है।

समस्त दुःखों से सदा के लिए सर्वथा मुक्त होना, अविनाशी-परमानन्द का अनुभव करना है। यह तभी सम्भव है जब दुःखों के कारण रूप 'दोषों-पापों' का त्याग कर पूर्ण निर्दोष हो, कर्मों का क्षय किया जाय। इसके लिए शुभयोग, संवर एवं निर्जरा की साधना आवश्यक है। जिससे आत्मा निर्दोष हो, पवित्र हो, वह पुण्य है। नवीन कर्मों के आस्रव व बंध का निरोध करना अर्थात् नवीन कर्म-बंध को रोकना संवर है और पूर्व उपार्जित पाप कर्मों का क्षय करना निर्जरा है। निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना मोक्ष है।

प्राणिमात्र की माँग दुःख-मुक्ति और सुखप्राप्ति की है, परन्तु दुःख न चाहने पर भी आ जाता है और सुख को सुरक्षित रखना चाहने पर भी चला जाता है। दुःख के आने व सुख के जाने पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। जिस पर किसी का नियन्त्रण नहीं है, जो प्रकृति से स्वतः आ जा रहा है वह किसी के लिए हानिकारक नहीं हो सकता। प्रकृति का यह कार्य मानव की भूल मिटाने के लिए है। वह भूल है अपने स्वभाव के, माँग के या साध्य के विपरीत कार्य करना। सभी मानवों को स्वभाव से ही शान्ति, मुक्ति (स्वाधीनता) प्रीति, पूर्णता, अमरत्व, निर्भयता, निश्चिंतता इष्ट है। किसी को भी अशान्ति, पराधीनता (बंधन), द्वेष, अभाव, विनाश, भय,

चिन्ता, द्वन्द्व, इष्ट नहीं है। यह ज्ञान सभी को स्वभाव से है। यह ज्ञान स्वाभाविक होने से स्वभाव है, स्वभाव होने से इसकी पूर्ति होना अर्थात् अनुभव होना ही साध्य की उपलब्धि एवं सिद्धि प्राप्त करना है। यही सिद्धि सिद्धों का स्वरूप व गुण है। यह श्रुत ज्ञान है। किसी की देन नहीं होने से अपौरुषेय, अद्वितीय, अनुपम है। इस प्रकार स्वभाव, स्वभाव का ज्ञान, श्रुतज्ञान, साध्य, सिद्धि व सिद्धों का स्वरूप, इनमें जातीय एकता है। एक ही वस्तु के विभिन्न रूप या आयाम है। इस ज्ञान में किसी भी जीव को विकल्प व तर्क नहीं होने से यह ज्ञान सर्वमान्य है, सार्वजनीन है, सर्वकाल में विद्यमान होने से सनातन है, शाश्वत है, सत्य है। इसका अनुभव करना ही सत्य का, अविनाशी तत्त्व का, मुक्ति का अनुभव करना है।

मुक्ति : देहातीत होना

मुक्ति प्राप्ति है देह में रहते हुए देह से सम्बन्ध-विच्छेद होना। देहाभिमान रहित होते ही स्वतः निर्वासना आ जाती है। वासना रहित होते ही मन में निर्विकल्पता, बुद्धि में समता, हृदय में निर्भयता और चित्त में प्रसन्नता स्वतः आजाती है। मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता सब प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त करने में समर्थ है। द्वन्द्वों का अन्त होते ही निस्संदेहता तथा प्रेम की प्राप्ति होती है। निस्संदेहता से तत्त्वबोध और प्रेम से नित नूतन-अनन्त सुख की उपलब्धि होती है।

अपने को देह मान लेने से देह से तादात्म्य हो जाता है, देहाभिमान हो जाता है। देहाभिमान होने पर वस्तु, व्यक्ति, अवस्था से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और प्राणी इनकी दासता में आबद्ध हो जाता है। वस्तुओं की दासता लोभ, व्यक्तियों की दासता मोह, अवस्था की दासता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़ता में आबद्ध प्राणी परिस्थितियों का दास हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपने को देह मान लेने अथवा देह को अपना मान लेने से परिस्थितियों की दासता उत्पन्न होती है जो देहभाव को, देह से तद्रूपता को पुष्ट करती है।

यदि देह की नश्वरता, अशुचित्व आदि की वास्तविकता को जानकर देहभाव का त्याग कर दिया जाय तो हमारा माना हुआ 'मैं' तथा 'मेरापन' मिट जाता है। जिसके मिटते ही अपने से भिन्न पदार्थों से माने हुए मैं, मेरेपन तथा तादात्म्य रूप सम्बन्धों का सदा के लिए विच्छेद हो जाता है, तदनन्तर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है। फिर विषय-वासना, कषाय व मोह का सदा के लिए अन्त (क्षय) हो जाता है और साधक अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सारांश यह है कि 'मैं' देह (काया) हूँ, देह (काया) में 'मैं'-पन होना, देह में अहंत्व होना, देहाभिमान है। देहाभिमान ही समस्त दोषों की जड़ है। दोषों से ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। कोई दुःख ऐसा नहीं है जिसका कारण कोई दोष नहीं हो और दोष का कारण देह से सम्बन्धित इन्द्रिय, मन, बुद्धि के विषयों की सुखासक्ति एवं देहाभिमान है। देहाभिमान से देह के अंग इन्द्रिय, मन और बुद्धि में जीवन-बुद्धि हो जाती है, जो इनके विषयों के भोगजन्य सुख की आसक्ति में आबद्ध करती है। सुखासक्ति देहाभिमान को पुष्ट करती है। देह का सम्बन्ध शरीर के अंग, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वस्तु आदि नश्वर, परिवर्तनशील व जड़ पदार्थों से होने से, देहाभिमान अमरत्व से मृत्यु की ओर, चेतनता से जड़ता की ओर ले जाता है। अतः हमें अमरत्व को, पूर्ण चैतन्य को, तत्त्वबोध को प्राप्त करने की ओर गति करना है तो विवेकपूर्वक देहाभिमान का अन्त करना होगा। देहाभिमान का अन्त करने के लिए इन्द्रियों के विषयों के द्वारा जो सुख मिलता है, चित्त के चिन्तन द्वारा जो सुख मिलता है, स्थिरता अथवा जड़ता द्वारा बुद्धि के अभिमान द्वारा जो सुख मिलता है, इनका व अन्य समस्त सुखों की आसक्ति का त्याग करना होगा। ये सब प्रकार के सुख देहाभिमान के आधार पर ही भोगे जाते हैं, अतः जब तक जीवन में सुख-लोलुपता रहेगी, तब तक देहाभिमान का, काया में जीवन-बुद्धि का अन्त नहीं हो सकेगा। सुख-लोलुपता ने ही हमें देहाभिमान में आबद्ध किया है।

सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए ही आत्म-निरीक्षण अंतर्यात्रा की साधना की जाती है। साधना से जैसे-जैसे सुख-लोलुपता रूप तृष्णा मिटती जाती है, वैसे-वैसे देहाभिमान स्वतः गलता जाता है। देहाभिमान जितना गलता व घटता जाता है उतना ही भोग-प्रवृत्ति, सुख-सामग्री की संग्रह वृत्ति, कर्म-बन्धन, कषाय व संसार का सम्बन्ध टूटता जाता है। सर्वांश में देहाभिमान का निरोध हो जाने पर कर्म, कषाय, संसार, विषयासक्ति का, तृष्णा का निषेध हो जाता है। जिसके होते ही देहातीत, इन्द्रियातीत, लोकातीत अलौकिक जीवन की अनुभूति हो जाती है। यह ही निर्वाण है। इसी में जीवन की सार्थकता व सफलता है।

प्राणी का सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध शरीर से होता है। उसके सारे क्रिया-कलाप, भोग-परिभोग शरीर के आश्रय से ही होते हैं। उसे शरीर का अस्तित्व अपना अस्तित्व प्रतीत होता है। देह के प्रति आत्म-बुद्धि (अपनापन) इतना दृढ़ हो जाता है कि 'मैं देह हूँ' उसे ऐसा आभास होता है। देह में ऐसा अहंत्व व देहाभिमान

होने से ही कामनाओं-ममताओं आदि समस्त विषय-कषाय रूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। देहाभिमान का नाश करना अहंशून्य होना है।

देह में अहंत्व ('मैं' पन) व अपनत्व (ममत्व) होने से देहाभिमान उत्पन्न होता है। देहाभिमान से शरीर और संसार से सुख लेने की लालसा उत्पन्न होती है, जो शरीर और संसार की दासता में आबद्ध कर देती है। विवेक के प्रकाश में देखने से इनकी अनित्यता का बोध होता है, जिससे इनसे विरक्ति होती है। विरक्ति इनकी आसक्ति को क्षीण कर देह की दासता से सदा के लिए मुक्त कर देती है। देह से सदा के लिए मुक्त होना ही जन्म-मरण भवभ्रमण से मुक्ति होना, मोक्ष प्राप्त करना है।

देह के साथ जन्म, जरा, मरण, रोग आदि दुःख लगे हुए हैं तथा शरीर का इन्द्रिय, मन, वस्तुओं से, संसार से सम्बन्ध स्थापित होता है, यह ही बन्ध है। साधना का लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है अर्थात् सर्व दुःखों एवं बन्धनों से मुक्त होना है। मुक्तिप्राप्ति की दो साधनाएँ कही गई हैं-संवर और निर्जरा। जैसे किसी गड्ढे में गन्दा जल भरा हुआ है तो उसे सुखाने के दो उपाय हैं-1. नया जल न आने देना और 2. विद्यमान जल को सूर्य के ताप से वाष्प बनाकर उड़ा देना। इसी प्रकार कर्म क्षय करने के दो उपाय है-1. संवर और 2. निर्जरा। नये कर्मों के बन्ध होने (संस्कार निर्माण व अंकित होने) को रोकने के लिए विषय-कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियों (पाप प्रवृत्तियों) का त्यागना या संवरण करना संवर-साधना है एवं पूर्व-जीवन में विषय-भोगों की सुखासक्ति से शरीर, संसार, कर्म और कषाय के संग व सम्बन्ध जोड़ने से जो कर्म-संस्कार अंकित हुए, कर्म-बन्ध हुए, वे संस्कार व कर्म अंतस्तल में सत्ता में विद्यमान हैं उनसे विवेक (ज्ञान) पूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद करने से उनके बन्ध का नाश हो जाना, जर्जरित होकर निर्जरित हो जाना निर्जरा है।

निर्जरा-साधना वैसा ही कार्य करती है जैसा सूर्य का ताप गड्ढे के गन्दे जल के शोषण (नष्ट) करने में करता है, अतः निर्जरा-साधना का दूसरा नाम तप-साधना है। तप-साधना से शरीर, संसार, कर्म और कषाय से अतीत होने से निर्वाण की अभिव्यक्ति होती है।

मुक्ति : आध्यात्मिक उपलब्धियाँ

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप रूप साधना से जीव के गुणों के घातक चार घातिकर्मों का क्षय होता है, जिससे अठारह दोष क्षय होते हैं एवं नवलब्धियाँ प्रकट होती हैं।

अठारह दोष-क्षय - ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अज्ञान दोष का क्षय एवं दर्शनावरण कर्म के क्षय से दर्शन दोष का क्षय होता है। मोहनीय कर्म के क्षय से क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामविकार ये ग्यारह दोष क्षय होते हैं। अन्तराय कर्म के क्षय से दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपयोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय इन पाँच दोषों का क्षय होता है।

नव उपलब्धियाँ

उपलब्धि उसे कहा जाता है जिस पर हमारा स्वतन्त्र व पूर्ण अधिकार हो अर्थात् जिसे अन्य कोई भी बाधा न पहुँचा सके, छीन न सके। जो वस्तु हमारे न चाहने पर भी हम से छीन ली जाय या नाश हो जाय, अन्त को प्राप्त हो जाय, जिस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं हो, उसे उपलब्धि नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त दृष्टि से विचार करें तो धन-सम्पत्ति, भूमि-भवन आदि वस्तुओं पर हमारा अधिकार है ही नहीं, क्योंकि इन्हें राज्य छीन सकता है, चोर चुरा सकता है। ये व्यापार की हानि में या कर्जे में जा सकती हैं, आग से, बाढ़ से, भूकम्प से, तूफान से, युद्ध से क्षण-भर में नष्ट हो सकती हैं। इनका किसी-न-किसी दिन अन्त अवश्यम्भावी है। ये अन्तरहित 'अनन्त' नहीं हैं। अतः इन पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि जिस शरीर के अस्तित्व से हम जीवित हैं, उस पर भी हमारा अधिकार नहीं है। यदि इस पर हमारा अधिकार होता तो हम इसमें रोग न होने देते, काले बाल सफेद न होने देते, कान, आँख की शक्ति क्षीण न होने देते, मल-मूत्र, श्लेष्म-स्वेद जैसी गन्दी वस्तुएँ पैदा न होने देते, बुढ़ापा व मृत्यु को न आने देते। परन्तु ये सब हमारे न चाहने व रोकने का लाख प्रयत्न करने पर भी आ ही जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारा शरीर पर वास्तविक अधिकार नहीं है, माना हुआ अधिकार है।

जिस पर हमारा वास्तविक अधिकार नहीं है, वह वास्तविक उपलब्धि नहीं है, उपलब्धि का आभास मात्र है। वास्तविक उपलब्धि तो वह है जो एक बार प्राप्त हो जाने पर सदा के लिए उपलब्ध हो जाये। जो फिर कभी अनुपलब्धि में न बदले, अर्थात् जिसका फिर कभी विनाश या अन्त (अभाव) न हो। ऐसी उपलब्धि परिवर्तनशील, क्षणिक, अनित्य, नश्वर, पौद्गलिक पदार्थों से तो सम्भव नहीं है। कारण कि ये पदार्थ अनित्य, नश्वर, अन्तयुक्त व अभाव रूप होने से मूल्यहीन व

अर्थहीन हैं। हमें जो इनका मूल्य, महत्त्व या अर्थ प्रतीत हो रहा है वह इनसे सुख लेने के राग से हो रहा है। अन्यथा ये सब मूल्यहीन व अर्थहीन ही हैं। जिन्हें इनसे सुख नहीं चाहिए, उनके लिए अभी भी, यहीं पर ये पदार्थ मूल्यहीन व अर्थहीन ही हैं। जो मूल्यहीन व अर्थहीन हैं उनकी उपलब्धि कोई अर्थ नहीं रखती, वह अनुपलब्धि रूप ही है। उसे उपलब्धि नहीं कहा जा सकता।

अतः जो इस मिथ्या उपलब्धि के राग का त्याग कर वीतराग हो जाता है, उसे जो स्वतः सहज, स्वाभाविक उपलब्धि की अभिव्यक्ति होती है वह ही सदा रहने वाली, अन्तरहित, अनन्त व शाश्वत उपलब्धि है। वह ही वास्तविक उपलब्धि हैं। ये उपलब्धियाँ विनाशी, अन्तयुक्त पौद्गलिक पदार्थों पर निर्भर नहीं हैं। अविनाशी चेतन तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं; अतः अनन्त हैं। इन्हीं उपलब्धियों का महत्त्व है। वीतरागता से अभिव्यक्त होने वाली ऐसी ही उपलब्धियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, यथा–

'दाणे, लाभे, भोगे, परिभोगे, वीरिए य सम्मत्ते णव केवल-लद्धीओ दंसण-णाणं चरित्ते य।' (धवला 1/1, 1, गाथा 58/64)

अर्थात् 1. दान, 2. लाभ, 3. भोग, 4. परिभोग, 5. वीर्य, 6. सम्यक्त्व, 7. दर्शन, 8. ज्ञान और 9. चारित्र–ये नौ 'केवल' लब्धियाँ हैं। इन्हें 'केवल' इसलिए कहा गया है कि ये लब्धियाँ 'केवल' शुद्ध हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण हैं, अनन्त हैं। इनमें दोष लेशमात्र भी नहीं है।

इनमें से सम्यक्त्व और चारित्र लब्धि मोह के क्षय से, दर्शन लब्धि दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से एवं ज्ञान की लब्धि ज्ञान के आवरण के क्षय से अभिव्यक्त होती है।

उपर्युक्त नौ लब्धियों में से – 1. दान, 2. लाभ, 3. भोग, 4.परिभोग और 5. वीर्य इन पाँच का सम्बन्ध अन्तराय कर्म के क्षय से है।

क्षायिक सम्यक्त्व

वीतराग होना तभी सम्भव है जब भूलरूप मिथ्या मान्यताओं का अर्थात् मिथ्यात्व का पूर्ण रूप से नाश या क्षय हो जाता है। भूल या मिथ्यात्व का सम्बन्ध अपने 1. स्वरूप, 2. साधकत्व, 3. स्वभाव, 4. साधना और 5.साध्य-सिद्धि आदि के विषय में मिथ्या मान्यताओं से होता है, यथा 1.अपने को देह रूप मानना जीव को अजीव मानने रूप मिथ्या मान्यता है। 2.शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जड़ पदार्थों की उपलब्धि को जीवन मानना अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है।

3. विषय-भोगों के त्यागी को दु:खी मानना साधक को असाधक मानने रूप मिथ्यात्व है। 4. विषय-विकार से ग्रस्त को सुखी मानना असाधु को साधु मानने रूप मिथ्यात्व है। 5. त्याग को अस्वाभाविक मानना धर्म को अधर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। 6. विषय-विकार या भोग को स्वाभाविक व नैसर्गिक मानना अधर्म को धर्म मानने रूप मिथ्यात्व है। 7. राग या कामनापूर्ति में सुख मानना दु:ख में सुख मानने रूप मिथ्यात्व है। 8. राग के त्याग में दु:ख मानना सुख में दु:ख मानने रूप मिथ्यात्व है। 9. भूमि, भवन, धन-सम्पत्ति आदि पर-पदार्थों के आश्रय (पराधीनता) या प्राप्ति से अपने को स्वाधीन मानना अमुक्त को मुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है। 10. देहातीत, लोकातीत पूर्ण स्वाधीन अवस्था को सुखहीन व दु:ख रूप अवस्था मानना मुक्त को अमुक्त मानने रूप मिथ्यात्व है।

इन सब मिथ्या मान्यताओं के आत्यन्तिक क्षय या नाश से अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन से ही वीतरागता की ओर चरण बढ़ते हैं। अत: वीतरागता के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की उपलब्धि पहले से ही विद्यमान रहती है। जब तक इन मिथ्या मान्यताओं का उदय रहता है, वीतरागता की ओर एक कदम भी बढ़ना सम्भव नहीं है।

अनन्त दर्शन

राग के साथ संकल्प-विकल्प जुड़े हुए हैं। संकल्प-विकल्प के साथ जड़ता जुड़ी हुई है। 'जड़ता', 'चिन्मय' गुण की विघातक व आवक है। अत: जड़ता का होना ही दर्शन गुण पर आवरण आना है। जैसे-जैसे विकल्प कम होते हैं, वैसे-वैसे दर्शन पर आए आवरण में कमी होती जाती है तथा चिन्मयता-चेतनता गुण प्रकट होता जाता है। राग का सर्वथा अभाव हो जाने पर, वीतरागता आने पर पूर्ण निर्विकल्पता आ जाती है। जिससे दर्शन पर आया आवरण पूर्ण रूप से हट जाता है और 'केवल' दर्शन प्रकट हो जाता है। वीतराग हो जाने पर राग का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है, फिर कभी भी लेशमात्र भी राग की उत्पत्ति नहीं होती, जिससे जड़ता सदा के लिए मिट जाती है। अत: इस चिन्मयता गुण में फिर न कभी कमी आती है और न इस गुण का फिर कभी अन्त ही होता है। यह सदैव परिपूर्ण एवं अविनाशी रूप में प्रकट रहता है। यही अनन्त दर्शन की उपलब्धि है।

'दर्शन' है स्व-संवेदन। संवेदन उसी का होता है जिसके साथ अभिन्नता होती है। अत: स्व-संवेदन स्व से अभिन्न होने से, स्वानुभव से होता है। जब तक व्यक्ति

बहिर्मुखी रहता है तब तक उसकी गति व प्रवृत्ति बाहर की ओर, 'पर' की ओर रहती है। जिससे वह 'स्व' से विमुख व दूर रहता है। स्व से विमुख व दूर रहते स्व-संवेदन नहीं होता है। स्व-संवेदन के बिना 'दर्शन' नहीं होता है। जैसे-जैसे राग घटता जाता है, राग में कमी आती जाती है वैसे-वैसे बहिर्मुखीपने व पर की ओर से स्व की ओर गति होने लगती है। जैसे-जैसे बाहर से भीतर की ओर, पर से स्व की ओर गति होती जाती है; वैसे-वैसे स्वभावतः स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर संवेदनाएँ स्वतः प्रकट होने लगती हैं। 'संवेदना' चिन्मयता का ही रूप है। 'चिन्मयता' चैतन्य का प्रमुख गुण है, जिसे 'दर्शन' कहा जाता है।

राग का पूर्ण नाश हो जाने पर, वीतराग हो जाने पर बहिर्मुखीपने व पर की गति का आत्यन्तिक क्षय (नाश) हो जाता है जिससे साधक सदा के लिए स्व में स्थित व स्थिर हो जाता है। स्व में स्थित व स्थिर होना ही स्वानुभूति है। स्वानुभूति ही स्व-संवेदन है, यही चिन्मयता या चेतनता है।

तात्पर्य यह है कि राग रहित, वीतराग होते ही सदा के लिए पूर्ण चिन्मयता की, पूर्ण जड़ता रहित अवस्था की अनुभूति हो जाती है अर्थात् 'अनन्त दर्शन' हो जाता है। अनन्त दर्शन की उपलब्धि राग रहते नहीं हो सकती, कारण कि राग के रहते जड़ता रहती ही है। अतः वीतरागता से ही 'अनन्त दर्शन' गुण प्रकट होता है। यह गुण चैतन्य का निज स्वरूप होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तो है ही, साथ ही अनुभवगम्य व विलक्षण होने से अनिर्वचनीय भी है। इसका अनुभव ही किया जा सकता है, वर्णन नहीं किया जा सकता।

अनन्त ज्ञान

राग का सर्वथा अभाव होने पर, वीतराग होने पर ज्ञान के अनुरूप आचरण हो जाता है। फिर ज्ञान और आचरण में, ज्ञान और जीवन में भिन्नता, भेद व दूरी नहीं रहती। अर्थात् ज्ञान का आवरण पूर्ण हटकर ज्ञान की पूर्ण प्रभा व प्रभाव सदा के लिए प्रकट हो जाता है। यह ज्ञान राग आदि दोषों व विकृतियों से रहित होने से शुद्ध ज्ञान 'केवलज्ञान' रूप होता है तथा पूर्ण व सदा के लिए होने से अनन्त ज्ञान रूप होता है।

अथवा यों कहें कि जब तक विषय-सुख भोगने का राग है तब तक ही संसार से कुछ पाना व करना शेष रहता है। रागरहित होने पर न तो विषय-सुख भोगना शेष रहता है और न कुछ पाना शेष रहता है। भोगना व पाना शेष नहीं रहने

पर करना शेष नहीं रहता। भोगना, पाना व करना शेष न रहने पर जानना शेष नहीं रहता। कारण कि जिस गाँव जाना ही नहीं है उस गाँव का रास्ता जानना व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है। आशय यह है कि वीतराग को कुछ जानना शेष नहीं रहता, उन्हें अशेष ज्ञान व पूर्ण ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञान अविनाशी होता है, अन्तरहित होता है, अनन्त ज्ञान होता है।

वीतराग का ज्ञान निजज्ञान होता है। सुना हुआ, पढ़ा हुआ, पराया ज्ञान नहीं होता अर्थात् स्वयंसिद्ध ज्ञान होता है। यह नियम है कि स्वयंसिद्ध ज्ञान या स्वयंसिद्धि रूप ज्ञान सार्वलौकिक व त्रैकालिक होता है। वह तीनों कालों में समान रूप से बराबर एक-सा रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता है। जैसे पराधीनता, मृत्यु, दुःख, रोग बुरे हैं तथा स्वाधीनता, अमरत्व, सुख, आरोग्य अच्छे हैं, अभीष्ट हैं, यह ज्ञान स्वयंसिद्ध होने से तीनों लोकों व तीनों कालों में समान रूप से रहता है, अर्थात् त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती होता है। यह अपरिवर्तनशील व अनिवाशी होता है। इस ज्ञान के पूर्ण प्रकट हो जाने, पूर्ण प्रभावी हो जाने से जीवन में स्वाधीनता, अमरत्व, सुख व आरोग्य की उपलब्धि होती है। इस शुद्ध, पूर्ण व अनन्त ज्ञान की उपलब्धि 'वीतरागता' से ही होती है। यह ज्ञान पुरातन, अद्यतन, नूतन न होकर सनातन, शाश्वत होता है। अविनाशी होने से यह ज्ञान 'अनन्त ज्ञान' है।

अनन्त चारित्र

'चारित्र' चलने का, चरने का, आचरण का द्योतक है। चलना वही सार्थक है जो गन्तव्य स्थल, लक्ष्य की ओर बढ़ता हो। जिस चलने से लक्ष्य की ओर गति नहीं हो वह चलना चलना नहीं, भटकना है, भ्रमण है, भ्रम है। मानव का लक्ष्य एकान्त 'दुःखरहित सुख' की उपलब्धि करना है। एकान्त सुख की उपलब्धि उस सुख के त्याग से ही सम्भव है जिस सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ है। जिस सुख के साथ दुःख जुड़ा हुआ है वह सुख वस्तुतः सुख न होकर दुःख ही है। दुःख का कारण दोष है। अतः समस्त दोषों (पापों) के त्याग से ही, क्षय से ही एकान्त सुख की उपलब्धि सम्भव है।

जिसमें एकान्त सुख की उपलब्धि हो वही चारित्र है, अर्थात् दोषों का त्याग ही चारित्र है। दोषों का आंशिक त्याग आंशिक (देश) चारित्र है और दोषों का पूर्ण त्याग पूर्ण चारित्र है। पूर्ण चारित्र में ही समस्त दुःखों से निवृत्ति या मुक्ति है। कारण कि दुःख वहीं है जहाँ दोष है। जहाँ दोष है वहाँ राग है। जहाँ राग है वहाँ दोष है।

अत: समस्त दोषों के त्याग में अर्थात् रागरहित वीतराग अवस्था में ही समस्त दु:खों की निवृत्ति होकर एकान्त सुख की उपलब्धि होती है।

समस्त दोषों का त्याग या क्षय, रागरहित होने पर ही सम्भव है। रागरहित होने का उपाय या साधन है समभाव में रहना। समभाव की साधना रागरहित होने की साधना है। अत: साधना की आधारशिला समभाव-समत्वभाव सामायिक की साधना है। समभाव की साधना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ग्रन्थियों का छेदन व दोषों का परिहार होता जाता है, राग विगलित होता जाता है, अन्त में पूर्ण गल जाता है, फिर निर्दोष, शुद्ध अवस्था में पूर्ण यथार्थता का, यथाख्यात चारित्र का अनुभव होता है। अर्थात् जैसा हो रहा है या जैसा है, उसका वैसा ही बोध व अनुभव होता है। यही यथाख्यात चारित्र या तथागत अवस्था है। इस प्रकार समत्व की साधना (चारित्र) की पूर्णता यथाख्यात चारित्र में, तथागत अवस्था में होती है। यही वीतराग चारित्र है। फिर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है। इस अवस्था में 'साधना' साधक के जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है। साधना और जीवन में भिन्नता नहीं रहती, दोनों में एकता हो जाती है। साधना साधक का जीवन बन जाती है। फिर साधना करनी नहीं पड़ती है, स्वत: होती रहती है। इसका अन्त कभी नहीं होता अर्थात् अनन्त चारित्र की उपलब्धि हो जाती है।

साधक का लक्ष्य अमरत्व (अविनाशी अवस्था) की प्राप्ति भी है। अमर या अविनाशी वही है जिसका अस्तित्व सदा रहे। इसे ही सत् या सत्य कहते हैं। जिसका अस्तित्व कभी रहे, कभी न रहे वह असत् है। असत्-असत्य किसी को भी पसन्द नहीं है और सत् या अमरत्व सभी को पसन्द या इष्ट है। सत् या अमरत्व की प्राप्ति की साधना चारित्र है। सत् या अमरत्व की प्राप्ति विनाशी से सम्बन्ध-विच्छेद करने से अर्थात् विनाशी के त्याग से होती है। भूमि, भवन, धन-सम्पत्ति आदि वस्तुएँ ही नहीं; देह, इन्द्रिय, मन आदि भी विनाशी या असत् हैं। इन सबसे सम्बन्ध-विच्छेद करना अर्थात् लोकातीत, इन्द्रियातीत, देहातीत, भवातीत होना ही साधना या चारित्र है, जो इनके सम्बन्ध-त्याग से, समता भाव से ही सम्भव है। इस दृष्टि से दोषों को त्याग, निर्दोष होना ही साधना या चारित्र है।

त्याग का भावात्मक व क्रियात्मक रूप समत्व है। त्याग व समत्व की पूर्णता में ही अविनाशी की, अमरत्व की उपलब्धि है। यही चारित्र की पूर्णता व अनन्तता है। त्याग या चारित्र का फल ही अमरत्व की, एकान्त (दु:खरहित) व अनन्त सुख की उपलब्धि होना है।

विनाशी से सम्बन्ध-विच्छेद करना ही बन्ध का विच्छेद करना है, बन्धन रहित होना है, बन्धन रहित होना ही मुक्ति है। विनाशी से सम्बन्ध तोड़ना ही त्याग, संयम या चारित्र है। त्याग, संयम, चारित्र का फल ही मुक्ति की उपलब्धि है।

आशय यह है कि समत्व, त्याग व वीतरागता रूप चारित्र में ही अमरत्व, मुक्ति व एकान्त अनन्त सुख की उपलब्धि अन्तर्निहित है।

अन्तरायकर्म का क्षय से प्राप्त लब्धियाँ

वर्तमान काल में बहुत से विद्वान् सिद्ध भगवान में दान, लाभ आदि लब्धियाँ नहीं मानते हैं, परन्तु श्री वीरसेनाचार्य ने धवला पुस्तक ७, गाथा ११, पृ. १४-१५ में सिद्धों में पाँच लब्धियाँ मानी हैं-

वीरियोवभोगे-भोगे दाणे लाभे जदुयदो विग्घं।
पंचविहलद्धिजुत्तो तक्कम्मखया हवे सिद्धो।।

जिस अन्तराय कर्म के उदय से जीव के वीर्य, उपभोग, भोग, दान और लाभ में विघ्न उत्पन्न होता है, उसी कर्म के क्षय से सिद्ध पंच लब्धि (दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य) से युक्त होता है।

अंतराय कर्म के क्षय से तेहरवें गुणस्थान में दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये जीव के पाँचों क्षायिक गुण प्रकट होते हैं। ये गुण जीव के स्वभाव हैं अतः निजगुण हैं, किसी बाहरी पदार्थ पर निर्भर नहीं हैं और न बाहरी जगत् से सम्बन्धित हैं। अतः सिद्ध होने पर ये गुण असीम, अनन्त रूप से प्रकट होते हैं।

अन्तराय शब्द अन्तर से बना है, जिसका अर्थ है अन्तर आ जाना, अन्तर पड़ जाना, निरन्तर न रहना, कभी रहना कभी न रहना। अन्तर का अन्त तभी सम्भव है जब मिला हुआ सुख निरन्तर रहे तथा मिली हुई वस्तु सदा बनी रहे। इनका कभी अन्त न हो अर्थात् अनन्त हो। ये नौ उपलब्धियाँ ऐसी ही लब्धियाँ हैं। इसीलिए इन उपलब्धियों के साथ अनन्त विशेषण भी लगाया जाता है, यथा- अनन्त दान, अनन्त लाभ आदि। द्वितीय, जो असीम नहीं है, सीमित है, अखण्ड (पूर्ण) नहीं है- खण्डित है, वह अन्तयुक्त है अतः अनन्त नहीं है। तृतीय, जिसकी उपलब्धि अपने से भिन्न 'पर' पदार्थ पर निर्भर करती है वह भी अन्तराय रूप ही है, कारण कि जहाँ भिन्नता है वहाँ अन्तर है ही, परन्तु जिसकी अभिव्यक्ति स्वयं में ही हो वह अभिन्न होती है-वह अन्तर या अन्तराय रहित होती है। चतुर्थ, जो अन्तयुक्त है वह अन्तरयुक्त है।

तात्पर्य यह निकला कि जो 1. विनाशी है, क्षणिक है, 2. जो सीमित है, 3. जो 'पर' पर निर्भर है–ये तीनों अवस्थाएँ अन्तराय रूप हैं तथा 1. जो अविनाशी है, शाश्वत है, ध्रुव है, 2. जो असीम है, पूर्ण है, 3. जो स्वयं से व्यक्त होती है वही अन्तराय से रहित है, अनन्त है। ऐसी लब्धि इच्छापूर्ति के सुख व वस्तु से कभी भी सम्भव नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझें–हमें प्रतिदिन भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति भोजन का सुख भोग कर करते हैं। वह भोजन का सुख खाते-खाते ही खत्म हो जाता है। जिस वस्तु का भोग कर लिया वह भी न रही, वह भी विनाशी है। अतः यह सुख व वस्तु, दोनों ही विनाशी, अन्त व अन्तरयुक्त हैं। एक बार भोजन करने के पश्चात् पुनः भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है और फिर भोजन के सुख का भोग करते हैं। इस प्रकार भोजन के सुख के बीच में अन्तराल पड़ता है। अतः यह सुख अन्त व अन्तरयुक्त होने से अन्तराय रूप ही है। द्वितीय, हमारी खाने की इच्छा तो हजारों प्रकार की या सब ही स्वादिष्ट वस्तुओं की रहती है, परन्तु पूर्ति तो कुछ सीमित वस्तुओं की ही सम्भव है, अतः यह सुख अपूर्ण व अभावयुक्त रहता ही है। तृतीय, जब तक इच्छा है और उसकी पूर्ति नहीं हुई है तब तक तो इष्ट वस्तु की उपलब्धि से दूरी, अभाव व अन्तर रूप अन्तराय है ही, परन्तु जब इष्ट वस्तु मिल जाने से इच्छापूर्ति हो जाती है तब भी इच्छा की तृप्ति नहीं होती। आगे फिर भोजन करके सुख पाने की इच्छा बराबर बनी रहती है। इस अतृप्त इच्छा का अन्त कभी नहीं होता है।

अनन्त दान

जहाँ राग है, मोह है वहाँ मूर्च्छा है, जड़ता है। अतः जैसे-जैसे राग या मोह घटता जाता है वैसे-वैसे जड़ता घटती या मिटती जाती है, चिन्मयता बढ़ती जाती है। चिन्मयता बढ़ने से संवेदनशीलता बढ़ती जाती है। संवेदनशीलता बढ़ने से करुणा भाव बढ़ता है। करुणाभाव से सर्वहितकारी भावना जाग्रत होती है। करुणा भाव या सर्व-हितकारी भाव को जैनागम में 'दान' कहा गया है।

अथवा यों कहें कि जैसे-जैसे मोह घटता जाता है, आत्मा निर्मल होती जाती है। जैसे-जैसे आत्मा निर्मल होती जाती है वैसे-वैसे आत्मा का विकास होता जाता है। जैसे-जैसे आत्मा का विकास होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा के आत्मिक गुण आत्मीयता का विकास होता जाता है। आत्मीय भाव को ही मैत्री भाव कहा जाता है। या यों कहें कि आत्मीय भाव ही मैत्री भाव के रूप में प्रकट होता है।

प्रकारान्तर से कहें तो जहाँ राग है वहाँ द्वेष है। जहाँ द्वेष है वहाँ वैर है, शत्रु भाव है। जहाँ वैर भाव है वहाँ मैत्री भाव नहीं हो सकता तथा जहाँ राग है, वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के सुख-भोग की वासना रहती है, अर्थात् स्वार्थ-भाव रहता ही है। जहाँ स्वार्थ भाव है वहाँ राग भाव है, जहाँ राग भाव है वहाँ मैत्रीभाव नहीं है। अतः मैत्रीभाव वहीं होता है जहाँ राग भाव (स्वार्थभाव) तथा वैर भाव नहीं होता है, प्रत्युत सर्वहितकारी भाव होता है। अर्थात् राग-द्वेष दोनों मैत्रीभाव के बाधक व घातक हैं। अतः जितना-जितना राग-द्वेष घटता जाता है उतना-उतना मैत्रीभाव प्रकट होता जाता है। **'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणई'** अर्थात् सब प्राणियों के प्रति मेरा मैत्री भाव है, किसी से भी वैरभाव नहीं है, वीतराग मार्ग के साधक के जीवन में इसी सूत्र का आचरण होता है।

मैत्रीभाव में मित्र के हित की निःस्वार्थ भावना रहती है। बदले में मित्र से कुछ भी पाने की आशा या इच्छा नहीं होती है, मित्र की प्रसन्नता से स्वयं को प्रसन्नता का अनुभव होता है। यह प्रसन्नता रागरहित होती है। अतः इस प्रसन्नता का रस या सुख राग के रस या सुख से विलक्षण होता है। रागजनित सुख भोग का सुख है, इसके साथ क्षीणता, नश्वरता, पराधीनता, आकुलता, नीरसता, जड़ता, अभाव, अतृप्ति आदि दुःख लगे ही रहते हैं, जबकि मैत्रीभाव का रस इन सब दोषों से रहित होता है। इस रस या सुख में स्वाधीनता, निराकुलता, चिन्मयता, सरसता का अनुभव होता है। यह अक्षय, अव्याबाध व अनन्त होता है।

तात्पर्य यह है कि जितना राग घटता जाता है, उतना करुणा भाव, आत्मीय भाव, मैत्री भाव, वत्सल भाव बढ़ता जाता है और वीतराग हो जाने पर यह करुणा, मैत्री, वात्सल्य आदि सब भाव असीम व अनन्त हो जाते हैं, जो सर्व प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव तथा सर्वहितकारी भाव के रूप में प्रकट होते हैं।

वीतराग का यही अनन्त करुणा भाव, अनन्त मैत्रीभाव, अनन्त वात्सल्य भाव, 'अनन्त दान' कहा गया है। वीतराग को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है, अतः वीतराग की प्रत्येक प्रवृत्ति या निवृत्ति विश्वहित के लिए होती है। उनमें विश्व वात्सल्य भाव होता है। वे जगद्वत्सल होते हैं। यही विश्व वात्सल्यभाव, करुणा भाव अनन्त दान है। इस प्रकार वीतरागता से अनन्त दान की उपलब्धि होती है अथवा जो वीतराग हो जाता है उसे संसार में अपने स्वयं के लिए कुछ भी पाना नहीं रह जाता है। देह आदि जो कुछ भी उसे प्राप्त है, वह सब संसार के लिए है। इस

दृष्टि से भी वीतराग को अनन्त उदार व अनन्त दानी कहा जा सकता है। अपने सुख के लिए कुछ भी नहीं है। उसकी यह असीम उदारता ही अनन्त दान की द्योतक है।

उदारता

उदर का भावात्मक रूप उदारता है। जिस प्रकार उदर शरीर के पोषण के लिए भोजन को ग्रहण करता है, किन्तु उपयोग अपने तक ही सीमित न रखकर सम्पूर्ण शरीर के लिए करता है, इसी प्रकार उदार मानव वस्तु का उत्पादन व संग्रह का उपयोग अपने तक ही सीमित न रखकर सारे संसार के लिए, आवश्यकता वाले व्यक्ति के लिए करता है। उदारता से प्रीति उदित होती है। प्रीति की जागृति से परस्पर में एकता स्थापित होती है जो संघर्ष का जन्म नहीं होने देती। संघर्ष का अन्त वहीं संभव है, जहाँ उदारता है। इसके विपरीत जो उदर ग्रहण किए गए भोजन को विसर्जित नहीं करता है, वह भोजन सडांध पैदा करता है और स्वयं उदर को व सारे शरीर को हानि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मानव अपनी उत्पादित वस्तुओं का, धन-संपत्ति का अपने लिए ही संग्रह करता है, परहित में उपयोग नहीं करता है, वह संग्रह-परिग्रह है। यह संग्रह या परिग्रह ही समस्त दोषों, दुःखों, द्वन्द्वों व संघर्षों का जनक है।

उदारता आत्मीयता जागृत करती है। आत्मीयता से संसार के सारे प्राणी आत्मवत् लगते हैं। उदार व्यक्ति को सभी प्राणी अपने ही निज-आत्मस्वरूप या परमप्रिय लगते हैं, कोई और, कोई गैर, कोई पराया नहीं लगता है। सभी के प्रति प्रीति की जागृति होती है। प्रीति दूरी, भेद व भिन्नता को खा जाती है, जिससे अपने स्वरूप से भिन्न कोई नहीं लगता है, गुरुत्व-लघुता का भेद मिट जाता है। परायापन तथा दूरी मिट जाती है। प्रीति अविनाशी तत्त्व है, अतः वह अविनाशी के प्रति ही होती है। दूरी, भेद और भिन्नता मिटने से अविनाशी से भिन्नता मिटकर एकता व अभिन्नता हो जाती है। इसी में मानव-जीवन की पूर्णता, सफलता व सार्थकता है। जहाँ उदारता है, वहाँ मानवता है। मानवतारहित मानव, मानव नहीं, दानव है।

उदारता का क्रियात्मक रूप दान है। जैनागमों में दान के अनेक उदाहरण हैं, यथा- श्रावक परदेशी राजा ने दानशाला खुलवायी, श्राविका रेवती ने भगवान महावीर को बिजौरा पाक का दान दिया, श्रेयांस कुमार ने भगवान ऋषभदेव को इक्षुरस का दान देकर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया, चंदनबाला ने भगवान महावीर को दान देकर अपने जीवन को धन्य बनाया। सभी तीर्थंकरों ने दीक्षा लेने

के पूर्व वर्षीदान देकर गृहस्थावस्था में दान का आदर्श प्रस्तुत किया और केवलज्ञान होने पर तो अनंतदानी हो गये। तात्पर्य यह है कि दान मानव जीवन का शृंगार है, अलंकार है, आभूषण है, अनिवार्य अंग है। यदि यह कहा जाय कि 'मानव-जीवन में दान से बढ़कर कोई वरदान नहीं है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। वरदान का अर्थ ही श्रेष्ठदान है। अत: जो दान रहित है वह वरदान रहित है।

उदारता का क्रियात्मक रूप सेवा है। सेवा का फल यह भी होता है कि जिसकी सेवा की जाती है, उसमें स्वत: सेवा का भाव व उदारता जागृत होती है। सेवक में त्याग व उदारता दोनों होती है जो सेव्य में भी इनका बीजारोपण करती है। वस्तुत: दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना और अपने अधिकारों का त्याग ही सेवा का स्वरूप है।

जो उदार होता है वह किसी का बुरा नहीं चाहता। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह सुखियों को देखकर प्रसन्न तथा दु:खियों को देखकर करुणित होता है। सुखियों को देखकर प्रसन्न होने से सुख-भोग की कामना क्षीण होती है। इस प्रकार सेवा, वासना-कामना के त्याग में सहायक होती है। सेवा वही कर सकता है जो दूसरों के दु:खों की अनुभूति स्वयं करता हो, अत: सेवा द्वारा दूसरों के दु:खों को दूर करना अपने ही दु:खों को दूर करना है। दूसरों को प्रसन्न करना अपने को ही प्रसन्न करना है।

उदारता से प्रभूत प्रसन्नता अक्षुण्ण होती है। प्रसन्नता से राग गलता है तथा नवीन कामना की उत्पत्ति नहीं होती है। राग गलने से पाप कर्मों का क्षय होता है। उदारता उस हृदय में जागृत होती है जो दु:खियों को देखकर करुणित और सुखियों को देखकर प्रमुदित होता है। उदार महानुभावों के हृदय में तनाव, हीनभाव, द्वन्द्व उत्पन्न नहीं होता है, उनका हृदय सदैव प्रेम व प्रसन्नता से ओत-प्रोत होता है। उदारता का क्रियात्मक रूप दान है। मुक्ति के मार्ग दान, शील, तप और भाव में दान का प्रथम स्थान है।

अनन्त लाभ (सम्पन्नता)

वीतरागता की दूसरी उपलब्धि अनन्त लाभ या सम्पन्नता है। सम्पन्न वही है जो कमी रहित है, अभावरहित है। अभाव व कमी दरिद्रता की द्योतक है। अभाव का अनुभव तभी होता है जब कुछ पाने की कामना हो और उसकी प्राप्ति न हो। वस्तु की प्राप्ति श्रम, शक्ति व काल पर निर्भर करती है। अत: कामनापूर्ति तत्काल

नहीं होती है और जब तक कामना की पूर्ति नहीं होती तब तक कामना- अपूर्तिजन्य अभाव का अनुभव होता है, जो दरिद्रता का ही रूप है। अतः कामना-अपूर्ति की अवस्थाओं में दरिद्रता व अभाव (अलाभ) का दुःख भोगना ही पड़ता है। यह सर्वविदित है कि सब कामनाओं की पूर्ति किसी की भी, कभी भी नहीं होती। केवल कुछ कामनाओं की ही पूर्ति होती है। अतः मानव मात्र को कामना-अपूर्तिजन्य अभाव (कमी व दारिद्र्य) का दुःख सदा बना ही रहता है।

यही नहीं, जिस कामना की पूर्ति हो जाती है उससे जो सुख मिलता है, वह सुख भी प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ अन्त में नीरसता में बदल जाता है। इस प्रकार कामनापूर्ति से सुख पाने रूप जिस उद्देश्य की सिद्धि हुई, उस सिद्धि का मिलना न मिलने के समान हो जाता है।

कामनापूर्तिजनित रस (सुख) नीरसता में बदलता है। नीरसता किसी को भी पसन्द नहीं है। अतः नीरसता मिटाने के लिए नवीन कामना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कामनापूर्ति के साथ कामना की उत्पत्ति जुड़ी हुई है और कामना-उत्पत्ति के साथ अभाव, दरिद्रता आदि दुःख जुड़े हुए हैं। अतः कामना-अपूर्ति से ही नहीं, कामनापूर्ति से भी अभाव, दरिद्रता आदि दुःख जुड़े हुए हैं। तात्पर्य यह निकला कि चाहे कामना की उत्पत्ति हो, चाहे कामना की अपूर्ति हो, चाहे कामना की पूर्ति हो- सभी अवस्थाओं में अभाव व दरिद्रता जुड़ी हुई है। अतः कामना के त्याग से ही दरिद्रता का अन्त सम्भव है। दरिद्रता का अन्त ही समृद्धि का, सम्पन्नता का सूचक है। कारण कि कामना न रहने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। 'पाना' शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता है। पूर्ण रूप में कामनारहित होना 'वीतराग' होना है। अतः वीतरागता से ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता की उपलब्धि होती है, जिसका अन्त कभी नहीं होता है अर्थात् जहाँ वीतरागता है वहाँ अनन्त समृद्धि, अनन्त सम्पन्नता, अनन्त वैभव है। इसे ही जैनागमों में अनन्त लाभ कहा है।

अनन्त भोग (सौन्दर्य)

वीतरागता की तीसरी उपलब्धि अनन्त भोग या अनन्त सौन्दर्य है। सुन्दर वही है जो सबको अच्छा लगे, भोग वही है जो भावे। जो अच्छा लगता है वही भाता है अर्थात् सौन्दर्य ही भोग है। इन्द्रियों और मन के माध्यम से वस्तु, परिस्थिति आदि से मिलने वाले भोग का सुख सीमित होता है। कारण कि संसार में भोग्य वस्तुएँ असंख्य हैं जो सब-की-सब किसी एक ही व्यक्ति को मिल जायें, यह सम्भव नहीं

है। वे किसी को भी सीमित संख्या में ही मिल पाती हैं और जो मिलती हैं उन सब वस्तुओं का भोग करना भी शक्य नहीं है, कारण कि इन्द्रियों के भोग की शक्ति सीमित होती है। अत: सीमित वस्तुओं से तथा इन्द्रिय भोग से मिलने वाला सुख सीमित होता है, वह पूर्ण व अखण्ड नहीं होता। जो अखण्ड नहीं होता वह अबाधित नहीं होता। यही कारण है कि विषय-सुख में पूर्णता कभी नहीं होती। विषय-सुख किसी को कितना ही मिले, उस समय किसी-न-किसी प्रकार का अभाव रहता ही है। ऐसी कोई परिस्थिति है ही नहीं जिसमें किसी भी प्रकार का अभाव न हो।

अभाव किसी को भी अच्छा नहीं लगता। अत: वह भोग का बाधक है। इसीलिए जिसे अपूर्ण, खण्डित व बाधित सुख से बचना एवं पूर्ण, अखण्ड व अबाधित सुख पाना इष्ट है, उसे वस्तुओं एवं प्रवृत्ति से मिलने वाले सुख का त्याग करना ही होगा। वस्तुओं के सुख के त्याग से विषय इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। फिर मन 'अमन' (निर्विकल्प) हो जाता है जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है। जिससे साधक स्व में स्थित हो जाता है अर्थात् स्वाधीन तथा मुक्त हो जाता है। उसे पराधीनता व बन्धन से छुटकारा मिल जाता है।

पराधीनता से छुटकारा तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति युगपत् होती है। स्वाधीनता से स्व में स्थिति तथा स्थिरता हो जाती है। फलस्वरूप स्व-रस, निजरस, अविनाशी का रस या सुख मिलता है। अविनाशी से मिलने वाला रस या सुख भी अविनाशी होता है, अनन्त होता है। यह अनन्त रस रूप जीवन ही अनन्त भोग की, अनन्त सौन्दर्य की उपलब्धि है जो विषय-सुख के भोग के त्याग से ही सम्भव है। विषय-सुख का पूर्ण त्याग ही वीतराग अवस्था है। वीतराग जीवन निर्विकार जीवन है। निर्विकारता में अनन्त सौन्दर्य है, विकार घृणायोग्य होता है। अत: जहाँ वीतरागता है वहाँ अनन्त सौन्दर्य है, अनन्त रस (सुख) है, अनन्त भोग है। तात्पर्य यह निकला कि सीमित सौन्दर्य व भोग के त्याग में ही असीम, अनन्त सौन्दर्य व भोग की उपलब्धि या अभिव्यक्ति होती है।

संसार की समस्त घटनाएँ कारण-कार्य के नियमानुसार नैसर्गिक व प्राकृतिक विधान से घटती हैं। प्राकृतिक विधान में किसी का भी अहित नहीं है। यहाँ तक कि प्राकृतिक घटना से आया हुआ दु:ख भी दोषों के त्याग की शिक्षा देने एवं पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करने वाला ही होता है। शिक्षा व कर्म-निर्जरा प्राणी के लिए हितकर ही होती है। वीतराग इस तथ्य से पूर्ण परिचित होते हैं। अत: उन्हें संसार की

कोई भी घटना क्षुब्ध नहीं करती। उन्हें संसार की सब घटनाओं, परिस्थितियों में सर्वत्र शुभता, सुन्दरता व हितकारिता का ही दर्शन होता है। यही अनन्त भोग की उपलब्धि है।

अनन्त परिभोग (अनन्त माधुर्य)

वीतरागता की चौथी उपलब्धि अनन्त परिभोग या अनन्त माधुर्य है। किसी सुख का बार-बार या बराबर मिलते रहना ही परिभोग है-माधुर्य है। यह नियम है कि विषय-भोग का सुख क्षणिक होता है। वह सुख दो क्षण भी एक-सा नहीं रहता, प्रतिक्षण क्षीण होता है और अन्त में नीरसता (सुखरहित अवस्था) में बदल जाता है। जो सुख इस क्षण भोग लिया वह सुख दूसरे क्षण नहीं मिलेगा, उसमें क्षीणता आ ही जायेगी। एक बार में मिला हुआ सुख दुबारा कभी नहीं मिलेगा, उसमें क्षीणता आयेगी ही, वह जीर्ण होगा ही। यही कारण है कि हम अपने जीवन में खाने, पीने, पहनने, देखने, सुनने, सूँघने आदि के सैकड़ों सुखों का भोग प्रतिदिन करते रहे, परन्तु उनमें से कोई भी सुख आज तक नहीं रहा, सुख में लेशमात्र भी वृद्धि नहीं हुई। जैसे रेलयात्रा में वस्तुएँ सामने से आतीं और पीछे जाती प्रतीत होती हैं, इसी प्रकार सुख आता और जाता प्रतीत होता रहा, रहा कुछ भी नहीं। फलतः सुख पाने की भूख ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, उसमें किंचित् भी कमी नहीं हुई तथा आगे भी कितनी ही सुख-सामग्री संगृहीत कर उनसे बार-बार सुख भोगा जाये तब भी न सुख में वृद्धि होने वाली है और न सुख की भूख मिटने वाली है, अर्थात् विषय-सुख का परिणाम शून्य है तथा सुख के भोगी को असंख्य दुःख भोगने ही पड़ते हैं। अतः विषय-सुख के त्याग से किसी भी प्रकार की लेशमात्र भी हानि नहीं होने वाली है, प्रत्युत विषय-सुख के त्याग से निजसुख की उपलब्धि होती है।

निजसुख की अभिव्यक्ति प्रेम के रूप में होती है। प्रेम का रस नित नूतन रहता है, यह सागर की तरह लहराता है। न तो इसकी क्षति होती है, न इसकी निवृत्ति होती है, न इसकी पूर्ति होती है, न इसकी तृप्ति होती है और न इसमें अतृप्ति ही रहती है। यह क्षति, निवृत्ति, पूर्ति, अपूर्ति, तृप्ति, अतृप्ति से रहित विलक्षण रस या सुख है। यही अनन्त परिभोग है। इसकी अभिव्यक्ति विषय-सुख के त्यागी 'वीतराग' को ही होती है। यह वीतरागता की ही विभूति है। इसे परमात्मा का माधुर्य गुण भी कहा जा सकता है। माधुर्य (मधुरता) है रस का निरन्तर बराबर बना रहना। यही विभूति सच्ची 'ऋद्धि' है। यही अनन्त परिभोग उपलब्धि है।

अनन्त वीर्य (अनन्त सामर्थ्य)

वीतरागता की पाँचवीं उपलब्धि अनन्त वीर्य है। 'वीर्य' शब्द सामर्थ्य का द्योतक है। 'सामर्थ्य' असमर्थता का विरोधी है। अतः जहाँ असमर्थता है वहाँ सामर्थ्य का अभाव है। असमर्थता वहीं होती है जहाँ क्रिया या प्रवृत्ति करने की रुचि है। कारण कि करना शरीर, इन्द्रिय, मन, वस्तु, परिस्थिति आदि 'पर' पर निर्भर करता है। 'पर' पर निर्भर होना पराधीनता है। पराधीन होना ही 'असमर्थता' है। तात्पर्य यह है कि जहाँ करना है वहाँ पराधीनता है। जहाँ पराधीनता है वहाँ असमर्थता है।

वीर्यान्तराय एवं अनन्तवीर्य

सामर्थ्य की अभिव्यक्ति वीर्य है। असमर्थता का अनुभव वीर्यान्तराय है। वीर्य सामर्थ्य का द्योतक है। केवली वीतराग देव अनन्तवीर्यवान हैं-सामर्थ्यवान हैं। परन्तु उनमें किसी के विकार दूर करने, अपना व अन्य किसी का रोग या वेदना मिटाने, ज्ञान प्राप्त कराने, अपना या किसी का मरण टालने, आयु बढ़ाने, किसी के कर्म काटने का सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए उनके लिए सर्वसमर्थ विशेषण का प्रयोग नहीं किया गया। इसका तात्पर्य यह निकला कि वे केवल आत्मिक दोषों-अवगुणों को मिटाने व गुणों को प्रकट करने में ही समर्थ हैं। अपने से भिन्न शरीर, संसार आदि के बनाने, बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। प्राकृतिक विधान, विस्रसोपचित कर्म तथा कर्म-सिद्धान्त को बदलने में वे समर्थ नहीं हैं। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर वे अनन्तवीर्यवान कैसे हैं?

उत्तर में कहना होगा कि प्राकृतिक विधान या कर्मोदय एवं विस्रसा से घटित अनुकूल- प्रतिकूल घटनाएँ, परिस्थितियाँ, स्थितियाँ किसी भी सत्यान्वेषी साधक का कुछ भी बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। ये हानि-लाभ, बनाव-बिगाड़ में उनके लिए निमित्त बनती हैं, जो इससे भोग भोगना चाहते हैं। कारण कि भोग की पूर्ति वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करती है। जो त्यागी हैं उनके लिये सभी परिस्थितियां समान अर्थ रखती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कुछ भी अर्थ नहीं रखती हैं। क्योंकि जो भी परिस्थिति है, उसका उन्हें भोग नहीं करना है, उन्हें उसका उपयोग राग-निवारण के लिए करना है। राग का निवारण त्याग या संयम से होता है। त्याग व संयम में परिस्थिति का महत्त्व नहीं है, विवेक का एवं संकल्प की दृढ़ता का महत्त्व है, जिसका परिस्थिति से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

मानवमात्र विषय-कषाय एवं राग-द्वेष की निवृत्ति में समर्थ है और स्वाधीन है, कारण कि इनकी उत्पत्ति अविवेक से होती है। अविवेक विवेक के आदर से मिटता है, किसी प्रवृत्ति से नहीं। प्रवृत्ति के लिये पर की आवश्यकता होती है, पदार्थ पर किसी का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं हैं। भोग के लिये प्रवृत्ति की और योग (मुक्ति) के लिए निवृत्ति की, त्याग की आवश्यकता होती है। प्रवृत्ति की पूर्ति पराश्रित है, पराश्रय पराधीनता है, विवशता है, मुक्ति की प्राप्ति निवृत्ति से होती है, उसके लिये पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं होती है। आवश्यकता होती है पर के आश्रय के त्याग की। प्राणी अपने से भिन्न वस्तु को ग्रहण करने में पराधीन है, अतः असमर्थ है, ग्रहण करने के पश्चात् भी वस्तु का उससे आत्मसात् नहीं होता है। उसमें और वस्तु में भिन्नता बनी ही रहती है। जहाँ भिन्नता है, वहाँ परायापन है, जहाँ परायापन है वहाँ पराधीनता है। अतः प्रवृत्ति में आदि से अन्त तक, प्रवृत्ति के मूल से लेकर अन्त तक पराधीनता है। जहाँ पराधीनता है वहाँ असमर्थता है, वीर्यान्तराय का उदय है। जिसने इस तथ्य को समझ लिया है कि करने के अनुष्ठान के परिणाम में जो मिलता है वह रहता ही नहीं है अर्थात् करने का परिणाम शून्य है। इस तथ्य को समझ कर वह करने का त्याग कर निवृत्ति को या विश्राम को संवर-संयम-त्याग को अपनाता है तो असमर्थता से मुक्ति पा लेता है।

मुक्ति धर्म से मिलती है, धर्म त्याग में है, दोषों की निवृत्ति में है। त्याग करने में कोई असमर्थ तथा पराधीन नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझें- किसी व्यक्ति को दस ग्राम वजन का कागज का टुकड़ा उठाना है तो उसे उठाने के लिए हाथ में सामर्थ्य चाहिये। रोग या किसी कारण से यदि शक्ति नहीं है तो नहीं उठा सकता है, परन्तु हाथ में कुछ वजन या कागज का टुकड़ा है, उसे त्यागना है तो त्यागने के लिये किसी भी अंश में शक्ति या सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत वस्तु का ग्रहण करने में जो शक्ति व्यय हो रही है, उस शक्ति का व्यय रुक जायेगा। तब शक्ति का संचय बढ़ेगा। इसी प्रकार हमें पाँच नये पैसे या एक छोटा सा धागा भी चाहिये तो इन्हें प्राप्त करने के लिए पराश्रय लेना ही पड़ेगा, पराधीन होना ही पड़ेगा।

जो प्राणी अपने भोग की कामना की पूर्ति के लिए प्रवृत्ति करता है उसकी शक्ति क्षीण होती है अर्थात् उसके सामर्थ्य का ह्रास होता है। अंत में वह थक जाता है। थक जाने का मतलब ही असमर्थ होना है, वीर्यान्तराय का उदय होना है।

जो प्राणी जितना अधिक भोग में अनुरक्त है, भोग के अधीन है, वह उतना ही अधिक पराश्रित है, उतना ही अधिक निर्बल है, असमर्थ है। जो प्राणी भोग से जितना विरक्त है, वह प्राणी उतनी ही कम असमर्थता का अनुभव करता है। उसके उतना ही वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है। जो साधक भोग का सर्वथा व पूर्ण त्याग कर वीतराग हो जाता है, अपने सुख के लिए संसार से कुछ भी नहीं चाहता वह पराश्रय से पूर्ण मुक्त हो जाता है। उसे लेशमात्र भी असमर्थता का अनुभव नहीं होता है। वह अनन्त सामर्थ्यवान हो जाता है। उसके वीर्यान्तराय का पूर्ण क्षय हो जाता है।

भोग-प्रवृत्ति या परिग्रह के कारण उत्पन्न हुआ पराश्रय, असमर्थता या वीर्यान्तराय है। भोगेच्छा में हुई कमी वीर्यान्तराय के क्षयोपशम का कारण है। भोग, पराश्रय व परिग्रह का पूर्ण त्याग ही वीर्यान्तराय का क्षय है। जो अनन्त सामर्थ्य का, अन्नत वीर्य का द्योतक है।

त्याग की अधिकता के कारण ही संयमी जीव के गृहस्थ से अधिक वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है। त्याग की पूर्णता के कारण ही वीतराग केवली प्रभु के वीर्यान्तराय का क्षय है- अनन्तवीर्य व सामर्थ्य है। उन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, अतः उनके लेशमात्र भी अन्तराय कर्म का उदय नहीं है। असमर्थता व वीर्यान्तराय का उदय वहीं है जहाँ कर्ता भाव तथा भोक्ताभाव है। जहाँ कर्ताभाव या भोक्ताभाव नहीं है- ज्ञाता-द्रष्टाभाव है, वहाँ असमर्थता का व वीर्यान्तराय का क्षयोपशम या क्षय है। करना शेष न रहने से असमर्थता का अन्त हो जाता है और अनन्त सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। 'करने' से मुक्ति वही पाता है जिसने विषय के सुख भोग का, राग का त्याग कर दिया हो। कारण कि जिसने विषय सुख का त्याग कर दिया उसे संसार से कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। जिसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता उसे कुछ करना शेष नहीं रहता। जिसे भोगना, पाना, करना शेष नहीं रहता वही पूर्ण समर्थ है, वही अनन्त वीर्यवान् है।

जिसने इस तथ्य को समझ लिया है कि कर्म-अनुष्ठान के परिणाम में जो मिलता है वह रहता ही नहीं है, अर्थात् करने का परिणाम शून्य है, वह 'करने का' त्याग कर निवृत्ति को या विश्राम को, संवर-संयम-त्याग को अपनाता है तो वह असमर्थता से मुक्ति पा लेता है। कारण कि विश्राम में अर्थात् संवर-संयम-त्याग-निवृत्ति में किसी अन्य 'पर' की अपेक्षा ही नहीं होती है। यह स्वयं 'करना' होता है। जिसे स्वयं करना है उसके करने में मानव मात्र स्वाधीन एवं समर्थ है। यही अनन्त वीर्य, अनन्त सामर्थ्य है।

तात्पर्य यह है कि विषय-भोग या असंयम से ही प्रवृत्ति करने की रुचि उत्पन्न होती है। करने में शक्ति क्षय होती है और अन्त में असमर्थता आ जाती है। इसके विपरीत संयम-त्याग-निवृत्ति में असमर्थता की गन्ध भी नहीं है। मानवमात्र करने में सक्षम व समर्थ है। पूर्ण संयमी वीतराग के कर्तृत्व व भोक्तृत्व भाव का अन्त हो जाता है, जिससे करना शेष नहीं रहता है। करना शेष न रहने से असमर्थता का अन्त हो जाता है और अनन्त सामर्थ्य की, अनन्त वीर्य की अभिव्यक्ति हो जाती है।

'करने' से मुक्ति वही पाता है जिसने विषय के सुख-भोग के राग का त्याग कर दिया हो। कारण कि जिसने विषय-सुख का त्याग कर दिया उसे संसार से कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है। जिसे कुछ भी पाना शेष नहीं रहता उसे कुछ भोगना शेष नहीं रहता। जिसे भोगना, पाना शेष नहीं रहता उसे कुछ करना भी शेष नहीं रहता है। जिसे भोगना, पाना, करना शेष नहीं रहता, वही पूर्ण समर्थ है, वही अनन्त वीर्यवान है।

वीतराग को अनन्त दान के रूप में अनन्त औदार्य या कारुण्य, अनन्त लाभ के रूप में अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त भोग के रूप में अनन्त सौन्दर्य, अनन्त परिभोग के रूप में अनन्त माधुर्य, अनन्त वीर्य के रूप में अनन्त सामर्थ्य, सम्यक्त्व के रूप में स्वानुभूति, अनन्त दर्शन के रूप में अनन्त चिन्मयता (चैतन्य), अनन्त ज्ञान के रूप में सर्वज्ञता एवं अनन्त चारित्र के रूप में अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुख की उपलब्धि होती है। ये नौ उपलब्धियाँ नौ निधियाँ हैं, नौ विभूतियाँ हैं। ये नौ निधियाँ वीतराग-परमात्मा के ईश्वरीय गुण हैं।

इन नौ निधियों में से प्रथम पाँच-1. औदार्य, 2. ऐश्वर्य, 3. सौन्दर्य, 4.माधुर्य और 5. सामर्थ्य को हम क्रमशः 1. श्री (श्रेष्ठ), 2. लाभ, 3. शुभ 4. ऋद्धि और 5. सिद्धि रूप उपलब्धियाँ भी कह सकते हैं।

ये उपलब्धियाँ अक्षय, अव्याबाध (अन्तरायरहित) एवं अनन्त रूप में होती हैं। अतः इनसे मिलने वाला सुख भी अक्षय, अव्याबाध एवं अनन्त रूप होता है। इस सुख में क्षति-पूर्ति, तृप्ति-अतृप्ति, निवृत्ति-प्रवृत्ति नहीं होती। यह सुख विषय-सुख से विलक्षण होता है, जो अनुभवगम्य है। इस सुख का विशेष विवेचन 'अक्षय-अव्याबाध-अनन्त सुख-वैभव' के रूप में आगे किया जा रहा है।

मोक्ष : एकान्तसुख

उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३२ गा. २ में कहा है कि:-

एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं।।

अर्थात् - वीतराग साधक एकान्त (दुःखसहित) सुख को प्राप्त करता है। यह ही तथ्य बौद्ध आगम धम्मपद में भी कहा है।

'निव्वाणं परमं सुखं' (धम्मपद २०३-२०४)

अर्थात् - निर्वाण में परम सुख है। परम सुख वह है जो क्षणिक नहीं हो, स्थायी रहे, जिस सुख में दुःख नहीं हो। यह सुख उसी को मिलता है जो इन्द्रिय भोगों के क्षणिक सुख के प्रलोभन के राग से मुक्त होता है। राग से मुक्त वह होता है जो ध्यान साधना से इन्द्रिय-विषय के सुख में दुःख का दर्शन करता है अर्थात् प्रज्ञावान है, स्थित प्रज्ञ है।

संसार में दुःख किसी भी प्राणी को पसंद नहीं है। सभी प्राणी सदा सुख चाहते हैं। सभी व्यक्ति दुःख से मुक्त होने एवं सुख पाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति, परिश्रम, प्रयत्न का उद्देश्य भी यही है। आज तक प्रत्येक व्यक्ति ने इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रयत्न किया है। फलस्वरूप विषय भोग की सामग्री के संग्रह का ढेर लग गया परन्तु उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई। जैसे-जैसे सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया, साधन-सामग्री जुटायी-सुविधा भी बढ़ी। परन्तु चित्त शान्त नहीं हुआ, अभाव व द्वन्द्व नहीं मिटा, सन्तुष्टि नहीं हुई, चिन्ता नहीं मिटी, प्रत्युत ये सब बढ़ते गये। अशान्ति, अभाव, चिन्ता, द्वन्द्व ये दुःख के ही द्योतक हैं। कामनापूर्ति एवं सामग्री प्राप्ति से जो सुख मिलता प्रतीत हुआ, वह भी नहीं रहा। जबकि जिस सामग्री से, निमित्त से सुख मिला वह सामग्री व निमित्त ज्यों का त्यों मौजूद है। यदि सामग्री से एवं संग्रह से सुख मिलता तो सामग्री-संग्रह रहते सुख बना रहना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे यह फलित होता है कि सामग्री-संग्रह से सुख नहीं मिलता। तथा जो सुख मिलता प्रतीत होता है, वह भी नहीं रहता। इससे यह सिद्ध होता है कि उस प्रतीत होने वाले सुख का भी अस्तित्व नहीं है। केवल आभास मात्र है। यहाँ ही यह जिज्ञासा होती है कि जीवन में सुख का अस्तित्व भी है या नहीं? इस पर विचार यह करना है कि सुख का स्वरूप क्या है? विचार करने से सुख दो प्रकार का ज्ञात होता है-

१. दुःख निहित सुख (दुःख युक्त सुख) यह निकृष्ट एवं क्षणिक है और २. दुःख रहित सुख (दुःख मुक्त सुख), यह उत्कृष्ट-सर्वश्रेष्ठ, परम सुख है। यह परम सुख तभी मिलता है जब साधक के जीवन में दुःखयुक्त सुख की दासता एवं सुख का प्रलोभन कुछ भी शेष नहीं रहता है। सर्वांश में सुख की दासता एवं प्रलोभन का नाश होने पर अवर्णनीय परम सुख का स्वतः अनुभव हो जाता है।

दु:ख निहित सुख वह है जो असत्, विनाशी, अपने से भिन्न उन वस्तुओं को मिलता है जिन पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के माध्यम से एवं इन्द्रियों के विषयों की भोग सामग्री से जो सुख मिलता प्रतीत होता है उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और उस पर हमारा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। माना हुआ अधिकार है जो किसी भी क्षण क्षीण व क्षय (नष्ट) हो जाता है। जिसके होते ही प्रतीत होने वाले सुख को बनाये रखना चाहने पर उनके न रहने से अभाव, चिन्ता, खिन्नता एवं शोक रूप दु:ख होता है। अत: इन्द्रियजन्य, पर पदार्थ एवं सामग्री व निमित्त से मिलने वाले सुख का अन्त दु:ख में होने से इस सुख में दु:ख निहित है, यह सुख दु:ख गर्भित है, यह सुख दु:ख युक्त है। यह प्राकृतिक विधान एवं नैसर्गिक नियम है। तथा यह सुख प्रति क्षण क्षीण होता है और अन्त में इसका अन्त दु:ख में होता है। अत: यह सुख-दु:ख रूप ही है। दु:ख रहित सुख वह है जो नश्वर, विनाशी पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, मन एवं सांसारिक वस्तुओं से असंग एवं अतीत होने पर मिलता है, यह अलौकिक सुख है। यह सुख तीन प्रकार का है:- १. अक्षय सुख, २. अव्याबाध अखंड-पूर्ण सुख और ३. अनन्त सुख, यह एकान्त (परम) सुख कहलाता है। ये तीनों सुख (तृष्णा) के त्याग से मिलते हैं। राग के तीन रूप हैं- १. अप्राप्त वस्तु की कामना, २. प्राप्त वस्तु की ममता-मेरापन एवं ३. अपने से भिन्न-नश्वर पदार्थ के तादात्म्य 'अहंत्व'। इन तीनों प्रकार की तृष्णा के त्याग से तीनों प्रकार का सुख मिलता है।

अक्षय सुख

कामना के त्याग से शान्ति की अनुभूति होती है। शान्ति का रस या सुख कामना पूर्ति के सुख की तरह प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नहीं होता है। प्रत्युत अक्षय व अक्षुण्ण होता है। जब तक पुन: कामना की उत्पत्ति नहीं होती है तब तक शान्ति का सुख बराबर बना रहता है, इसमें कमी या क्षीणता नहीं आती है और न यह नीरसता में ही बदलता है। अत: शान्ति का रस या सुख अक्षय सुख है, जिसकी उपलब्धि कामना-त्याग से ही सम्भव है।

अव्याबाध सुख

ममता के त्याग से स्वाधीनता की अनुभूति होती है। स्वाधीनता से स्वरस, निजरस, अविनाशीरस या सुख की अनुभूति होती है। यह सुखानुभूति अविनाशी स्वरूप की होती है। अत: यह भी अविनाशी होती है। स्वाधीनता स्वाश्रित होने से

इस सुख में विघ्न व बाधा डालने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। स्वाधीनता ही मुक्ति है। अतः स्वाधीनता या मुक्ति का सुख अबाधित, अव्याबाध-अखण्ड होता है। यह अक्षय तो होता ही है, पूर्ण होने से अखण्ड भी होता है।

अनन्त सुख

कामना, ममता के त्यागने पर तादात्म्य या अहंभाव मिट जाता है जिसके मिटते ही रागरहित वीतराग अवस्था का अनुभव होता है। रागरहित होते ही अनन्त प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, फिर प्रेम का रस सागर की लहरों की तरह लहराता है, सदैव उमड़ता रहता है। इस रस की न तो क्षति होती है, न निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है, न अपूर्ति होती है, न तृप्ति होती है, न अतृप्ति होती है। यह सुख क्षतिरहित होने से अक्षय, निवृत्ति नहीं होने से अव्याबाध, पूर्ति-अपूर्ति रहित होने से अखण्ड पूर्ण एवं तृप्ति-अतृप्ति रहित होने से अनन्त नित्यनूतन होता है। यह विलक्षण रस है अतः बुद्धि-गम्य नहीं होकर अनुभवगम्य है।

अनन्त वैभव

मैत्रीभाव या प्रेम की प्राप्ति वहीं होती है जहाँ स्वार्थपरता नहीं है। जहाँ स्वार्थ-परता है वहाँ दृष्टि अपने ही सुख पर रहती है, भले ही इससे दूसरों का अहित हो या उन्हें दुःख हो। इससे संघर्ष और सन्ताप उत्पन्न होता है। स्वार्थी व्यक्ति सिमट या सिकुड़ कर एक संकीर्ण से, छोटे से घेरे में आबद्ध हो जाता है। उसकी संवेदनशीलता तिरोहित हो जाती है। उसके हृदय में क्रूरता, कठोरता व जड़ता आ जाती है। फिर वह हिंसक पशु से भी निम्न स्तर वाला दानव का जीवन जीने लगता है, पशु के समान इन्द्रिय भोग तो भोगने ही लगता है साथ ही अमानवीय अधम व्यवहार भी करने लगता है। इसके विपरीत जो प्राप्त सामग्री, योग्यता, बल का उपयोग उदारतापूर्वक दूसरों के हित में करता है, उसे इस सेवा से जो प्रसन्नता या सुख मिलता है, वह निराला ही होता है। यह सुख प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नहीं होता है, अक्षुण्ण या अक्षय रस वाला होता है। यही कारण है कि जब-जब उसे पूर्वकृत सेवा की घटना की स्मृति आती है, हृदय प्रेम व प्रसन्नता से भर जाता है अर्थात् सेवा का सुख नित्य नूतन रहता है। कभी पुराना नहीं होता है जबकि स्वार्थी व भोगी व्यक्ति को जब-जब पूर्व में भोगे भोग की घटना की स्मृति आती है तब-तब उसके हृदय से पुनः उस भोग को भोगने की कामना उत्पन्न होती है जिससे हृदय में अशान्ति व अभाव उत्पन्न हो जाता है, तात्पर्य यह है कि भोग के सुख का परिणाम शून्य व दुःख है तथा सेवा के सुख का परिणाम नित्य नूतन व अक्षय रस की उपलब्धि है।

मोक्षमार्ग के सूत्र

मुक्ति प्रदायक गाथाओं से आगम पूरा भरा हुआ है। उनमें से कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं:-

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः - तत्त्वार्थ सूत्र १.१

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ उत्तरा:. २८.३५

(मनुष्य) ज्ञान से जीवादि पदार्थों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से (कर्मास्त्रव का) निरोध करता है और तप से विशुद्ध होता है।

संजोअसिद्धीए फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ।

अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा॥

- समणसुत्तं, २१३

कहा जाता है कि ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही फल की प्राप्ति होती है, जैसे कि वन मे पंगु और अन्धे के मिलने पर पारस्परिक सम्प्रयोग से (वन से निकलकर) दोनों नगर में प्रविष्ट हो जाते हैं। एक पहिये से रथ नहीं चलता।

हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया।

पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ॥ - समणसुत्तं, २१२

क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है। जैसे पंगु व्यक्ति वन मे लगी आग को देखते हुए भी भागने में असमर्थ होने से जल मरता है और अन्धा व्यक्ति दौड़ते हुए भी देखने में असमर्थ होने से जल मरता है।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

- उत्तरा. अ. २८.३०

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्रगुण नहीं होता। चारित्रगुण के बिना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण (अनन्तानन्द) नहीं होता।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।

असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।। – उत्तरा. अ. ३१.२

एक ओर से विरति (निवृत्ति) करे अर्थात् असंयम से निवृत्ति करे तथा एक ओर प्रवृत्ति करे अर्थात् संयम में प्रवृत्ति करे।

रागदोसे य दो पावे, पाव-कम्म पवत्तणे।

जे भिक्खू रुम्भइ णिच्चं, ते ण अच्छइ।। – उत्तरा. अ. ३१ गा. ३

राग और द्वेष ये दोनों पापरूप हैं। जो साधक इन पाप कर्मों में प्रवृत्ति करने से अपनों को रोकता है, वह जन्म-मरण रूप संसार में भव भ्रमण नहीं करता है।

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

वदसमिदिगुत्तिरूवं, ववहारणया दु जिणभणियं॥ – समणसुत्तं, २६३

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही व्यवहारचारित्र है, जो पाँच व्रत, पाँच समिति व तीन गुप्ति के रूप में जिनदेव द्वारा प्ररूपित है।

सक्किरियाविरहातो, इच्छितसंपावयं ण नाणं ति

मग्गण्णू वाघ्चेट्ठो, वाताविहीणोध्धवा पोतो॥ – समणसुत्तं, २६५

(शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी) सत्क्रिया चारित्र से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार पुरुष इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता।

सुबहुं पि सुयमहीयं किं काहिइ चरणविप्पहीणस्स।

अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि॥ – समणसुत्तं, २६६

चारित्रशून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ ही है, जैसे कि अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीपक जलाना व्यर्थ है।

थोवम्मि सिक्खिदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।

जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण॥ – समणसुत्तं, २६७

चारित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चारित्रविहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।

विशेष जानकारी के लिए निम्नांकित अध्याय पठनीय हैं- **सम्यग्दर्शन**- सम्यग्दर्शन : स्वरूप एवं महत्त्व, सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय : जड़-चेतन, ग्रंथिभेदन, दर्शन गुण का विकास-क्रम : स्वसंवेदन और निर्विकल्पता; **सम्यग्ज्ञान**-सम्यग्ज्ञान : श्रुतज्ञान, पंचविधज्ञानों का स्वरूप एवं महत्त्व; **सम्यक्चारित्र**-सम्यक् चारित्र का स्वरूप एवं साधना के तीन रूप, आस्रव-संवर, मुक्ति में सहायक : त्यागमय जीवन, सम्यक्चारित्र से चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय, शुभयोगः संवर; **सम्यक्तप**-तप का स्वरूप एवं भेद, तप प्रक्रिया से कर्मनिर्जरा, ध्यान तप : कर्मक्षय की साधना, कायोत्सर्ग तप से मुक्ति प्राप्ति : एक अनुचिन्तन, तप : दुःख-विमुक्ति का उपाय।

आमुख

('मोक्ष तत्त्व' पुस्तक से उद्धृत भूमिका)

- डॉ. धर्मचन्द जैन

आज व्यक्ति को स्वर्ग और मोक्ष शब्द आकर्षित नहीं करते। वह वर्तमान जीवन में ही सुख की तलाश करता है। ऐन्द्रियक सुखों में वह आसक्त रहता है तथा उसी सुख को पूर्ण मानकर सारा जीवन उस सुख की पूर्ति में लगा देता है। किन्तु इन्द्रियजनित सुखों को भोगने के पश्चात् भी उसके दुःख का अभाव नही होता। सुख सामग्री को जुटाने में वह सदैव सन्नद्ध रहता है, किन्तु दुःख उसका पीछा नहीं छोड़ता। उसे लाख बार यह समझाया जाए कि इन्द्रिय के विषय भोगों में आसक्त मत बनो तथा जीवन में अधिक परिग्रह एकत्रित मत करो, तथापि मनुष्य को यह बात गले नहीं उतरती है। वह दुनिया के सुख-सुविधा सम्पन्न लोगों को देखता है तथा उनको देखकर उस ओर आकर्षित होता रहता है तथा जिस प्रकार दूसरों ने सुख-सुविधा जुटाई है तथा नीति-अनीतिपूर्वक अथाह धन-समृद्धि प्राप्त की है, उसी प्रकार वह भी बिना अधिक सोचे समझे उसी मार्ग का अनुसरण करता है। दूसरों के दुःख की उसे चिन्ता नहीं होती, दूसरों की हिंसा करके अथवा उनको धोखा देकर या शोषण करके भी वह अधिकाधिक धन-सम्पत्ति को जुटाने में सन्नद्ध रहता है। उसकी कतिपय इच्छाएँ या कामनाएँ पूर्ण होने पर वह विराम नहीं लेता, अपितु उसकी कामनाएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं। कामना की पूर्ति के लिए वह आतुर बना रहता है। अतः झूठ-फरेब का प्रयोग करके भी वह अपनी कामना को पूरी करना चाहता है।

कामना व्यक्ति को अभिप्रेरित तो करती है, किन्तु उसे सही दिशा का बोध नहीं कराती। व्यक्ति कामना के आधार पर ही अपनी भौतिक उन्नति के स्वप्न

देखता है। पढ़ना, लिखना, किसी पद को प्राप्त करना, व्यवसाय को उन्नत बनाना या अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना बिना कामना के सम्भव नहीं होता है। कामना व्यक्ति को निरन्तर किसी कार्य में प्रवृत्त रखती है। कामना एक प्रकार से व्यक्ति के जीवित होने का परिचय है। वह अपनी समस्त प्रगति इच्छाओं, अभिलाषाओं, कामनाओं अथवा महत्त्वाकांक्षाओं के आधार पर करता है। इसलिए कामना व्यक्ति के जीवन से समाप्त नहीं हो पाती है। न्यून या अधिक रूप में सभी संसारी जीव कामना से युक्त होते हैं।

समस्या यह है कि कामनाओं के अनुसार जीवन जीने पर एवं उनमें से कई की पूर्ति होने पर भी मनुष्य दु:ख-मुक्त नहीं होता, बल्कि अधिक कामना वाला व्यक्ति अधिक दु:खी देखा जाता है। इसलिए यह तथ्य उभरकर आता है कि कामना से समस्त दु:खों का निवारण नहीं होता। अन्न, वस्त्र, आवास आदि आवश्यक साधनों की प्राप्ति में भी यद्यपि कामना सहायक है, तथापि वह मनुष्य के मानसिक क्लेशों का निवारण नहीं कर पाती है, अपितु कामना के द्वारा व्यक्ति स्वयं तनावग्रस्त रहता है तथा दूसरों के साथ भी उसका व्यवहार मैत्रीपूर्ण या हितकारी नहीं हो पाता है। मानसिक क्लेशों का निवारण करने के लिए विषय भोगों की कामना, अथवा विषय-भोग समर्थ साधन नहीं बन पाते हैं। इसलिए उन क्लेशों के निवारण हेतु नये उपाय की आवश्यकता होती है। कुछ लोग मद्यपान अथवा अन्य नशे के साधनों को अपनाकर अपने मानसिक क्लेशों को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे उनसे मुक्त नहीं हो पाते। इन क्लेशों से मुक्ति ही मोक्ष है जो व्यक्ति की आन्तरिक दृष्टि एवं उसकी समझ को सम्यक् बनाने पर ही सम्भव है। व्यक्ति की सोच जब तक सही नहीं होगी तब तक मानसिक क्लेशों एवं दु:खों से स्थायी मुक्ति नहीं हो सकती।

भारतीय परम्परा में दु:खों से स्थायी मुक्ति के लिए पर्याप्त चिन्तन हुआ है। जैनधर्म भी इसका एक प्रमुख निदर्शन है। **उमास्वाति ने प्रशमरतिप्रकरण में मोक्ष के स्थायी सुख की ओर ले जाने वाले प्रशमसुख की चर्चा की है।** उनको ज्ञात था कि स्वर्ग के सुख और मोक्ष के सुख परोक्ष होने के कारण इन पर मनुष्य का विश्वास होना कठिन है। इसलिए उन्होंने इस जीवन में अनुभव होने वाले प्रशमसुख के स्वरूप को समझा तथा उसे प्रस्तुत कर आमजन को उसकी ओर आकर्षित किया। प्रशमसुख वह सुख है जिसका आस्वादन कोई भी व्यक्ति अपने क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों का शमन करके प्राप्त कर सकता है। क्रोधी व्यक्ति जब अपने क्रोध को कुछ अंशों में नियंत्रित कर लेता है तो उसे जिस शान्ति का

अनुभव होता है, वह प्रशमसुख का ही द्योतक है। इसी प्रकार अहंकारी व्यक्ति जब अहंकार पर विजय के चरण बढ़ाता हुआ विनय को जीवन में अपनाता है तो उसे जिस सुख का अनुभव होता है वह प्रशमसुख है। मायावी व्यक्ति जब अपने मायाचार को नियंत्रित कर दूसरों के साथ सरलता का व्यवहार करता है तो उसे जिस सुख का अनुभव होता है वह प्रशमसुख है। इसी प्रकार लोभ के जाल में फंसा व्यक्ति संतोष का सूत्र अपनाता है तो उसे जिस सुकून का अनुभव होता है वह प्रशमसुख है। इस तरह प्रशमसुख अपने मानसिक क्लेशों या आत्मिक विकारों पर नियंत्रण से प्राप्त होता है। इस प्रशमसुख का अनुभव करने के लिए धन की आवश्यकता नहीं होती। अमीर हो या गरीब, कोई भी व्यक्ति इस प्रशमसुख का अनुभव कर सकता है। ऐन्द्रियक सुख से अलग होने के कारण इसे आनन्द भी कह सकते हैं। यह शान्ति का सुख है।

इसका तात्पर्य हुआ कि मनुष्य के दु:ख का कारण बाह्य वस्तुओं का अभाव नहीं, अपितु उसके मानसिक क्लेश हैं। इन क्लेशों में सबसे बड़ा क्लेश अज्ञान या अविद्या है। अविद्या के कारण ही मनुष्य इन्द्रिय के विषय भोगों को ही सुख का केन्द्र मानता है। वह उससे ऊपर उठकर सत्य को देख ही नहीं पाता है। भोगों के सुख में बनी आसक्ति उसके दृष्टिकोण को मलिन बनाये रखती है। वह जिस दिन भोगों के सुख को पूर्ण न मानकर अपने भीतर विद्यमान विकारों को दु:ख का कारण समझेगा, उस दिन उसके दृष्टिकोण की मलिनता का नाश होगा। वह फिर दूसरों को देखकर अंधकार के मार्ग पर नहीं चलेगा। उसके भीतर उसे उजाले का अनुभव होगा और उस प्रकाश से उसे अपना रास्ता दिखाई देने लगेगा। फिर वह अपने विवेक के प्रकाश में देखे हुए रास्ते पर अधिक आश्वस्त रहेगा। वह यदि उस रास्ते पर चलने हेतु दृढ़ रहेगा तो उसे अपने भीतर में विद्यमान दु:ख के कारणों का उच्छेद होता हुआ दिखाई देगा। वह समझ सकेगा कि पहले वह जिन छोटे-छोटे तुच्छ कारणों से दु:खी हो जाता था, वह अब उन कारणों के होते हुए भी दु:खी नहीं होता, अपितु भीतरी आनन्द का अनुभव करता है।

वाचक उमास्वाति का कथन है -

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तं परोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम्।

- प्रशमरतिप्रकरण, 237

स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं। उनके बारे में हम केवल पढ़ते एवं सुनते हैं। उनका कभी हमने अनुभव नहीं किया। मरने पर ही स्वर्ग के सुख का अनुभव हो सकता है। इसलिए स्वर्ग का सुख हमें आकर्षित नहीं करता है। उमास्वाति कहते हैं कि मोक्ष का सुख तो और भी परोक्ष है, उस पर हम कैसे विश्वास करें ? प्रशमसुख ऐसा सुख है जो प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है, उसे अनुभव करने में किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है एवं उसमें धन आदि का व्यय भी अपेक्षित नहीं है। वह प्राप्त होने के पश्चात् इन्द्रिय सुख की भाँति क्षीण नहीं होता है। इसलिए यह सुख सबको अभीष्ट हो सकता है।

प्रशमसुख का अनुभव व्यक्ति को मोक्ष के स्थायी अव्याबाध सुख की ओर ले जा सकता है, क्योंकि प्रशमसुख रागादि विकारों का आंशिक शमन होने पर प्राप्त होता है तथा मोक्ष का सुख इन विकारों का पूर्ण क्षय होने पर प्राप्त होता है। जो विकारों के आंशिक शमन से आनन्दानुभूति करता है उसे पूर्ण आनन्दानुभूति की उत्कण्ठा जागृत हो सकती है एवं वह उस मार्ग पर आगे बढ़कर मोक्ष प्राप्ति के लिए उद्यत हो सकता है।

प्रशमसुख का अनुभव होने पर भी प्रज्ञा का जागरण आवश्यक है। प्रज्ञा जागृत न हो तो विकारों का उत्पात कभी भी दिग्भ्रान्त कर सकता है। कोई साधक प्रज्ञा के सुप्त होने पर प्रशमसुख पर भी अटक सकता है। इसलिए साधक सदैव जाग्रत होता है - **मुणिणो सया जागरंति।** जब तक अपने भीतरी विकार पूर्णतः दूर न हों तब तक मनुष्य को कहीं अटकना नहीं चाहिए। प्रशमसुख में भी आसक्ति का अटकाव नहीं होना चाहिए। जो जहाँ अटक जाता है, वह वहाँ से आगे नहीं बढ़ पाता। मोक्ष का पथ इसलिए सजगता का पथ है। जो प्रतिपल सजग रहकर जीता है, वह आगे बढ़ता जाता है। अपने गुणों का पूर्ण विकास सजगता से ही सम्भव है। अपनी चेतना का पूर्ण विकास ही मोक्ष की प्राप्ति है। चेतना पर जब जड़ का प्रभाव समाप्त हो जाता है तब मोक्ष का अनुभव होता है।

मोक्ष या मुक्ति का दूसरा नाम पूर्ण स्वतन्त्रता है। मनुष्य जब इन्द्रियों के विषय सेवन के लिए लोलुप होता है अथवा कामनाओं के जाल में लिपटा रहता है, तब वह पराधीन होता है। उसे पर पदार्थों की आवश्यकता होती है, उनकी पूर्ति के लिए वह परमुखापेक्षी होता है। अज्ञान या अविद्या के कारण वह व्यक्ति स्वयं को भले ही स्वतन्त्र समझता रहे, किन्तु वास्तव में वह अपनी इच्छाओं, वासनाओं का

गुलाम होता है। यह गुलामी उसकी आत्मिक स्वतन्त्रता को बाधित करती है। जिस प्रकार मदिरापान का व्यसनी व्यक्ति मदिरा का गुलाम होता है, उसी प्रकार विषय वासनाओं से घिरा हुआ व्यक्ति भी पराधीनता की बेड़ी में जकड़ा रहता है। जितना-जितना व्यक्ति भोगेच्छाओं के दंश से ग्रस्त होता है, उतनी-उतनी उसकी स्वतन्त्रता विलुप्त होती जाती है। वह चाहते हुए भी इच्छाओं पर विजय नहीं प्राप्त कर पाता। यही उसकी विवशता या पराधीनता है। पराधीन व्यक्ति को मुक्त नहीं कहा जा सकता।

पराधीनता स्थायी सुख का मार्ग नहीं है। इसलिए अपनी समझ को बदलने एवं उसे सम्यक् बनाने की आवश्यकता है। दृष्टि का सम्यक् बनना ही सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा दृष्टि के सम्यक् होते ही अज्ञान ज्ञान में परिणत हो जाता है। यही साधना का मूल है। इसी से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। ज्ञान के सम्यक् होने पर जो भी क्रिया की जाती है, वह स्वतः सम्यक् होती है। यह सम्यक् क्रिया ही सम्यक् चारित्र कही जाती है। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों के समन्वित रूप को मोक्षमार्ग कहा गया है। सम्यक् चारित्र के अन्तर्गत सम्यक्तप का भी समावेश हो जाता है। किन्तु आगमों में तप को पृथक् से भी निर्दिष्ट किया गया है, क्योंकि तप आत्म-शुद्धि में एवं संचित कर्ममल को दूर करने में सहायक है।

जैनदर्शन में मोक्ष तभी सम्भव है जब मोह कर्म का पूर्ण क्षय हो जाए। मोह ही व्यक्ति की दृष्टि को मलिन तथा उसके आचरण को क्रोधादि विकारों से अशुद्ध बनाए रखता है। इसलिए जब दृष्टि सम्यक् हो जाती है तो दृष्टि सम्बन्धी मलिनता समाप्त हो जाती है। वह निर्मल बन जाती है। यही सम्यग्दर्शन है। क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, काम, भय, शोक आदि विकारों का मोहकर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह विकार मनुष्य को दुःखी बनाये रखते हैं। इनके कारण आचरण में अशुद्धता बनी रहती है। इनकी अशुद्धि दूर करने के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है। अर्थात् सम्यक्चारित्र के द्वारा आचरण सम्बन्धी अशुद्धि को दूर किया जा सकता है। इस अशुद्धि को दूर करने में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की भी भूमिका रहती है, क्योंकि सम्यक्चारित्र इनके बिना सम्भव नहीं है।

मनुष्य की मान्यता या विचारधारा का उसके सम्पूर्ण जीवन पर गहरा प्रभाव होता है। वह अपने मान्यता के अनुसार ही जीवन जीता है। जिसने यह मान रखा है

कि मैं संसार के समस्त भोगों की सामग्री जुटाकर सुखी हो सकता हूँ तो वह उसी के अनुरूप प्रयत्नशील रहता है। भले ही फल में उसे दु:ख ही क्यों न भोगना पड़े। ऐसी मान्यता लक्ष्य की प्राप्ति के अनुरूप नहीं होने से मिथ्या कहलाती है। इस मिथ्या मान्यता का नाश होने पर विचारधारा सम्यक् बनाती है। सम्यक् विचारधारा वाला व्यक्ति ही प्रशमसुख एवं मोक्षसुख की ओर कदम बढ़ाता है।

मोक्ष को जैनदर्शन में परिभाषित करते हुए कहा गया है कि ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का जब पूर्णत: क्षय हो जाता है तो वह मोक्ष है। क्योंकि इन आठ कर्मों के कारण मनुष्य संसार में अटका रहता है, पूर्णत: मुक्त नहीं होता। इन आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय ये चार कर्म मुक्ति में विशेष बाधक हैं। आत्मगुणों को हानि पहुँचाने के कारण इन्हें घाती कर्म कहा गया है। इन घाती कर्मों का क्षय होने पर मोहकर्मजन्य दु:खों से छुटकारा मिल जाता है। अत: यह जीवन में मोक्ष का अनुभव है। आठ कर्मों में से शेष वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र कर्म जब तक क्षय नहीं होते तब तक शरीर का साथ बना रहता है। किन्तु जीव तब भी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त वीर्य आदि गुणों से सम्पन्न होता है।

मोक्ष से कई लोग भय खाते हैं, क्योंकि मोक्ष होने पर इस जीवन में प्राप्त सुखों से वंचित होने की आशंका रहती है। किन्तु जैनधर्म के अनुसार अष्टकर्मों के क्षयरूप मोक्ष के प्राप्त हो जाने पर भी जीव या आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। वह आत्मा पूर्ण विकसित एवं निर्मल आत्मा होती है। वह परमात्मस्वरूप होती है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्त वीर्य आदि गुण होते हैं। वहाँ दु:ख एवं विकार का लेश भी नहीं होता। पूर्ण आनन्द एवं अव्याबाध सुख की अनुभूति मोक्ष का स्वरूप है। वहाँ अज्ञान या अविद्या रंचमात्र भी नहीं होती।

यह पुस्तक अनेक गूढ़ रहस्यों को प्रकट करती है तथा मानव के मनोविज्ञान को समझकर लिखी गई है। पुस्तक में आध्यात्मिक उन्नति एवं दु:ख-मुक्ति का मार्ग अनुभव और तर्क दोनों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। आगमिक मान्यताओं को दृष्टि में रखकर अनेक सुग्राह्य समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। जैन सिद्धान्तों के ज्ञाता विद्वानों को भी इस पुस्तक में नवीनता का दर्शन होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरण के लिए सम्यग्दर्शन का दर्शनोपयोग के साथ लेखक ने घनिष्ठ सम्बन्ध निरूपित किया है। दर्शनोपयोग निर्विकल्पक होता है तथा सम्यग्दर्शन में

भी निर्विकल्पता पाई जाती है। दर्शन गुण ही चेतना का आधारभूत मूल गुण है। इसकी पहली विशेषता संवेदनशीलता है तथा दूसरी विशेषता निर्विकल्पता है। संवेदनशीलता एवं निर्विकल्पता का अनुभव वहाँ ही सम्भव है जहाँ समभाव का अनुभव होता है। जहाँ समभाव है वहाँ कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव न होकर द्रष्टाभाव होता है। द्रष्टाभाव के विकास के साथ ही जड-चिद् ग्रन्थि का भेदन होता है जो सम्यग्दर्शन कहा जाता है। अतः दर्शनगुण सम्यग्दर्शन के विकास में सहायक बनता है तथा सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति का प्रत्येक आचरण दर्शनगुण को पुष्ट करता है। मोह के कारण मनुष्य में जड़ता का आवेश बढ़ता है। किन्तु जब मोह कर्म घटता है तो दर्शनगुण और ज्ञानगुण दोनों का विकास होता है। अर्थात् इन गुणों पर आया आवरण हटता जाता है। जड़तारूप निर्विकल्प स्थिति महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है निर्विकल्प अनुभूति या बोध। निर्विकल्प स्थिति तो निद्रा, जड़ता, मूर्छा, अज्ञानता, असमर्थता आदि स्थितियों में भी हो सकती है। किन्तु साधना एवं प्रज्ञाजनित निर्विकल्प अनुभूति मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का कारण बनती है।

लेखक का मन्तव्य है कि ज्ञानावरण कर्म का उपार्जन ज्ञान को आचरण में नहीं लाने से होता है। ज्ञान को आचरण में नही लाना ही ज्ञान का अनादर कहा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त ज्ञान का आदर करना चाहिए। व्यक्ति का निज ज्ञान महत्त्वपूर्ण है। सभी को स्वाधीनता, अमरत्व, प्रसन्नता आदि गुण इष्ट हैं। यह ज्ञान स्वयंसिद्ध एवं निज ज्ञान है। इस ज्ञान का जितना विकास होता जाता है उतना ही व्यक्ति दुःखमुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। आगम में यह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा गया है। इसी से हेय उपादेय का सही बोध होता है। शुद्ध ज्ञान का जितना आदररूप आचरण किया जाता है उतना ही प्राणी मोक्ष के निकट पहुँचता है। सम्यग्ज्ञान नामक अध्याय में श्रुतज्ञान का विस्तृत विवेचन किया गया है। दुःखमुक्ति की साधना में यही ज्ञान उपयोगी बनता है। जो इस ज्ञान से सम्पन्न होता है वह पाप और आस्रव का त्याग कर पुण्य, संवर और निर्जरा की साधना में आगे बढ़ता रहता है। इस साधना में आगे बढ़ना ही सम्यक्चारित्र कहा जाता है। शुभयोग पुण्य है। पुण्य के बिना आध्यात्मिक साधना की भूमिका तैयार नहीं होती। पुण्यार्जन से ही मनुष्य भव, धर्मश्रवण, सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है। यही नहीं, संवर एवं निर्जरा की साधना में भी विशुद्धि रूप पुण्य सहायक है। केवलज्ञान की अवस्था में विशुद्धिभाव चरम सीमा पर होता है।

समस्त कर्मों का क्षय तभी सम्भव है जब नूतन कर्मों का आस्रव एवं बन्ध न हो तथा पूर्वबद्ध कर्म निर्जरित हो जाएं। सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप इसमें सहायक हैं। सम्यक्चारित्र से आस्रव के निरोधरूप संवर होता है एवं सम्यक्तप से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। समस्त साधना संवर एवं निर्जरा की साधना है। इसके लिए पाप प्रवृत्तियों को रोकना होता है एवं आत्मविशुद्धि की ओर बढ़ना होता है। यह विशुद्धि की ओर बढ़ना पुण्यतत्त्व का स्वरूप है, जो संवर एवं निर्जरा में भी सहायक होता है। पंच महाव्रतों, पाँच समितियों एवं तीन गुप्तियों की साधना प्रमुखतः संवर की साधना है एवं तप की साधना प्रमुखतः कर्मनिर्जरा की साधना है। निर्जरा के लिए अनशन आदि छह बाह्य तथा प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तर तपों का विधान है। इन तपों का सूक्ष्म एवं साधनापरक नवीन विवेचन किया है। पूर्वबद्ध कर्मों के उन्मूलन एवं आत्यन्तिक क्षय में आभ्यन्तर तप महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने आभ्यन्तर तप में स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग का पृथक् अध्यायों में विशेष विवेचन किया है। देह को मैं समझना जहाँ सब दोषों का मूल है, वहाँ उससे स्वयं को अतीत अनुभव करना दुःखों एवं दोषों के सर्वथा अन्त का उपाय है।

लेखक ने सम्पूर्ण पुस्तक में अध्यात्म-साधना का निरूपण किया है तथा इसका निरूपण करते हुए जीव एवं अजीव तत्त्व के पारस्परिक भेद को लक्ष्य में रखा है। शुद्ध आत्मा अजीव पुद्गल के सम्बन्ध से रहित होती है तथा संसारी आत्मा अजीव पुद्गल के सम्बन्ध से युक्त होती है। पुद्गल एवं पौद्गलिक पदार्थों को लेखक ने परिवर्तनशील एवं नश्वर निरूपित किया है तथा आत्मा अथवा जीव को अविनाशी तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया है। यही आध्यात्म साधना का मूल रहा है। बाह्य पदार्थों की भाँति शरीर भी पुद्गलों से निर्मित है अतः उससे भी अपने को पृथक् समझने एवं अनुभव करने पर साधना सरल हो जाती है तथा आत्मा के जो गुण जड़ पदार्थ से सम्बन्ध के कारण आवरित अथवा बाधित हो रहे थे, वे जड़ से अपने को पृथक् अनुभव करने पर प्रकट हो जाते हैं। चेतना पर जड़ का प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो जाना ही मुक्ति या मोक्ष है। इसे दुःखों से मुक्ति भी कह सकते हैं तथा समस्त अष्टविध कर्मों से मुक्ति भी कह सकते हैं।

अष्टविध कर्मों में भी मोहकर्म प्रमुख है। जो साधक मोह को जीत लेता है, अर्थात् उसका क्षय कर देता है वह मुक्ति का अनुभव कर सकता है। इसे असम्भव मानकर भविष्य के लिए टालना साधक के लिए उचित नहीं है। जो मोह एवं राग का त्याग का कर सकता है वह वीतरागता का अनुभव कर सकता है। वीतरागता ही

मुक्ति का स्वरूप एवं सोपान है। जिसे जरा-मरण से रहित होना है, अजरत्व-अमरत्व को प्राप्त करना है, पूर्ण ज्ञानी बनना है, सदा के लिए पूर्ण सुखी होना है, निर्भय और निर्मल होना है, पूर्णता का वरण करना है, अभाव को सदा के लिए समाप्त करना है, गुणों की सर्वोच्चता से सम्पन्न होना है, हीनता-महानता के भेद से दूर होना है, वह मुक्ति के पथ पर चरण बढ़ाता है। वह अनन्त औदार्य, अनन्त सम्पन्नता, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य एवं अनन्त सामर्थ्य से युक्त हो सकता है। जीवनकाल में उसका चारित्र सर्वोत्कृष्ट होता है तथा मुक्ति प्राप्ति के पश्चात् पुनः कभी दुःख से आक्रान्त नहीं होता। वह सातावेदनीय से मिलने वाले सुख का आकांक्षी नहीं होता, अपितु कर्ममुक्त होने के कारण सदैव अव्याबाध सुख से सम्पन्न होता है।

आदरणीय श्री लोढ़ा साहब की अध्यात्म-साधनापरक अनेक पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं, उसी शृंखला में मोक्षतत्त्व पुस्तक पाठकों को अर्पित की जा रही है। एकाग्रता एवं अनाग्रह बुद्धि से पढ़ने पर यह पुस्तक निश्चित ही साधनों एवं विद्वानों का सम्यक् मार्गदर्शन कर सकेगी।

❑❑❑

लेखक परिचय



कन्हैयालाल लोढ़ा का जन्म धनोप (जिला-भीलवाड़ा, राजस्थान) में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी संवत् १९७९ में हुआ। आप हिन्दी में एम.ए. हैं तथा साहित्य, गणित, भूगोल, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, अध्यात्म आदि विषयों में आपकी विशेष रुचि है।

आपकी लघुवय से ही सत्य-धर्म के प्रति अटूट आस्था एवं दृढ़निष्ठा रही है। आपने जैन-जैनेतर दर्शनों का तटस्थापूर्वक गहन मन्थन कर उससे प्राप्त नवनीत को ३०० से अधिक लेखों के रूप में प्रस्तुत किया है। आपका चिन्तन पूर्वाग्रह से दूर एवं गुणाग्राहक दृष्टि के कारण यथार्थता से परिपूर्ण होता है।

विज्ञान और मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में 'जैन धर्म दर्शन' पुस्तक पर आपको 'स्वर्गीय प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति पुरस्कार', 'दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति' पुस्तक पर 'आचार्य श्री हस्ती-स्मृति-सम्मान पुरस्कार', प्राकृत भारती अकादमी द्वारा 'गौतम गणधर पुरस्कार', साहित्य-साधना पर 'मुणोत फाउण्डेशन पुरस्कार' तथा 'गणेशलाल ललवानी पुरस्कार' से सम्मानित किया जा चुका है।

प्रस्तुत 'जैनतत्त्व सार' कृति के अतिरिक्त आपकी निम्नलिखित प्रमुख कृतियाँ प्रकाशित हैं:

१. दुःख-मुक्ति : सुख प्राप्ति, २. जैन धर्म : जीवन धर्म, ३. कर्म सिद्धान्त, ४. सेवा करें : सुखी रहें, ५. सैद्धान्तिक प्रश्नोत्तरी, ६. जैन तत्त्व प्रश्नोत्तरी, ७. दिवाकर रश्मियाँ, ८. दिवाकर देशना, ९. दिवाकर वाणी, १०. दिवाकर पर्वचिन्तन, ११. श्री जवाहराचार्य सूक्तियाँ, १२. वक्तृत्व कला, १३. वीतराग योग (लघु), १४. जैनागमों में वनस्पति विज्ञान, १५. जीव-अजीव तत्त्व, १६. पुण्य-पाप तत्त्व, १७. आस्रव-संवर तत्त्व, १८. निर्जरा तत्त्व, १९. सकारात्मक अहिंसा, २०. सकारात्मक अहिंसा (शास्त्रीय और चारित्रिक आधार), २१. दुःख रहित सुख, २२. ध्यान शतक, २३. वीतराग योग, २४. कायोत्सर्ग, २५. जैन धर्म में ध्यान, २६. वीतराग ध्यान की प्रक्रिया, २७. पातञ्जल योगसूत्र : अभिनव निरूपण, २८. बन्ध तत्त्व, २९. विपश्यना, ३०. मोक्ष तत्त्व, ३१. प्रेरक रूपक एवं गद्य काव्य ३२. **Boundless Bliss** (मुद्रित हैं)

१. अन्तर जानें, २. अमनस्क योग, ३. नवतत्त्वसार, ४. आचार्य श्री जवाहरलालजी की दृष्टि में धर्म, ५. भारत की पुरातन साधना-पद्धतियों में ध्यान, कृतियाँ मुद्रणाधीन हैं।

अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् के अध्यक्ष होने के साथ आप श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों के आगम-मर्मज्ञ जैन विद्वान् हैं। आप एक उत्कृष्ट ध्यान साधक, चिन्तक, गवेषक हैं। प्रस्तुत पुस्तक आपके जीवन, चिन्तक एवं सत्य दृष्टि का एक प्रतिबिम्ब है।

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
सोसायटी फॉर साइन्टिफिक एण्ड एथिकल लिविंग
13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com
Web-Site : prakritbharati.com

ISBN 978-93-81571-38-5
9 789381 571385
₹ 250.00